अलंकार-मीमांसा

[अलंकारसर्वस्व के सन्दर्भ में अलकार-सिद्धान्त का अनुसन्धान]

डा० रामचन्द्र द्विवेदी
एम० ए०, पीएच० डी०,
साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
नैपाली खपरा, वाराणसी-१
बांकीपुर, पटना-४

प्रथम संस्करण : १९६५
मूल्य : सोलह रुपये

उद्योगशाला प्रेस किंग्सवे, दिल्ली-९ में मुद्रित तथा सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित।

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व और उसके टीकाकारों के विशिष्ट सन्दर्भ में अलंकार के अनुसन्धान का एक अंश है। मूल ग्रन्थ का आलोचनात्मक संस्करण, हिन्दी अनुवाद तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती की अभी तक अप्रकाशित सजीविनी टीका का प्रकाशन इसका दूसरा अंश है। तीसरा अंश 'स्टडीज इन दि अलंकार-शास्त्र' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र, विशेषत: अलंकारसिद्धान्त, के सम्बन्ध में मेरे अनुसन्धान की सम्पूर्ण सामग्री तीन परस्पर निरपेक्ष-सापेक्ष ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित हो रही है।

इस शोधग्रन्थ मे चार अध्याय हैं। प्रथम में राजानक रुय्यक तथा उनके टीकाकारो के व्यक्तित्व और कृतित्व का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रसग मे अलंकारसर्वस्व के लेखक का प्रश्न, रुय्यक की अन्य कृतियो तथा उनके टीकाकारो की प्रकाशित एव अप्रकाशित कृतियों का विवरण, काव्यप्रकाश तथा अलकाररत्नाकर से सवाद एव विसम्वाद भी विवेचित है तथा दो अप्राप्य ग्रन्थो—अलकारसार एव अलकारभाष्य—का अलकारमीमासा मे योगदान आकलित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अलकार के सम्बन्ध में भामह आदि आचार्यों के मत का विवेचन है तथा अन्य काव्यतत्त्वों के साथ उसके सम्बन्ध का निर्धारण किया गया है। इस प्रसग में काव्य के स्वरूप-विवेचन तथा साहित्यशास्त्र के विभिन्न प्रस्थानों के सम्बन्ध मे दार्शनिक दृष्टि से विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे अध्याय में अलकारो के क्रमिक विकास की रूपरेखा, उनका शब्दार्थोभय-विभाग तथा वर्गीकरण का ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचन है। अन्त में अलंकारो के निरूपण-क्रम के सम्बन्ध मे कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

प्राय: सभी अलकारों का उल्लेख अथवा परिचय इस ग्रन्थ के विभिन्न सन्दर्भों में दिया गया है (देखिए—अलंकारानुक्रमणिका)। सभी अलंकारों की पार्थक्येन मीमासा ग्रन्थ के कलेवर को अत्यधिक बढ़ा देती, अत: केवल उपमा-मूलक अलंकारों की विशिष्ट मीमांसा चतुर्थ अध्याय में दी गई है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ का लगभग आधा भाग है।

अलंकारसर्वस्व के सभी अलकारों का निर्गलितार्थ श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपनी अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका में दिया है। यह अभी तक अप्रकाशित थी। इसका आलोचनात्मक संस्करण तथा अनुवाद अनुबन्ध में दिया गया है ताकि एक प्राचीन कृति का अलंकारशास्त्र के अनुसन्धाताओं को परिचय भी मिल जाए, साथ ही अलंकारसर्वस्व में प्रतिपादित सभी अलंकारों का अनुवाद के माध्यम से निरूपण भी हो जाए।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ की विशेषता तथा उपलब्धि की चर्चा मैं अधीत पाठकों पर छोड़ दे रहा हूँ। अलंकारशास्त्र के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य मे अलंकार-मीमांसा— अलंकारसर्वस्व के सन्दर्भ मे अलकार के स्वरूप और सिद्धान्त का अनुसन्धान— जिसे पृष्ठ-शीर्षकों (folio-headings) में मैंने अलंकारसर्वस्व-मीमांसा कहा है—अनेक नए या अपरिचित तथ्यों का प्रतिपादन करती है। विमर्शिनी और समुद्रबन्ध की व्याख्या के अतिरिक्त अलकारसार, अलकारभाष्य, अलकार-रत्नाकर, सजीविनी टीका आदि के मतों की मीमासा पाठक को प्रथम बार यहाँ मिलेगी। अलकार एक प्रतीति है। उस प्रतीति का मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक विश्लेषण करने का मैंने प्रयास किया है। इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है इसके निर्णय का अधिकार विद्वान् पाठको को है, मुझे नही।

इस ग्रन्थ में पाठक को संस्कृत के उद्धरण बहुलता से मिलेंगे। संस्कृत का लेखक 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की भावना से सदा प्रेरित रहता है। उसकी मौलिकता की जड़ें सुदूर अतीत में होती है; वह अतीत और वर्तमान में, प्राचीन और नवीन में, व्युत्पत्ति और प्रतिभा में सदा समन्वय खोजने का अभ्यस्त रहा है। उद्धरणो की बहुलता का एक प्रकृत कारण भी है। इस ग्रन्थ का मूल स्वरूप शास्त्रीय समीक्षा का है। स्वभावतः अलंकारसर्वस्व तथा उसकी टीकाओं के उद्धरण देना अधिक आवश्यक और अपेक्षित हो जाता है। इनसे यदि पाठक को कुछ असुविधा होगी तो उसे अपना निर्णय लेने की स्वतन्त्रता और सुविधा भी बनी रहेगी। हिन्दी का पाठक मूल के उद्धरणों से लाभान्वित होगा, इसका मुझे विश्वास है।

मैं प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर, भूतपूर्व उपकुलपति, लखनऊ विश्व-विद्यालय तथा वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, के प्रति श्रद्धानत हूँ जिनके निर्देशन में मुझे अध्ययन, अनुसन्धान और अध्यापन का सौभाग्य मिला था।

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र तथा काश्मीर शैवदर्शन के अप्रतिम विद्वान्

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मुझे वैदुष्य-साधना की सदा प्रेरणा दी है। इस अवसर पर मैं उन्हें अपने प्रणाम अर्पित करता हूँ।

काशी में रहकर जिन गुरुजनों से मैंने साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया है उनमें स्वर्गीय महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्ते, प्रो० मुकुन्दशास्त्री खिस्ते तथा पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते का नाम सादर उल्लेखनीय है।

भारतीय साहित्यशास्त्र को अपनी प्रतिभा से आलोकित करनेवाले सहृदय मनीषी डा० नगेन्द्र का तथा अन्य विद्वानो का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस शोधग्रन्थ के सम्बन्ध मे अपनी अमूल्य सम्मति व्यक्त की है।

मैं अपने प्रकाशक लाला सुन्दरलाल जी जैन को कितना धन्यवाद दूं! वे न केवल हमारे समग्र अनुसन्धान-कार्य का प्रकाशन कर रहे है अपितु इसके लिए मुझे सदा प्रेरित भी करते रहते हैं।

और अन्त में, कमला को।

--रामचन्द्र द्विवेदी

दिल्ली विश्वविद्यालय,
नेहरू स्मृति दिवस, १९६५

वसुधावलयविभूषणकाश्मीरधराविभूषणीभूतः ।
सूक्तिविभूषणनिपुणः श्रीमानाचार्यरुय्यको जयति ॥

*   *   *

रसभेदं गतखेदं मतिहंसी वेद यस्य शिवभावा ।
स जयति जयरथनामा गुणगणधामा सुधीन्द्रमूर्धन्यः ॥

*   *   *

रुय्यक-जयरथ-प्रमुखैराचार्यैर्या निभालिता सरणिः ।
तामनुसृत्य प्रवृत्ता तद्गीःपूता कृतिर्जयति ॥

*   *   *

नास्ति प्राच्यैरलंकारकारैराविष्कृतं न यत् ।
कृतिस्तु तद्वचःसारविमर्शव्यसनादियम् ॥

—रामचन्द्र द्विवेदी

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

राजानक रुय्यक तथा उनके टीकाकार

द्वितीय अध्याय

अलंकार तथा अलंकार्य

तृतीय अध्याय

अलंकारों का विकास तथा श्रेणीविभाग

चतुर्थ अध्याय

उपमामूलक अलंकार

अनुबन्ध

संकेताक्षर

अ० उ०	—अलकारोदाहरण ।
अभि० भा०	—अभिनवभारती ।
अ० र०	—अलंकाररत्नाकर ।
अ० स०	—अलकारसर्वस्व ।
अ० सू०	—अलकारसूत्र (रुय्यक-कृत) ।
आँफ्रेंट	—Th Anfrecht's catalogus catalogorum i-iii, लेपज़िग, १८९१-१९०३ ।
एनल्स,बी०ओ०आर०आई० Annals, B.O R .I.	—एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।
एका०	—एकावली ।
एन० सी० सी० N C.C	—New Catalogus Catalogorum, न्यू कैटालोगस कैटालोगोरम ।
औ० वि० च०	—औचित्यविचारचर्चा ।
का० अ०	—काव्यालकार ।
का० अ० स०	—काव्यालकारसग्रह ।
का० प्र०	—काव्यप्रकाश ।
का० प्र० सं०	—काव्यप्रकाशसकेत ।
का० मा०	—काव्यमाला ।
काव्यमी०	—काव्यमीमांसा ।
का० अ० सू०	—काव्यालंकारसूत्र ।
का० मी० (काव्यमी०)	—काव्यमीमांसा ।
काव्यानु०	—काव्यानुशासन ।
काश्मीर रिपोर्ट	—G. Buhler's Detailed Report of a Tour in Search of Sanskrit MSS. in Kashmir, Rajputana and Central India.
चित्रमी०	—चित्रमीमांसा ।
जे० आर० ए० एस० J.R.A S.	—जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जैड० डी० एम० जी० Z. D.M.G.	—Zeitschrift der Deutchen Morgenlandischen Gesellschaft.

प्रथम अध्याय

राजानक रुय्यक तथा उनके टीकाकार

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

प्रस्तुत अध्ययन रुय्यककृत अलंकारसर्वस्व का है। इसके अतिरिक्त इसी नाम से चार और पुस्तकों का उल्लेख मिलता है। श्रीनिवासाचार्य ने संस्कृत-सूचीपत्र[1] मे एक अज्ञातनामा लेखक के नाम से अलकारसर्वस्व का विवरण प्रस्तुत किया है। श्री हर्षोपाध्याय ने विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण का (श्रीगोपालदेव नामक गुणग्राही प्रतिपालक के लिए) शब्दान्तर में संक्षेप इसी नाम से किया था। इसी नाम का तीसरा ग्रन्थ श्री केशवमिश्र का लिखा हुआ है। इसमें विशेषतः अलंकार तथा अलकारशेखर में आए अन्य अनेक विषयों का विशद विवेचन किया गया था।[2] मल्लिकभट्ट, उपनाम हेमाद्रि, ने रघुवश की अपनी टीका में प्रभाकरप्रणीत अलंकारसर्वस्व का उल्लेख किया है। इन चारों का समय रुय्यककृत अलकारसर्वस्व से बहुत बाद का है, जो प्राचीनता, प्रसिद्धि, महत्ता तथा प्रभाव की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अलकारसर्वस्व या केवल सर्वस्व का नाम लेने से रुय्यक की कृति का ही सभी को अनायास स्मरण हो आता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन अंग हैं—सूत्र, उन पर वृत्ति तथा उदाहरण।[3] अलंकारसर्वस्व के सूत्रों की आख्या सर्वस्वसूत्र, अलंकार-सर्वस्वसूत्र, तथा

---

१. List of Sanskrit Manuscripts in Private Libraries of Southern India by Gustav Oppert, No. 3104.

२. (क) प्रयोजनं यथैतासां रसमैत्री च विस्तरः।
तथालंकारसर्वस्वे समपञ्चमदर्शयम् ॥—अलकारशेखर, पृ० १०।
(ख) यथैतेषां मिथो भेदः परेषां नातिरेकिता।
तथालंकारसर्वस्वे समपञ्चमदर्शयम् ॥ —वहीं, पृ० ३१।

३. शास्त्रीय लक्षण के अनुसार उदाहरण को वृत्ति का अंग मानकर सामान्य-तया ग्रन्थ का विभाग दो अंगों में माना जा सकता है।

त० आ०	—तन्त्रालोक।
तरल	—एकावली पर तरल टीका।
ध्वन्या०	—ध्वन्यालोक।
नमिसाधु	—रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु की टीका।
ना० शा०	—नाट्यशास्त्र।
नि० का०	—निष्कृष्टार्थकारिका।
नि० सा०	—निर्णयसागर (संस्करण)।
पीटर्सन रिपोर्ट	—P. Peterson's Reports on the Search of Sanskrit MSS.
प्रतापरुद्र०	—प्रतापरुद्रयशोभूषण।
रत्नापण	—प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका।
रसग०	—रसगंगाधर।
रा० त०	—राजतरंगिणी।
लघुवृत्ति	—काव्यालंकारसंग्रह पर इन्दुराज की टीका।
व० जी०	—वक्रोक्तिजीवित।
विमर्शिनी	—अलंकारविमर्शिनी।
विवृति	—काव्यालंकारसंग्रह पर तिलक की विवृति।
वी०आई०जे० V.I.J.	—विश्वेश्वरानन्द इन्डोलोजिकल जर्नल।
वृ०	—वृत्ति।
वि०	—विमर्शिनी।
व्य० वि०	—व्यक्तिविवेक।
व्य० वि० व्या०	—व्यक्तिविवेकव्याख्यान अथवा व्यक्तिविवेकविचार।
संजी०	—संजीविनी।
सं० प्र०	—संप्रदायप्रकाशिनी।
स० क०	—सरस्वतीकण्ठाभरण।
समुद्र०	—समुद्रबन्धव्याख्या।
सरस्वती०	—सरस्वतीकण्ठाभरण।
सर्वस्व	—अलंकारसर्वस्व।
सा० चू०	—साहित्यचूड़ामणि।
सा० द०	—साहित्यदर्पण।
सा० मी०	—साहित्यमीमांसा।
सू०	—सूत्र।
हि०	—हिन्दी।

अलंकारसूत्र या केवल सूत्र[1] इन विभिन्न रूपों में है। पहली और तीसरी आख्या वृत्ति के साथ सम्बन्ध की सूचक है। दूसरी 'निजालंकारसूत्र' या 'गुर्वलंकारसूत्र' में आए 'अलंकारसूत्र' शब्द के आधार पर है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि 'काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते' के आधार पर काव्यालंकारसूत्रवृत्ति वामन के ग्रन्थ का नाम है। इन सूत्रो की अलकारसूत्र के रूप में आख्या का प्रमाण सर्वस्व भी उपस्थित करता है—'सूत्रिता अलंकारसूत्रैः सूचिता संक्षेपतः प्रकाशिता'। अलकारसूत्र अलकारो का लक्षण सक्षेप मे प्रकाशित अर्थात् सूचित करने के नाते चरितार्थ सज्ञा है। इनकी सख्या सत्तासी है।[2] इन सूत्रो मे केवल छ सूत्र अलकारलक्षण नही देते हैं।[3] शेष इक्यासी सूत्रो मे पांच शब्दालकार[4], एक चित्रालकार[5] (जिसे उपचारतः शब्दालकार कहा जा सकता है) तथा अन्य पांच सूत्र[6] अलकार -भेदो को सूचित करते हैं। शेष सत्तर सूत्र (जिनमे से दो अ० सू० संख्या ८२ तथा ८३ क्रमशः चार तथा तीन अलकारो का निरूपण कर देते है) पचहत्तर अर्थालंकारो का निर्वचन करते है।

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों का प्रारम्भ यदि भरत के नाट्यशास्त्र से मान लें (जिसकी परम्परा आज के उपलब्ध ग्रन्थ से बहुत प्राचीन है) तो सूत्र तथा श्लोको मे इस शास्त्र का प्रारम्भ माना जाएगा। इसके बाद भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट ने पद्यो मे अलंकारशास्त्र, प्रधानतया अलकारसम्प्रदाय, का विकास किया। वामन ने काव्यालकारसूत्रवृत्ति लिखकर एक नवीन शैली को जन्म दिया। ग्रन्थकार सूत्र का स्वय निर्माण करता है और उनपर अपनी वृत्ति लिखकर स्वरचित और विशेषतया दूसरे कवियो के काव्य से उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी शैली का अनुगमन ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल के अलकारशास्त्रियो ने प्राधान्येन किया है। वामन के ग्रन्थ की रूपशैली में ही

---

१. सा० चू० (द्वितीय भाग) पृ० २०८, २१२, २५५, २५७, २७२, २७३, २७४, आदि।

२. पर्याय (द्वितीय) को अ० तथा नि० संस्करणों में सूत्र न मानकर वृत्ति का अंश माना है, अतः इनके अनुसार सूत्रों की संख्या ८६ है।

३. अ० सू० सख्या १, २, ३, ६, ६ तथा ८७।

४. वहीं ३, ४, ५, ६, तथा ८।

५. अ० सू० १०।

६. वहीं ३६, ५२, ६१, ६७ तथा ८२।

रुय्यक का अलंकारसर्वस्व है। काव्यालंकारसूत्र तथा सर्वस्व के मंगलश्लोकों की द्वितीय पंक्तियों में अन्तर नाममात्र का है। वामन लिखते हैं—

काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।

रुय्यक की पंक्ति इसकी प्रतिध्वनि-सी करती है—

निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते।

विरोध तथा अनन्वय के लक्षण काव्यालंकारसूत्र तथा अलंकारसूत्र दोनों में एक ही हैं।[1]

काव्यप्रकाश पर रुय्यक ने टीका लिखी थी और वे मम्मट के कनिष्ठ समकालीन भी थे। काव्यप्रकाश की अलकार-कारिकाओं तथा रुय्यक के अनेक अलकारसूत्रों में अत्यधिक साम्य है। साधारणतया इनमें यह प्रतीत होता है कि कारिकाओं को न्यूनाधिक रूप में शब्दान्तर में सूत्रित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए वक्रोक्ति, चित्र, अनन्वय, मालादीपक, काव्यलिंग, कारण-माला, अन्योन्य, उत्तर, सार, समाधि तथा एकावली के काव्यप्रकाश तथा अलकारसूत्र के लक्षणों को देखिए। इन आधारों पर यह कहना सभव है कि वामन तथा मम्मट के ग्रन्थों ने सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन तीन अगों में सर्वस्व को लिखने का दिशानिर्देश किया हो। अलकारसूत्रो का काव्यालकार-सूत्र तथा काव्यप्रकाश की कारिकाओं से साम्य है पर अनेक अलकारों में अन्तर भी इतना स्पष्ट है कि रुय्यक के अलकारसूत्रों को अधिक सक्षिप्त, सरल तथा वैज्ञानिक कहना उपयुक्त होगा। वामन के बाद अलकारस्वरूप में अनेक परिवर्तन आ चुके थे जिन्हे विभिन्न अलकारो के लक्षणो मे स्पष्टतया पाया जा सकता है। स्मरण, भ्रान्तिमान्, विरोध, पर्यायोक्त, अनुमान, सूक्ष्म, असगति, अधिक, मीलित, प्रतीप तथा भाविक अलकारों के काव्यप्रकाश तथा अलकारसूत्रों के लक्षणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि इनमें अर्थतः अत्यधिक साम्य होने पर भी, अलंकारनिरूपण की एक निश्चित पद्धति अप-नाने के कारण, कम शब्दों मे रुय्यक के सूत्र अधिक स्पष्ट, सरल और अपने में पूर्ण हैं—उन्हें वृत्ति की अपेक्षा नही। अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति,

---

१. (क) विरुद्धाभासत्वं विरोधः। —का०सू० ४।३।१२, यही अक्षरशः अ० सू० ४० है।

(ख) एकस्योपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः। —का०सू०४।३।४, अ० सू० १२ में 'एकस्य' के बाद केवल 'एव' अधिक है।

पर्याय तथा परिकर जैसे अनेक ऐसे भी अलंकार हैं जिनके स्वरूपनिरूपण की भाषा और शैली में अलंकारसूत्र तथा काव्यप्रकाश की कारिकाओं में अन्तर अधिक है। पुनरुक्तवदाभास, स्वभावोक्ति, श्लेष तथा शेष अन्य अलंकारों के स्वरूप-निर्वचन में भी इन दोनों में भेद है। इस प्रकार इन ग्रन्थों से अलंकार-सूत्र का रूप और शैली मे अनेकत्र अत्यधिक साम्य होने पर भी अनेक अलंकारों के लक्षण भाषा और शैली मे अन्तर है किन्तु अलकारसूत्र की मौलिकता, सदृष्टि और स्वतन्त्र पद्धति पर किसी प्रकार का आघात नही हो पाता। रुय्यक के बाद अलकारसार और अलंकारभाष्य (जो अभी तक अप्राप्य हैं) भी सम्भवतः इसी शैली मे लिखे गए थे।[1] श्री शोभाकर ने अलंकाररत्नाकर में इसी शैली का अनुकरण किया है।[2] इस के सूत्रो के स्वरूप तथा शब्दावली मे अलंकारसूत्र से अधिक साम्य है। विरोध और विपर्यय के लक्षणों में मात्रा-भेद भी नहीं है। वृत्त्यनुप्रास, परिणाम, सन्देह, व्याजस्तुति, श्लेष तथा परिकर अलकारों में एक दो पदो के न्यूनाधिक रूप मे रुय्यक के सूत्रो का अक्षरशः सूत्रण शोभाकर ने किया है।[3] उसके अनेक सूत्रों मे सर्वस्व की शब्दावली से अन्तर अवश्य है, पर अर्थ वही है, जैसे कि चित्र, उपमेयोपमा, व्यतिरेक, उल्लेख, विनोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, परिवृत्तितथा सूक्ष्म अलकारो के सूत्र मे। शोभाकर के जिन अलकारलक्षणो में न्यूनाधिक स्वरूपभेद है उनमे भी रुय्यक के अलकारसूत्र की शब्दावली का ही अनुसरण है। इसका उदाहरण स्मृति, अपह्नुति, पर्यायोक्ति असगति, विशेष तथा व्याजोक्ति अलकारो के सूत्रों की शब्दावली है। ध्वन्युत्तर-काल के अर्वाचीन अलकार-ग्रन्थो मे इस शैली का अनुकरण न होकर अन्य शैलियो का विकास हुआ जिनमें प्राचीन शैलियो का अनुकरण भी था और नवीनता भी।[4] शैली-भेद होने पर भी रुय्यकोत्तर आलकारिकों ने अलकार-

१. इसी अध्याय में देखिए—'अलंकारसार तथा अलंकारभाष्य।'

२. इसमें अन्तरश्लोक का एक और अंग है। वृत्ति में प्रकट किए गए अपने मन्तव्य को समासतः प्रस्तुत करने के लिए अन्तरश्लोक या परिकरश्लोक लिखे जाते हैं।

३. जैसे कि वृत्त्यनुप्रास के सूत्र में अ० र० में 'एव' का अधिक प्रयोग है। सन्देह के लक्षण में अ० सू० के 'विषयस्य' के स्थान पर 'तस्य' का प्रयोग किया गया है।

४. उदाहरण के लिए—चन्द्रालोक की शैली, साहित्यदर्पण की शैली तथा रसगंगाधर की शैली, भिन्न शैलियां हैं। प्रथम में लक्षण और उदाहरण

लक्षणों में प्रायः उसी पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग किया है जिसका विकास सर्वस्व के समय तक हो चुका था। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव तथा जगन्नाथ आदि के अलकारलक्षण के श्लोक, कारिकाएं अथवा सूत्र रुय्यक द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं।

अलंकारसूत्रों की विशेषताएँ

सूत्र का प्रसिद्ध लक्षण है—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम् सम्यक् संसूचितार्थं यत् तत् सूत्रमिति कथ्यते। सूत्रकार रुय्यक ने अपने अलंकारसूत्र मे अलकारलक्षण के अतिरिक्त अलंकारों के वर्गीकरण और क्रम की सूचना दी है। इन सूत्रो में अनेक पारिभाषिक तथा अप्रसिद्धार्थ शब्दों के प्रयोग से, उनके सुबोध के लिए, व्याख्या की आवश्यकता अवश्य है पर साथही काव्यप्रकाश की कारिकाओं या अलकाररत्नाकर के सूत्रों की भांति उनमे वृत्ति-सापेक्षता अधिक नही है। प्रत्येक सूत्र प्रकरणसगति के साथ अलंकार के लक्षण, उसके वर्गीकरण और क्रम का निर्देश करने के लिए पूर्ण है। काव्यप्रकाश की भाषा-सी न तो उनमे दुरवगाहता है और न अपूर्णता। सूत्रशैली में होने के नाते भाषा का गठी होना, प्रतिपादन का अल्पाक्षर होना, स्वाभाविक है; पर उससे इस प्रकार की गुत्थियाँ नही पडती, जिन्हें सुलझाने में अर्थ का अनर्थ हो अथवा निश्चित या समजस अवधारण ही सभव न हो सके। सरलता, क्रमिकता, पूर्णता और सुबोधता अलकारसूत्र के आपातरमणीय गुण है। अलंकार-स्वरूप का सक्षेप मे लक्षण करने के लिए उपयुक्त शब्दावली का सृजन तथा चयन इनका अमूल्य उपहार है। कतिपय नवीन अलंकार, अलकार-भेद तथा अलंकार-स्वरूप के भेद की उद्भावना मे इनकी मौलिकता है। काव्यप्रकाश पर साहित्य-चूड़ामणि लिखनेवाले भट्टगोपाल ने इन सूत्रो का प्रायः प्रत्येक अलकार पर उल्लेख किया है। जहाँ एक ओर शोभाकर, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ आदि आलकारिक ग्रन्थकारो ने काव्यप्रकाश से अधिक अलंकारसूत्र का अनुसरण किया है, वहां मल्लिनाथ, कुमारस्वामी तथा राघव-भट्ट जैसे उद्भट टीकाकारो ने इनका यथोचित उपयोग और उल्लेख किया

एक ही श्लोक में रखे गए हैं, द्वितीय में श्लोकबद्ध कारिकाएं हैं, तृतीय में लक्षण नव्यन्याय की भाषा में डुबोए सूत्रों में है, व्याख्या विशद और विवेचनापूर्ण है तथा उदाहरण स्वरचित हैं।

१. देखिए इस प्रबन्ध का अध्याय 'अलंकारों का विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपण क्रम।'

है। अलंकारविशेष के स्वरूपनिर्वचन में, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं, काव्यप्रकाश की कारिकाओं से अधिक रुय्यक के अलंकारसूत्रों का प्रभाव उत्तरकालीन आलंकारिकों पर है। अलंकारों के संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट और तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से अलंकारसूत्रों की समता किसी से भी नहीं की जा सकती—

न परैरीदृशि सूत्राणि कृतानि ।—वि०, पृ० ३

वृत्तिभाग

अलंकारसर्वस्व का महत्त्व सूत्रों पर लिखी गई संक्षिप्त व्याख्या से है जिसने इस ग्रन्थ को 'सर्वस्व' नाम दिया। मंगलपद्य के 'वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते' से स्पष्ट है कि व्याख्या का स्वरूप वृत्ति का है।[1] वृत्ति वह संक्षिप्त व्याख्यानपद्धति है जिसमें सूत्रों के अनेक अनवगत[2] विषयों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।[3] अलंकारसूत्रों का वृत्ति द्वारा केवल सार या तात्पर्य ही न लिखकर अगर कहीं विस्तृत व्याख्या शैली या भाष्यशैली अपनाई जाती तो ग्रन्थ का कलेवर चाहे जितना विशाल होता किन्तु जयरथ के शब्दों में व्याख्याकार पार न पा पाता—अन्यथा हि कथनमेषां बहुनापि ग्रन्थेन पारं न यायात्। —वि० पृ० ३

---

१. वृत्तिरूपेण सन्दर्भेण—सजी० पृ० ३।

२. वृत्त्या अनवगतपदार्थविवरणेन—समुद्र० पृ० ३।

३. सूत्रमात्रस्य या व्याख्या सा वृत्तिरभिधीयते। वृत्ति का यह प्राचीन लक्षण है। इसके 'मात्र' पद का महत्त्व कालक्रम से कुछ कम हो गया। वृत्ति के निम्नलिखित लक्षणों से सर्वस्व का स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी—

(अ) सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः। —हरदत्त की पदमंजरी।

(ब) सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः।—का० मी० अ० २।

(स) सूत्रार्थे विवरणं वृत्तिः।—कलापव्याकरण।

वृत्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्य का अध्याहार हो। प्रदीपकार कैयट के अनुसार वृत्तिकार को विषय का अधिकार (जैसा कि रुय्यक ने प्रारम्भ में बताया है) तथा उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति का निर्देश करना चाहिए। वृत्तिकार को क्या नहीं करना चाहिए इसका निरूपण करते हुए कुमारिल ने कहा है कि वृत्ति में अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए, और जहाँ तक संभव हो सूत्र का प्रसिद्ध अर्थ ही बताना चाहिए—

प्रसिद्धहानिः शब्दानामप्रसिद्धार्थकल्पना।
न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसम्भवे॥—तन्त्रवार्तिक १-१-१।

अभिख्या

वृत्तिभाग का नाम अलंकारसर्वस्व है। रुय्यक ने स्वयं इस नाम का निबन्धन ग्रन्थ के किसी भाग मे नहीं किया है, किन्तु यह नाम इस ग्रन्थ की सभी पुष्पिकाओं में मिलता है। सहृदयलीला की पुष्पिका में रुय्यक को अलंकारसर्वस्वकृत् कहा गया है। दाक्षिणात्य पाठपरम्परा में प्रचलित श्लोक तो स्पष्टत: इसकी संज्ञा अलकारसर्वस्व घोषित करता है—

सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्।

परवर्ती आलंकारिको मे इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि अलंकारसर्वस्व[1] और केवल सर्वस्व[2] इन दो रूपो मे हुई। जयरथ तथा चक्रवर्ती ने इस ग्रन्थ की आख्या अलकारसर्वस्व के रूप में स्पष्टत: बताई है[3]। इसी के अनुसार ग्रन्थकार का अलकारसर्वस्वकार[4] या अलकारसर्वस्वकृत् तथा सर्वस्वकार[5] आदि के रूपो में आलकारिको ने उल्लेख किया है।

अलंकारसर्वस्व की विशेषताएँ

आलकारिकरूप में रुय्यक के यश.शरीर का सर्वस्व अलंकारसर्वस्व है। किसी विषय के अधिकारी विद्वान् की भाषा मे गाम्भीर्य, सयम और समास के गुण सहज होते हैं। वामन और आनन्दवर्धन की प्रतिपादन-शैली मे जो विश्वास और प्रौढिमा है वही सर्वस्व की शैली मे है। युगों की अलकारचिन्तना के

---

१. प्रतापरुद्र० पृ० २६०, ३३४। रत्नापण, पृ० १३४, ३७६, ३८३, ४०३, ४०५ तथा ६४२। तरल, पृ० २६६। रसग० पृ० २५८, ४४३।

२. रत्नापण, पृ० ४२४, ४४६ आदि। रसग० पृ० ६६४ आदि।

३. (क) तदभिधायक चेदमलंकारसर्वस्वाख्यं प्रकरणम्। —वि० पृ० ३।
(ख) काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च—सजी०।

४. देखिए एका० पृ० १५०। रत्नापण, पृ० ५४, ३३७, ३७६। तरल, पृ० २१, ३१-२, १८३, १८७, २३२, २३७, २५७, २६१, २६२। रसग० (बनारस) पृ० ३१७, ३२६, ३५६, ४३७, ४६६, ५४०, ५५६, ५५६, ५६६, ६०८, ६४७, ६५१, ६५६, ६७५, ६७७, ६६१-२, ६६६, ७५२ आदि। सं० प्र० (द्वितीयभाग) पृ०३१७।

५. रत्नापण, पृ० ३४१, ५४५, ३५३, ४१५, ४३६। तरल, पृ०-२६१-६३, २७१, ६५५ तथा ६८८।

नवनीत को विज्ञ अध्येता के समक्ष रखना, अपने वैयक्तिक चिन्तन का योग, आक्षेप-प्रत्याक्षेप की कालिमा में न पड़कर, अधिकारी स्वर के साथ विषय-विवेचन इन सभी दृष्टियों से सर्वस्व का स्थान कोई दूसरा ग्रंथ नहीं ले सकता है। यही कारण है कि अर्वाचीन सभी ग्रन्थों पर उसका प्रभाव पड़ा है। सभी अलकारों के संक्षेप में किन्तु गम्भीर और स्पष्ट स्वरूप-निरूपण की दृष्टि से अलंकारसर्वस्व की महत्ता प्राचीन सभी अलकार-ग्रन्थों से अपनी निजी विशेषता रखती है। जयरथ का तो कथन है कि ग्रन्थ का विस्तार करने पर भी दूसरा आचार्य इतना सुन्दर विवेचन न कर सका है—

एवं ग्रन्थसंक्षेपेणापि सर्वेषामलकाराणां विस्तृत एव यथासम्भवि स्वरूपमुक्तमिति प्राच्यालंकारग्रन्थेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमपि ध्वनितम्। तत्र ग्रन्थविस्तरेणाप्येतत्स्वरूपस्यानभिधानात्। —वि० पृ० २५६

यही क्यों, जयरथ का तो कहना है कि खोजने पर भी अलकारसर्वस्व की भाँति अलकारो का निरूपण करनेवाला दूसरा ग्रथ न मिलेगा—

न ह्येवंविधमेतदभिधायक प्रकरणान्तरमस्ति। तस्यान्विष्यमाणस्याप्युपलम्भयोग्यस्यानुपलम्भात्॥ —वि० पृ० ३

सर्वस्व ने चिरन्तन अलकार-ग्रन्थो से जो नवनीत लिया, उनके मतों की जो विवेचना की है तथा अपना जो योगदान दिया है उनकी चर्चा इस प्रबन्ध मे यथास्थान हुई है। अत: सर्वस्व के सम्बन्ध में यहाँ केवल रुय्यक के वाग्विस्तार की जो विशेषता श्रीचक्रवर्ती ने सर्वस्व मे देखी थी उसका उल्लेख कर दिया जा रहा है —

शब्दन्यासो विषमविषमो दुर्घटार्थव्यवस्था—
व्याप्यव्याप्तिप्रकटनपटुर्न्यायचर्चा गभीरः।
इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्।

समीक्षाशास्त्र की अगभूत अलकारमीमासा का निबन्धन करने के नाते जयरथ तथा चक्रवर्ती दोनो ही टीकाकार इसे प्रकरण-ग्रन्थ कहते हैं। सस्कृत-पण्डित सिद्धान्तग्रन्थ, वादग्रन्थ तथा प्रकरणग्रन्थ इन तीन रूपों में ग्रन्थो का एक विभाजन मानते है। किसी शास्त्र के अगविशेष को लेकर उसका स्वतन्त्र निरूपण करनेवाले ग्रन्थ को प्रकरण कहा जाता है। प्रकरण शब्द का प्राकरणिक अर्थ है प्रबन्ध या ऐसा लघुकाय ग्रन्थ जिसमें किसी एक विषय का संक्षेपत: किन्तु विशद विवेचन हो। साहित्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वो में से

अलंकारों का ही एकान्त विवेचन करने के नाते इसे प्रकरण-ग्रन्थ कहना परिभाषा के अनुकूल है।

काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व

श्री विद्याचक्रवर्ती ने मम्मट के काव्यप्रकाश तथा रुय्यक के अलकार-सर्वस्व पर व्याख्या लिखने का औचित्य 'सचेता' द्वारा दोनों का ही 'अत्यादर' करना माना है—

काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च सचेतसाम् ।
अत्यादरो जगत्यस्मिन्व्याख्यातमुभयं ततः ॥—सजी० (समाप्तिपद्य)

बात है भी सही। मम्मट-रुय्यक के बाद जो कुछ भी अलकार-निरूपण हुआ है उस पर इन दोनो आचार्यों का प्रभाव सुतरां परिलक्षित होता है। इन दोनो ग्रन्थो का मतैक्य तो अनेकत्र है पर मतभेद भी कम उग्र नही है। यद्यपि मम्मट और रुय्यक दोनो ही ध्वनिवादी हैं पर एक 'ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य' है तो दूसरा 'आलकारिकसमाजाग्रगण्य'। अलंकारमीमासा काव्यप्रकाश का एक अग है किन्तु अलकारसर्वस्व का वह प्रतिपाद्य है। स्वभावत रुय्यक ने ध्वनिवाद के काव्यविभाग को एकबार स्वीकारकर विभिन्न अलकारों के निरूपण में ध्वनिवाद के दृष्टिकोण के साथ आलकारिकसमुदाय की चिन्तन-प्रणाली से भी काम लिया है। काव्यप्रकाश का स्थान ध्वनिवाद तथा काव्य-चिन्तन के अन्य अगो के स्वरूप और सम्बन्ध समझने के लिए अद्वितीय है, पर अलकारमीमासा के निपुण निरूपण के लिए सर्वस्व सचमुच सर्वस्व है। यही कारण है कि ध्वनिसम्प्रदाय के प्रबल समर्थक होने पर भी रुय्यक ने रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता तथा द्वितीय उदात्त का भी निरूपण किया जिनका पृथक् अलकार के रूप मे परिगणन करने के लिए काव्यप्रकाशकार ने 'यद्यपि भावोदयभावसन्धिभाव-शबलत्वानि नालकारतयोक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्' द्वारा समर्थ निर्देश किया था।

देश और काल की दृष्टि से मम्मट और रुय्यक इतने पास हैं कि प्रथम का दूसरे पर प्रभाव न पड़ना अस्वाभाविक होगा। रुय्यक के सभी टीकाकार काव्यप्रकाश के सर्वस्व में प्राप्त अनेक उद्धरणों पर एकमत हैं कि 'अन्यैः' 'अन्यत्र' और 'कैश्चित्' के रूप में सर्वस्वकार ने काव्यप्रकाश के ही मत का समर्थन या विरोध में में उल्लेख किया है। सर्वस्व के ही टीकाकार क्यों,

बाद के आलंकारिक, जैसे कि विद्यानाथ तथा विद्याधर और उनके टीकाकार, मम्मट-रुय्यक के इस परस्पर साम्यवैषम्य से भलीभाँति परिचित हैं। काव्य-प्रकाश और सर्वस्व का पूर्वापरभाव न केवल इसलिए निश्चित है कि रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर अपना सकेत लिखा है अपितु सर्वस्व में स्पष्टत काव्यप्रकाश से अक्षरशः उद्धरण भी प्राप्त हैं जिनमे दो विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा॥
—अ०स० (त्रिवेन्द्रम) पृ० १०१

यह उद्धरण काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास से है। दशम उल्लास से भाविक-लक्षण का भी उल्लेख रुय्यक ने किया है —

अतएव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था क्रियन्ते भूतभाविनः तद् भाविकम्' इत्यन्यैर्भाविकलक्षणमकारि।—अ०स० पृ० २३०

काव्यप्रकाश से इन अक्षरशः उद्धरणो को यह मानकर नही टाला जा सकता कि सभवत बाद मे किसी दूसरे व्यक्ति ने इन्हे सर्वस्व मे बढ़ा दिया हो, क्योंकि न तो इसके लिए पाठभेदमूलक प्रमाण है और न टीकाकार किसी प्रकार असहमत हैं। काव्यप्रकाश के अलकारलक्षण, अलकारचिन्तन तथा उदाहरणों से साम्यवैषम्य के अनेक स्थलो पर सर्वस्व की भाषा, 'अन्यै.' 'कैश्चित्तु' और 'उक्त' के रूप मे काव्यप्रकाश की पूर्ववर्तिता का अस्फुट पर नि सदिग्ध प्रमाण उपस्थित करती है। टीकाकारो के साक्ष्य पर काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व के मतभेद का उल्लेख अत्यन्त सक्षेप मे उपस्थित करना अनावश्यक न होगा।

वक्रोक्ति, लाटानुप्रास और श्लेष काव्यप्रकाश के अनुसार शब्दालंकार है, सर्वस्व के अनुसार प्रथम दो अर्थालकार हैं तथा अन्तिम उभयालंकार है। श्लेष मम्मट के अनुसार अलकारान्तर-बाध्य होता है पर रुय्यक के अनुसार वह सर्वालकारापवाद होता है। सर्वस्वकार श्लेष को नियमेन 'अलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतु' मानते हैं तो मम्मट का सूत्र होगा—श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलंकारान्तरम्।

पुनरुक्तवदाभास को मम्मट उभयालकार मानते हैं, किन्तु रुय्यक अर्था-लकार। एक अथवा एक से अधिक व्यजन का एक से अधिक बार सादृश्य, काव्यप्रकाश के अनुसार वृत्त्यनुप्रास का स्वरूप है। इसका लक्षण सर्वस्व के अनुसार भिन्न है। इसके अनुसार केवल व्यंजनसादृश्य, एकधा व्यंजनसमुदाय-

सादृश्य तथा व्यंजनत्रयादि का सादृश्य वृत्त्यनुप्रास है।[1] काव्यप्रकाश मे सन्देहालंकार का स्वरूप है 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः' अर्थात् भेद (निश्चय) की उक्ति अथवा अनुक्ति के रूप से दो प्रकार का संशय सन्देहालकार है। रुय्यक विषय और विषयी की सन्दिह्यमानता में ही सन्देह मानते हैं। प्रकृत के निषेध द्वारा अप्रकृत का साधन, काव्यप्रकाश के अनुसार अपह्नुति का स्वरूप है। सर्वस्व के लक्षण के अनुसार प्रकृत का अपह्नव और अप्रकृत (वस्त्वन्तर) की प्रतीतिमात्र (न कि साधन) अपह्नुति का पर्याप्त लक्षण है। इन दो आचार्यों का अपह्नुतिस्वरूप के सम्बन्ध मे यह भेद काव्यप्रकाश के सान्धिविग्रहिक टीकाकार को भी नहीं मालूम था—नायं विशेषः सान्धिविग्रहिकेण चेतितः। इसीलिए चक्रवर्ती का कहना है कि अलकारमीमांसा की सूक्ष्म दृष्टि पाने के लिए अलकारसर्वस्व का सुपरिशीलन आवश्यक है।[2] मम्मट उपमान से उपमेय के आधिक्य मे व्यतिरेकालकार मानते हैं, किन्तु रुय्यक के अनुसार, दोनो मे से किसी के उत्कर्ष मे यह अलकार सभव है। प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थो मे सर्वस्व का ही इस सम्बन्ध मे अनुसरण सामान्यतया हुआ है।[3] मम्मट और रुय्यक दोनों ने ही ध्वनिवाद का अनुसरण किया है। किन्तु द्वितीय उदात्त को लेकर इन दोनों आचार्यों मे मतभेद है। भामहादि प्राचीन आचार्यों के अनुसार रसभावादि के अगितया वर्णन में रसवदादि अलंकार होते है, पर उनका जहा अगरूप मे वर्णन होता है वहां द्वितीय उदात्तालकार होगा। ध्वनिवाद के अनुसार रसादि व्यग्य होते हैं। उनका अगी-रूप मे निबन्धन होने पर ध्वनि होगी और अग होने पर रसवदादि अलकार, अत द्वितीयोदात्त के लिए ध्वनिवाद मे स्थान ही नही है। यह है सर्वस्व का मत। मम्मट के अनुसार रसवदादि को अलकार न मानकर गुणीभूतव्यग्य का भेद मानना चाहिए[4] और

---

१. एकावली की टीका तरल ने (जिसके अनुसार एकावलीकार ने सर्वस्व का अनुसरण किया है) दोनों का भेद इस प्रकार व्यक्त किया है —
असकृत् तदावृत्तिर्वृत्त्यनुप्रास इत्याह काव्यप्रकाशकारः। अलंकारसर्वस्वकारस्तु तद्विपरीतं सिद्धान्तयाञ्चकार। तन्मतालम्बनेनाह द्वयोर्द्वयो-र्व्यंजनयोर्वयोः कयोश्चित् अन्योन्यमसकृत् सादृश्यं संख्यानियमः।
—एका० तथा तरल, पृ० १८६

२. स० प्र० पृ० २८१।

३. प्रतापरुद्र० तथा रत्नापण, पृ० ४३६।

४. तरल, पृ० ३३१, ३३२।

उदात्त को ही अलंकार मानना चाहिए। ध्वनिवाद के समर्थक होने पर भी रसवदादि और उदात्त को लेकर इन दोनो में मतभेद इस बात का प्रमाण है कि रसवदादि को अलंकाररूप में मान लेना रुय्यक के ध्वनिवादी होने में न तो दोष पैदा करता है और न उन्हें गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत रखने के लिए मम्मट को ध्वनिवादी के रूप में कोई विशेष श्रेय देता है। वस्तुतः रसवदादि का अलकार-रूप में परिगणन ही ध्वनिवाद से अधिक युक्तियुक्त समन्वय है।

काव्यप्रकाश और सर्वस्व में अनेक उदाहरणों को लेकर भी मतभेद है। 'यः कौमारहरः' (अ० स० पृ० १६१, २५०) को मम्मट अस्फुटालंकार का, पर रुय्यक सन्देहसकर का उदाहरण मानते हैं। 'राजन् राजसुता' (अ० स० पृ० १३६) को काव्यप्रकाश में अप्रस्तुतप्रशसा का उदाहरण माना गया है, पर सर्वस्व उसमें पर्यायोक्त मानने के लिए पर्याप्त तर्क उपस्थित करता है।[1] 'विद्व-मानसहंस'–मे काव्यप्रकाश और सर्वस्व द्वारा रूपकविवेचन मे जो विरोध है उसका समन्वय भी सम्भव है[2], किन्तु लिम्पतीव तमोऽङ्गानि ,मे इन दोनों का विरोध स्पष्ट है। उसे दूर भी नही किया जा सकता है।[3] 'त्वत्पादनख-रत्नानां···' मे मम्मट दृष्टान्त मानते हैं तो रुय्यक वाक्यार्थनिदर्शना। जगन्नाथ इन दोनों से सहमत नही है। वे इसे वाक्यार्थरूपक का उदाहरण मानने के लिए युक्ति उपस्थित करते है। ' पथिक्र या इत्थं' मे अन्वयव्यतिरेकवादी मम्मट शब्दशक्तिमूल ध्वनि मानेगे तो आश्रयाश्रयिभाववादीमें रुय्यक उभयशक्ति-मूलध्वनि[4]। 'राजति तटीयमभिहत ···' में काव्यप्रकाश अगांगिभावसंकर मानता है तो सर्वस्व मे एकवाचकानुप्रवेशसंकर मानने के पक्ष में प्रबल अनुरोध है। (अ० स० पृ० २५०) 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' में मम्मट के अनु-सार यौवन-उपमेय के आधिक्य का वर्णन है तो रुय्यक के अनुसार यौवन की न्यूनगुणता का (अ० स० पृ० १०२)। मम्मट तथा रुय्यक के उपर्युक्त मतभेद इस बात के प्रमाण है कि काश्मीर की भूमि में चिन्तन की कितनी स्वतन्त्रता थी और कितनी बहुमुखी प्रवृत्ति से यहाँ के साहित्यशास्त्री साहित्यसागर को

१. देखिए सर्वस्व तथा वि० पृ० १३६। समुद्र० पृ० ११६। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में सर्वस्व का अनुसरण किया है।

२. देखिए सं० प्र० पृ० २८६, रत्नापण, पृ० २४। ३. समुद्र० पृ० ३३।

४. वि० पृ० १३०-१३१

अपने चिन्तनक्षीर से अविरल भर रहे थे। वस्तुतः काव्यप्रकाश और सर्वस्व दोनों ही अलंकार के विद्यार्थी के लिए समान रूप से आदरणीय हैं, यद्यपि यह अवश्य है कि अलंकारचिन्तन की वैशदी और नैपुणी सर्वस्व में अधिक है। अलंकारमीमांसा की इसी सुनियोजित और स्पर्धिनी शृंखला की कड़ियां शोभाकरमित्र का अलंकार-रत्नाकर है और अन्य आचार्यों का अलंकारसार और अलंकारभाष्य। अलंकाररत्नाकर की विशेषता सर्वस्व के प्रतिपद खण्डन-मण्डन में है। उसमे मौलिक चिन्तन की कमी नहीं पर पाण्डित्यपूर्ण खण्डन का स्वर अधिक तीव्र है। अलकारों के इतिहास में अलकाररत्नाकर के महत्त्वपूर्ण योगदान का आकलन अभी शेष है। मैंने इस प्रबन्ध मे इसका यथास्थान उपयोग किया है।

ग्रन्थकार

प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् तथा इतिहासकार इस पर सहमत हैं कि सूत्र और वृत्ति दोनो ही रुय्यक की कृति है। मङ्खक ने इसके सस्कार द्वारा बाद मे अपना केवल साधारण योग दिया है। इस मत की स्थापना सर्वस्व के टीकाकार, अन्य आलकारिक, पाण्डुलिपियो का पाठ-प्रामाण्य तथा रुय्यक की कृतियो में प्राप्य साक्ष्य, इन चार भिन्न प्रमाणो के आधार पर की जा सकती है। सर्वस्व के सम्भवतः सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य जयरथ हैं। ये काश्मीर के है जहाँ के रुय्यक थे। साथ ही इनका समय भी उनसे ७५ वर्ष के लगभग ही दूर है। अलकारसर्वस्व के मगलपद्य के द्वितीयार्ध के दो पाठ हैं—

निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते ।

तथा—गुर्वलंकारसूत्राणां ····· ।

जयरथ की विमर्शिनी में प्रथम पाठ ही मिलता है और इस पर उनकी व्याख्या है—

निजेति—परकीयाणां सूत्राणां तात्पर्यकथनानवबोधोऽपि स्यात् ।—वि० पृ० ३

यह स्पष्टतः सूत्र और वृत्ति का कृतित्व एक ही लेखक का मानती है। जयरथ ने इसीलिए 'ग्रन्थकृत्' के रूप में जो अनेक बार उल्लेख किया है उनमें सूत्र और वृत्ति का कृतिकार एक ही व्यक्ति को मान कर है[1]। यही नहीं, वे सूत्र और

---

१. वि० पृ० १, ५५, ७२, ७५-६, १२३, १२६,१२८, १३०, १३१, १३३, १५६, १६०, १६२, १६५, १७३, १८२, १८४, १८६, १९९, १९८, २२८, २५६, २५७ आदि।

वृत्ति दोनों भागों को मिलाकर एक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख[1] करते हैं। यह भी उल्लेख्य है कि जयरथ ने कहीं भी मंखक का किसी रूप में उल्लेख नहीं किया है। सर्वस्व के दूसरे टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी प्रामाण्य एककृतित्व के सम्बन्ध में नि.सदिग्ध है। प्रारम्भ मे ही उन्होंने लिखा है—

रुचकाचार्योपज्ञे सेयमलंकारसर्वस्वे—

सर्वस्व के मगलपद्य के व्याख्यान मे अलकार-सूत्र और उसकी वृत्ति रुय्यक-रचित ही हैं, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

निजानां स्वेनैव प्रणीतानामलंकारसूत्राणाम्। —सजी० पृ० ३१

सजीविनी के अन्त मे 'इत्थ भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्' पंक्ति इस सन्देह के लिए भी कोई स्थान नही छोडती कि कदाचित् ग्रन्थ के आरम्भ होने के बाद किसी दूसरे ने सहायता की हो। श्रीविद्याचक्रवर्ती की काव्यप्रकाश की टीका सम्प्रदायप्रकाशिनी मे भी इसी मत को समर्थन मिलता है।[2] वृत्ति के साथ ही अलकारसूत्र का उल्लेख सम्प्रदायप्रकाशिनीकार ने 'अलकारसर्वस्वकृत्' के नाम से किया है—

तदुक्तमलंकारसर्वस्वकृता भावोदयभावसन्धिभावशबलताश्च पृथगलकारा।—स० प्र० (भाग १), पृ० २२०।

अलंकारसर्वस्व के तीसरे टीकाकार समुद्रबन्ध, जो समय और स्थान दोनो ही दृष्टियो से रुय्यक से दूर है, सर्वस्व का लेखक मंखुक को मानते है[3]। इनके मत पर सिद्धान्तपक्ष की स्थापना के बाद विचार करना उचित होगा।

आलंकारिकों का साक्ष्य

अलकाररत्नाकार के लेखक शोभाकर ने अलकारसर्वस्व के सूत्र और

---

१. वि० पृ० १२८, २५६-५७।

२. सं० प्र० (द्वि० भाग), पृ० २८६, ३१७, ३७४ ३४८, ४५०।

३. मखुक शब्द मंखक का अशुद्ध रूप है। श्रीकण्ठचरित (३–६३ तथा ७२) में मंखक शब्द मिलता है और उसी में (१–२६) मंख शब्द। राजतरंगिणी में भी मंखक नाम ही मिलता है—
सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलंकारसोदरः।—रा० त० ८, ३३५४।
जल्हण ने सूक्तिमुक्तावली (पृ० १८ तथा १२८) में मंखक के रूप में इनका उल्लेख किया है जो आपाततः अशुद्ध है।

वृत्ति को एक ही कृति मानकर अनेकत्र खण्डन-मण्डन किया है।[1] ये जयरथ से भी पूर्ववर्ती हैं क्योंकि उन्होंने शोभाकर की आलोचना का उत्तर देते हुए रुय्यक के मतों का समर्थन किया है। काव्यप्रकाश पर साहित्यचूडामणि टीका लिखनेवाले भट्टगोपाल श्रीविद्याचक्रवर्ती से प्राचीन हैं।[2] उन्होने रुय्यक के अलंकारसूत्र और वृत्ति का अत्यधिक उल्लेख किया है। इन्होने रुय्यककृत सूत्रों का उल्लेख अलंकारसर्वस्व-सूत्र के रूप मे किया है[3]। वृत्ति के आरम्भ में रुय्यक द्वारा साहित्यशास्त्र के सिंहावलोकन का भट्टगोपाल ने रुय्यक के ही अनुसार अनुवाद भी किया है[4]। सूत्रकार का 'चिरन्तन' के रूप में उल्लेखकर उन्होने उनके सूत्र तथा वृत्ति का भाग उद्धृत किया है, जो स्पष्टत अलकारसर्वस्व से लिया गया है।

चिरन्तना खलु भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेक (अ० सू० २८) इति सूत्रयन्ते। आधिक्यमधिकगुणत्वं यथायोगमुदाहृत्य न्यून-गुणत्वरूप विपर्यय क्षीणः क्षीणा इत्यादावुदाहरन्तो व्याचक्षिरे चन्द्रापेक्षया यौवनस्य क्षीणगुणत्वं शशिबैलक्षण्येन गतस्यापुनरागमनादिति।— (अ० स० पृ० १०२) के आधार पर सा० चू० (द्वि० भाग), पृ० ३१८।

प्रस्तुत उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि भट्टगोपाल के अनुसार सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन भागो का लेखक एक ही व्यक्ति है। शोभाकर तथा भट्टगोपाल के अतिरिक्त, जो क्रमश. जयरथ तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती से पूर्ववर्ती है, अन्य आलकारिक जैसे कि विद्याधर, विद्यानाथ और उनके टीकाकार मल्लि-नाथ[5] तथा कुमारस्वामी[6] एव अर्वाचीन आलकारिक विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित[7]

---

१. अ० र० पृ० ४, २२, ३२-३३, ४७, ५३ इत्यादि।
२. सा० चू० भूमिका, पृ० ४।
३. सा० चू० (द्वि० भाग), पृ० २०४।
४. वहीं, पृ० ४४१–४५०।
५. तरल, पृ० २१, १८६, १८७, २३२, २३७, २४६, २६१, २६२, २६६, ३३१ तथा ३३२।
६. रत्नापण, पृ० ३४१-३६३, ४२५ तथा ४४८, ४५२ वृत्ति भाग के लिए देखिए वहीं, पृ० २८, १३३, १४४, १५६।
७. चित्रमी० पृ० १४, १५, ७२, ७५, ८४, ९०, ९४ तथा ९८। कुवलयानन्द, पृ० ४१, ८३, ९२, ९६, १८४।

तथा जगन्नाथ[1] भी सूत्र और वृत्ति को एक ही आलंकारिक (रुय्यक) की कृति मानकर खण्डन करते हैं। राघवभट्ट ने शकुन्तला पर अपनी टीका मे तथा अन्य अनेक प्राचीन एव अर्वाचीन टीकाकारों ने सूत्र और वृत्ति को एक मानकर उद्धरण दिए हैं। श्लेष के सम्बन्ध में 'निरवकाशत्वात् सर्वालंकारबाधकः' का सिद्धान्त रुय्यक-सम्मत है। अप्पय्यदीक्षित ने मखकादि के मत के रूप में इसका उल्लेख किया है[2]। उद्भट व्याजोक्ति को पृथक् अलकार नहीं मानते थे। रुय्यक उसे भिन्न अलकार मानते हैं। उद्भट का अनुसरण करते हुए रुय्यक ने पहले तो 'आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयम्–'(अ० स० पृ० ८५) मे अपह्नुति का विवेचन किया था किन्तु व्याजोक्ति के लक्षण के अनुसार उपर्युक्त पद्य में सर्वस्वकार के अनुसार, व्याजोक्ति अलंकार होगा[3]। सूत्र, वृत्ति और उदाहरण इन तीनो अंशो में प्राप्य इस विवेचन का अप्पय्यदीक्षित ने रुय्यक के नाम से चित्रमीमासा मे उल्लेख किया है—

> ये तु 'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः' (अ० सू० पृ० २१८) इति व्याजोक्त्यलकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादय.। —चित्रमी० पृ० ८५

उपर्युक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि चित्रमीमांसाकार, सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन तीनो को ही रुय्यक का मानकर चला है। श्लेष के प्रसग मे मंखक के उल्लेख को या तो हम अप्पय्यदीक्षित की भ्रान्ति मान सकते हैं या सम्भव है मखक ने भी अपने गुरु रुय्यक के श्लेष-सम्बन्धी सिद्धान्त को मान्यता दी हो जिससे इनका नाम आलंकारिक-परम्परा में जुड़ गया। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अप्पय्यदीक्षित चित्रमीमासा में सर्वस्व को एक ग्रन्थ मानते हैं और उसका लेखक रुय्यक को। मंखक के एक बार आलकारिक-रूप में उपर्युक्त उल्लेख को छोड़ कर अप्पय्यदीक्षित स्वयं या अन्य कोई आलकारिक इनका उल्लेख आलकारिक के रूप में नहीं करता है। शोभाकर से लेकर जगन्नाथ और उसके बाद तक के आलकारिकों द्वारा रुय्यक की अलंकारसर्वस्वकार मानने की सुदीर्घ और निरवच्छिन्न परम्परा क्रम विश्वसनीय

---

१. रसगं० विशेषतः द्रष्टव्य—पृ० १६३, तथा २००, २०८, ४१२ आदि

२. चित्रमी० पृ० ११।

३. एवं 'आकृष्यादौ' इत्यादौ च लोकात्मवरस्यान्तरप्रक्षेपेणोक्तिखण्डप्रिय-निगूहनस्यैव वाक्यार्थत्वाद् व्याजोक्तिरेव न पुनरपह्नुतिः।-चि०पृ०२११।

नहीं है जो रुय्यक को अलङ्कारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों भागो का लेखक प्रमाणित करती है।

पाठपरम्परा का साक्ष्य

अलंकारसर्वस्व की दो पाठपरम्पराएँ है—एक को उदीच्य और दूसरे को सामान्यतया दाक्षिणात्य कहा जा सकता है। उदीच्य पाठपरम्परा की समस्त पाण्डुलिपियों में 'निजालंकारसूत्राणां' पाठ है और पुष्पिकाओ मे भी अलकार-सर्वस्व के लेखक के रूप में रुय्यक या रुचक का ही उल्लेख है[1]। उदीच्य पाठ-परम्परा की कुछ पाण्डुलिपियाँ ३००-४०० वर्ष प्राचीन है; शारदाग्रन्थलिपि मे हैं तथा काश्मीर की है। उधर दाक्षिणात्य पाठपरम्परा एकरूप नही है। केरलीय ग्रन्थलिपि मे लिखी जिन तीन दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियों के आधार पर अनन्त-शयनम् सस्करण का सम्पादन हुआ है इनमे से केवल एक (गसंज्ञक) पाण्डुलिपि का पाठ 'गुर्वलंकार' ··है किन्तु इसकी पुष्पिका में सर्वस्व का राजानक श्री रुचक की कृति के रूप में ही उल्लेख है। दाक्षिणात्य पाठपरम्परा के अन्त में एक श्लोक अवश्य मिलता है, वह है—

इति मङ्खुको वितेने कश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः।
सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्॥

इस प्रकार दाक्षिणात्य पाठपरम्परा के पास मङ्खुक का कृतित्व मानने के लिए दो प्रमाण हैं—एक तो 'गुर्वलंकार' पाठ तथा दूसरा उपर्युक्त श्लोक। पाठ-प्रमाण का स्वतः कुछ भी महत्व नही है। समुद्रबन्ध ने स्वय इस पाठ की व्याख्या 'गुर्वित्यनेन विवक्षितस्य तात्पर्यस्यावश्यवक्तव्यतां दर्शयति' की है जिसका अभिप्राय है कि ग्रन्थ महत्वपूर्ण होने के नाते व्याख्यायोग्य है। गुरु का अर्थ आचार्य आवश्यक हो तब भी वह किसी व्यक्ति-विशेष का बोध न कराके आचार्य-परम्परा का ज्ञान भी करा सकता है। श्लोकप्रमाण के आधार पर ही कतिपय विद्वानों ने इस कल्पना को जन्म दिया कि मङ्खक ने वृत्ति का निर्माण किया और उसी कल्पना के सहारे 'गुरु' के रूप में श्रीकण्ठचरित (२५ वें सर्ग) में प्राप्य रुय्यक के सन्दर्भ को लेकर 'गुर्वलंकारसूत्राणां' में गुरु से रुय्यक को समझा और इस प्रकार अलंकारसूत्र का लेखक रुय्यक को और वृत्ति (सर्वस्व) का लेखक मंखक को माना। जैसा कि ऊपर अभी सकेत किया गया है 'गुर्वलंकार-सूत्राणां' की 'गुरोर्यानि अलंकारसूत्राणि' यह व्याख्या समुद्रबध तक ने नही दी है।[2]

---

1. देखिए लेखक द्वारा संपादित 'अलंकारसर्वस्व-संजीवनी' में अ० स० की पुष्पिकाएं।
2. समुद्र० पृ० २, तथा पृ० २२८।

यह व्याख्या बीसवीं शती की देन है। जहां तक समुद्रबन्ध का सम्बन्ध है, वह सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही मानता है। सूत्र-वृत्यात्मक कृति का वह 'मंखुकोपज्ञ' 'मंखुकग्रन्थ' तथा 'मंखुककृति' के रूप में उल्लेख करता है। ग्रन्थ के रूप में सूत्र या वृत्ति दोनो में से किसी भी अंग का उद्धरण देता है और ग्रन्थकार(–कृत्) के रूप में मंखक को दोनों ही अंगों (सूत्र और वृत्ति) से सम्बन्ध करता है। वृत्ति-भाग पर टिप्पणी करते हुए समुद्रबन्ध ने विषमसूत्र का उल्लेख वृत्तिकार का ही मान कर किया है—

अस्य विषमस्य सामान्यलक्षणं स्वयमेव वक्ष्यति अननुरूपसंसर्गो हि विषममिति—समुद्र० पृ० १४७

अन्तिम सूत्र पर समुद्रबन्ध की व्याख्या है—

स्वकण्ठेनानुक्तिशंकानिरासाय संक्षेपत इति पदस्यान्वयप्रदर्शनमुखेन व्याचष्टे।—वही पृ० २२७

यह इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देती है कि समुद्रबन्ध की दृष्टि में सूत्र और वृत्ति एक ही व्यक्ति मखुक की कृति है। अस्तु, 'इति मखुको वितेने' इस श्लोक और समुद्रबन्ध के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह मखक को ही सूत्र और वृत्ति का लेखक सिद्ध करेगा। 'गुर्वलंकारसूत्राणां' की नवीन व्याख्या और श्रीकण्ठचरित के सन्दर्भ के आधार पर रुय्यक के शिष्य मंखक को सर्वस्वकृत् मानना उदीच्य और दाक्षिणात्य दोनो परम्पराओ के विरुद्ध होगा। किन्तु क्या एक श्लोक और समुद्रबन्ध के आधार पर यह मान लिया जाए कि रुय्यक का अलकारसर्वस्व से कोई सम्बन्ध नही है और मखक ही उसका एकमात्र लेखक है?

यह मत पाठपरम्परा (उदीच्य से पूर्णतः और दाक्षिणात्य से अंशतः) तथा आलंकारिको और टीकाकारो के साक्ष्य से सर्वथा विपरीत है, अतएव स्वतः बहुत निर्बल है। पर प्रश्न यह अवश्य उठता है कि दक्षिण में मंखक के कृतित्व की परम्परा[1] प्रचलित कैसे हुई? समुद्रबन्ध द्वारा मंखक को सर्व-स्वकार मानना 'इति मंखुको वितेने' आदि श्लोक पर (जो वस्तुतः 'गुर्वलंकार' के पाठभेद के लिए भी उत्तरदायी है) आश्रित है। सर्वस्व के साथ मंखक का सम्बन्ध दो कारणों से हो सकता है। एक तो यह कि रुय्यक के शिष्य होने के नाते उसने विशृंखल पत्रिकाओं में बिखरे पड़े (जैसा कि जयरथ का कथन है)

---

१. समुद्रबन्ध के अतिरिक्त कुमारभद्र नामक लेखक भी मंखक का सम्बन्ध सर्वस्व से स्थापित करता है।

अलंकारसर्वस्व का परिष्कार किया हो। रुय्यक ने स्वयं भी अपने योग्य शिष्य मंखक के काव्य श्रीकण्ठचरित से कुछ उदाहरण[1] सर्वस्व में रखे हैं, जिनके सम्बन्ध में एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि सर्वस्व का परिष्कार करते समय मंखक ने स्वयं ही अपने काव्य से उदाहरणो का समावेश किया हो। इसी सम्भावना के आधार पर 'मदीये श्रीकंठचरिते' इस पाठभेद की व्याख्या संभव है। अपने गुरु की कृति के परिष्कार तथा प्रचार में यह योगदान ही दक्षिण जैसे सुदूर प्रदेश में मंखक के कृतित्व का आधार बना था। इस मत को मान लेने पर 'इति मंखुको वितेने' के 'वितेने' पद का अर्थ भी यही समझा जा सकता है कि मंखक ने अपने गुरु के 'सुकविमुखालकारभूत' अलंकारसर्वस्व का केवल विस्तार ('वितेने') या प्रचार किया था। मंखक काश्मीर के राजा जय-सिंह का मन्त्री था।[2] सान्धिविग्रहिक होने के नाते मंखक का नाम सरलता से दक्षिण में पहुँच गया होगा। वहा के राज्याश्रित आलकारिको ने अलंकारशास्त्र के सुन्दर ग्रन्थ सर्वस्व में मखक के कतिपय पद्य देख कर इसे उनकी ही कृति मान ली हो और तब से यह भ्रान्त परम्परा समुद्रबन्ध के समय तक प्रचलित हो गई। अन्यथा एक भी ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नही है जिससे मखक को सर्वस्व का कर्ता माना जा सके। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मंखक ने अपने गुरु के ग्रथ के सम्पादन, परिष्कार तथा प्रचार द्वारा जो योग दिया वही उन्हें इस ग्रन्थ के लेखक मानने की निर्बल और भ्रान्त परम्परा के लिए उत्तरदायी है।

मखक को यदि सर्वस्वकार मान लिया जाता है तो साहित्यमीमांसा, व्यक्ति-विवेकव्याख्यान, श्रीकण्ठस्तव आदि रुय्यक के अन्य अनेक ग्रन्थों का लेखक मखक को मानना पडेगा। सहृदयलीला की पुष्पिका—'विपश्चिद्वरराजानक-तिलकात्मजश्रीमदालंकारिकसमाजाग्रगण्यश्रीराजानकरुय्यकस्य रुचकापरनाम्नो-ऽलंकारसर्वस्वकृतः'—रुय्यक को अलकारसर्वस्वकार बताती है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह पर रुय्यक के पिता ने विवेक नाम से सक्षिप्त व्याख्यान लिखा है उसमें व्यक्त विचारों का अनुसरण सर्वस्व में मिलता है। व्यक्ति-

---

१. श्रीकंठचरित के २-४६, ५-२३, ६-१६, ६-७६ तथा १०-१० श्लोक अ० स० के क्रमशः पृ० २१, ८७, ६० पर मिलते हैं।

२. सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलंकारसोदरः।
सकण्ठस्याभवत्पृष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया॥—राजतरंगिणी८-३३५४।
देखिए—श्रीकण्ठचरित ३-६६।

विवेकव्याख्यान मे महिम के अनुमतिवाद के खण्डन मे जो तर्कपद्धति अपनाई गई है वही सर्वस्व मे साहित्यशास्त्र के विहगम अवलोकन मे अपनाई गई है। साहित्यमीमासा मे कुन्तक का जो प्रभाव था उसका परिणत रूप अनेकत्र सर्वस्व के अलकारचिन्तन मे मिलता है।[1] इसी प्रकार काव्यप्रकाशसकेत मे रुय्यक ने मम्मट के जिन मतो के खण्डन का सूक्ष्मनिर्देश किया है उसी खण्डनसरणि का अनुसरण और उपवृ हण सर्वस्व मे है। ध्वनिवार के समर्थक अलकारचिन्तक का जो स्वरूप व्यक्तिविवेक के व्याख्यान मे है वही सर्वस्व मे है। इस प्रकार काव्य-प्रकाशसकेत, व्यक्तिविवेकव्याख्यान और सर्वस्व की शैली की ही नही चिन्तन-सरणि की एकात्मता[2] पाठपरम्परा, आलकारिक और टीकाकारो के साक्ष्य के आधार पर निर्भ्रान्ति रूप से सर्वस्व तथा उपर्युक्त अन्य ग्रन्थो का लेखक रुय्यक को ही सिद्ध करती है।

ग्रन्थकार का परिचय

काश्मीर ने भारतीय वाड्मय को सब कुछ दिया है। साहित्य के विभिन्न सम्प्रदाय छन्द, ज्योतिष, व्याकरण तथा विभिन्न दर्शनो की उत्पत्ति या मौलिक विकास शारदापीठ काश्मीर मे हुआ है। रुय्यक का जन्म भी उसी भूमि मे ऐसे समय मे हुआ था जो निश्चित ही साहित्य के सृजन और समालोचन का चूडाकाल है। भारतीय मनीषी अपने वैयक्तिक परिचय के सम्बन्ध मे प्राय मौन रहता है। जो कुछ भी परिचय उससे या उसके शिष्य या टीकाकार से मिलता है वह भी अधिकाशत स्वल्प, स्तुतिमय तथा कवित्वपूर्ण होता है।

सर्वस्वकार रुय्यक का दूसरा नाम रुचक है। काव्यप्रकाशसकेत के द्वितीय प्रारम्भपद्य मे लेखक ने स्वय रुचक नाम दिया है।[3] इसकी पुष्पिकाओ मे भी यही नाम मिलता है।[4] अलकारसर्वस्व की आदर्श पुस्तको की कतिपय

---

१. देखिए— इसी अध्याय का साहित्यमीमांसा शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन।

२. इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन इस अध्याय के 'सर्वस्वकार की अन्य कृतियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत देखिए।

३. काव्यप्रकाशसकेतो रुचकेनेह लिख्यते।

४. इतिश्रीमद्राजानकामलकमम्मटरुचकविरचिते (?) निजग्रन्थ—

पुष्पिकाएँ यही नाम देती हैं। चक्रवर्ती ने रुचक नाम ही दिया है।[1] परवर्ती अनेक प्रसिद्ध टीकाकार या आलंकारिक जैसे कि कुमारस्वामी[2], अप्पय्य-दीक्षित[3], राघवभट्ट[4], रत्नकण्ठ[5] आदि रुय्यक न कहकर रुचक नाम ही देते हैं। वैसे तो सर्वस्व, व्यक्तिविवेकव्याख्यान आदि की पुष्पिकाओं में रुचक के अतिरिक्त रुय्यक नाम भी मिलता है किन्तु सहृदयलीला की पुष्पिका इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

कृतिः श्रीत्रिपश्चिद्वरराजानकतिलकात्मजश्रीमदालंकारिकसमाजाग्रगण्य-श्रीराजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽलंकारसर्वस्वकृतः।[6]

—सहृदयलीला (पिशेल-सम्पादित)

बहुत कुछ इसी आधार पर रुय्यक और रुचक दो नाम अलकारसर्वस्वकार के माने गए है। मखक ने अपने श्रीकण्ठचरित मे इनका उल्लेख रुय्यक के रूप मे ही किया है। इस आधार पर रुय्यक नाम को अधिक प्रामाणिक मान लेना, जैसा कि डा० दे का मन्तव्य है, उचित न होगा। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि रुय्यक उनका लोकनाम था और रुचक साहित्यकार का। यही कारण है कि रुय्यक ने स्वयं और परवर्ती टीकाकारो आदि ने भी अपने ग्रन्थो में विशेषत इसी नाम को अपनाया है। आजकल रुय्यक के नाम से ही इनका उल्लेख होता है। उसी परम्परा का इस लेखक ने भी अनुसरण किया है।

काव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः—अलवर पाण्डुलिपि (पीटर्सनस् सेकेंड रिपोर्ट, पृ० १०६) तथा: समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशसंकेतः। कृती राजानकरुचकस्य—का० प्र० स० ७५।

१. 'रुचकाचार्योपज्ञे' 'रुचकवचसां विस्तरः' सजीवनी में और 'रुचकेन तयोरेव वर्त्मानुसरता' (पृ० ३४७) तथा 'लिखिता रुचकग्रन्थाः सान्धिविग्रहिकेण धिक्'—स० प्र० (द्वि० भाग) पृ० ३४८ आदि स्थलों में रुचक नाम से ही सर्वस्वकार का स्मरण किया गया है।

२. रत्नापण, पृ० ३१३, ३१६,४२५ तथा ४४८।

३. चित्रमी० पृ० ८५।

४. शाकुन्तलम् पर राघवभट्ट की टीका, पृ० १६१, १७१, १९३, (डा० दे० के अनुसार)।

५. अस्यार्थः श्रीराजानकरुचकविरचितालंकारसारिण्याम्।

६. का० मा० संस्करण की पुष्पिका में थोड़ा बहुत शाब्दिक हेरफेर है।

काश्मीर के एक विद्वान् तथा प्रतिष्ठित परिवार में जहां शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की सुदीर्घ परम्परा प्रचलित थी, रुय्यक का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम राजानक तिलक है जिन्होंने उद्भटविवेक या विचार नाम से काव्यालंकारसंग्रह पर संक्षिप्त पर तात्त्विक 'विवृति' लिखी है। राजानक तिलक रुय्यक के जनक ही नहीं अपितु अलंकाररहस्य के गुरु भी थे—

ज्ञात्वा श्रीतिलकात् सर्वालंकारोपनिषत्क्रमम्।
काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते।—का० प्र० सं० (प्रारम्भपद्य २)

अलंकारसर्वस्व में अनेकत्र उन्होंने अपने पिता का अनुसरण किया है।[1] जयरथ का स्पष्ट कथन है—

ग्रन्थकृच्च प्रायस्तन्मतानुवर्त्येव।—वि० पृ० १५८

श्रीकण्ठचरित के यशस्वी लेखक मंखक के समय काश्मीर विद्वान् और कवियों की साहित्यिक क्रीडाभूमि थी। लंकक की सभा में नन्दन, रम्यदेव, मण्डन, श्रीकण्ठ, गर्ग, देवधर, दामोदर, श्रीगोविन्द, कल्हण, पद्मराज, सुहल और गोविन्दचन्द्र आदि सैंकड़ों विश्रुत व्यक्ति थे। रुय्यक का विद्वत्सभा में (सदसि प्रसिद्धविविधोपासीनविद्वद्वरे) निश्चित ही विशेष आदर था। मंखक ने रुय्यक का अपने गुरु के रूप में उल्लेख करते हुए उनका जो वर्णन किया है उसे यहाँ अविकल उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

व्याख्यासु यस्य वदनं रदनांशुभिरीक्ष्यते।
आकर्षदिव वाग्देव्या धौतक्षौमपटाञ्चलम्॥
अर्पयन् कमपि स्पदं धाम्नः सारस्वतस्य भूः।
स एव सर्वशास्त्राणां साकारमिव जीवितम्॥
निवृतीर्यो लिखत्याप्तलेखन्येकाङ्गुलीतलः।
ग्रन्थेभ्योऽर्थस्य विश्रान्त्यै मुद्रिकामर्पयन्निव॥
यत्कृतिष्ववधानेन मूर्धा कस्य न वीप्सया।
सारस्वतरसावर्तवलनेनेव चेष्टते॥
तं श्रीरुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्दप्रश्रयरसस्रोतस्सम्भेदमज्जनम्॥—श्रीकण्ठचरित २५।२६-३०।

अध्यापक, विद्वान्, व्याख्याकार और साहित्यिक लेखक रुय्यक का यह संक्षिप्त पर सारमय और प्रायः सत्य चित्र है। **चिरन्तन, आलंकारिकसमाजा-**

---

1. देखिए—वि० पृ० १३६, १४८ तथा २४७।

प्रगल्भ्य, सर्वशास्त्रों के साकार जीवित आदि के रूप में उल्लेख इनके यशस्वी वैदुष्य का पर्याप्त परिचायक है।

समय

रुय्यक का जन्म काश्मीर में उस समय हुआ था जो काश्मीर-साहित्य के इतिहास का पूर्णत निर्णीत काल है। इसलिये इनके समय के सम्बन्ध मे ऐतिहासिको में मतभेद नही है। विक्रमाकदेवचरित का प्रणयनकाल (बूल्हर के अनुसार) १०८५ ई० है, तथा काव्यप्रकाश का लगभग ११०० ई०। प्रथम से रुय्यक ने उद्धरण लिए हैं और दूसरे पर संकेत लिखा है जिसके सर्वस्व में अनेक सन्दर्भ भी है। मखक के श्रीकण्ठचरित का निर्माणकाल भी जयसिंह के समय (११२९-११५० ई०) के अनुसार बूल्हर ने ११३५ से ११४५ ई० के बीच निश्चित किया है।[1] मखक के भाई अलकार अथवा लकक काश्मीर के राजा सुस्सल तथा जयसिंह का मन्त्री था।[2] स्वय मखक ने भी सान्धि-विग्रहिक के रूप में कार्य किया था। श्रीकण्ठचरित से ५ श्लोक सर्वस्व में पाए जाते हैं जिन्हे रुय्यक ने या मखक ने स्वय उद्धृत किया है। राजतरगिणी (४-४४१) में 'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः' आदि श्लोक प्राप्त होता है। इसका रचनाकाल ११५० ई० के पूर्व नही माना जा सकता है। यह श्लोक सर्वस्व मे उद्धृत है पर इसके आधार पर रुय्यक का समय-निर्णय करना[3] अनुचित होगा क्योकि यह श्लोक अभिनवभारती (खड १, पृ० ३०५) मे उद्धृत है।[4] माणिक्यचन्द्र के काव्यप्रकाशसकेत (जिसका रचनाकाल ११५९-६० है) मे अनेक बार (पृ० ३२१, ३५५ मैसूर सस्करण) सर्वस्व का सन्दर्भ मिलता है अत इसका रचनाकाल ११३५-११५० के बीच विद्वान मानते हैं।[5] सर्वस्व रुय्यक के प्रौढ जीवन की कृति है अतः ११०० ई० के आसपास

---

१. काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ५०।

२. श्रीकण्ठचरित, २५-१५, ५-६२, २५-४३ एवं २५-६१।

३. जैकोब ने इस आधार पर निर्णय करना चाहा था। देखिए Z. D. M. G. Vol. LXII, पृ० २८९ तथा डा० दे का विवेचन देखिए— J. R. A. S. १९२७ ई० पृ० ४७४।

४. डा० काणे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २७३।

५. वहीं, तथा Z. D. M. G. Vol. LXII, पृ० २८९,

सर्वस्वकार का जन्मकाल मानना आवश्यक है। किसी भी दृष्टि से रुय्यक के समय को बारहवें शतक के पूर्वार्ध से आगे नही माना जा सकता। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण में (जिसका प्रणयनकाल प्रतापरुद्र [द्वितीय] के समय १२६५-१३२३ ई० के अनुसार बारहवी शती के चतुर्थ भाग मे है) सर्वस्व का श्रद्धा के साथ अनुसरण, शोभाकर द्वारा अलकाररत्नाकर में सर्वस्व का खण्डन-मण्डन जिसका पुनरालोचन जयरथ ने किया है इस बात का प्रमाण है कि द्वादश शतक के तृतीय भाग तक ही सर्वस्व का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इससे भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि किसी भी प्रकार रुय्यक के जन्मकाल को ईसा के १२वे शतक के प्रथम भाग तथा सर्वस्व के प्रणयनकाल को इसी शतक के मध्यार्ध से आगे नही माना जा सकना।

सर्वस्वकार की अन्य कृतियां

सर्वस्वकार का कृतित्व साहित्यशास्त्र के विभिन्न अगोपागो पर स्वतन्त्र या व्याख्यात्मक ग्रन्थो का प्रणयन है। रुय्यक या सर्वस्वकार के नाम से जिन ग्रन्थो की सूचना अभी तक प्राप्त हो सकी है उनकी सख्या द्वादश है।

ग्रन्थ	वर्ग
१. सहृदयलीला (प्रकाशित)	स्वतन्त्र साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ
२. साहित्यमीमांसा (प्रकाशित)	स्वतन्त्र साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ
३ नाटकमीमांसा	नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थ
४. अलंकारानुसारिणी	अलंकारग्रन्थ अथवा आलंकारिक टीकाग्रन्थ।
५. अलकारमञ्जरी	अलंकारग्रन्थ अथवा आलंकारिक टीकाग्रन्थ।
६ अलकारवार्तिक	अलंकारग्रन्थ अथवा आलंकारिक टीकाग्रन्थ।
७. अलंकारसर्वस्व (प्रकाशित)	अलंकारग्रन्थ अथवा आलंकारिक टीकाग्रन्थ।
८ श्रीकण्ठस्तव	काव्य
९ काव्यप्रकाशसंकेत (प्रकाशित)	टीकाएं
१० हर्षचरितवार्तिक	टीकाएं
११ व्यक्तिविवेकव्याख्यान,-- विचार (प्रकाशित)	टीकाएं
१२ बृहती	

रुय्यक के इन ग्रन्थो की सूचना रुय्यक तथा जयरथ से ही विशेषत·

काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ५१ तथा ६२, तथा संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० १६४।

प्राप्त होती है। ग्रन्थसूची पर आपाततः दृष्टिपात से ही इतना स्पष्ट है कि राजानक रुय्यक का कृतित्व अलकारशास्त्र के विभिन्न अगो पर विशेषत अलकार-मीमासा के रूप मे है। नीचे हम इन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे--जिनमे केवल पाच ही अभी तक प्रकाशित हो सके हैं--एक अति सक्षिप्त आकलन द्वारा इनका परिचय प्रस्तुत करेंगे। पुस्तक-परिचय का एक उद्देश्य हमे रुय्यक की उन मान्यताओ तथा देन का सक्षेप मे विवेचन करना है जिनका अलकारसर्वस्व के अलकार-चिन्तन से सम्बन्ध है।

सहृदयलीला

यह पुस्तिका अत्यधिक अल्पकाय है। केवल ४-५ पृष्ठो की है। इसकी प्रथम पक्ति—**श्रीमतामुत्कर्षपरिज्ञानाद्वैदग्ध्येन सहृदयत्वान्नागरिकतासिद्धिः**—के अनुसार उत्कर्षज्ञान से वैदग्ध्य और उसके द्वारा सहृदय बनकर नागरिकता की सिद्धि ही इस विलक्षण साहित्यक कृति का उद्देश्य है। युवतियो का उत्कर्ष गुण, अलकार, जीवित तथा परिकर से होता है। इन्ही नामो मे चार उल्लेखो मे इस लघुकाय पुस्तिका का विभाजन है। गुणोल्लेख म रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया तथा सौभाग्य इन दश गुणो का, अलकारोल्लेख म रत्न, हेम, अशुक, माल्य, मण्डनद्रव्य योजना तथा प्रकीर्ण इन सात गुणो का, जीवितोल्लेख मे शोभानुप्राणक यौवन का तथा अन्तिम परिकरोल्लेख मे अष्टविध परिकर का सूत्रशैली मे उल्लेख है। गुण शोभाविधायी या शोभासमुत्पादक होते है, अलकार रामणीयक की वृद्धि करते है या शोभा-समुद्दीपक होते है। यौवनाख्य जीवित शोभा का अनुप्राणक है और परिकर शोभा का व्यजक। इस प्रकार सौन्दर्य की दृष्टि से सभी एक दूसरे के अनुग्राहक है। सहृदयलीला जैसी साहित्यिक कृतियाँ सस्कृत-साहित्य मे सभवत नही है। रूप, प्रभा आदि के शास्त्रीय वर्णन के साथ ही इस छोटे से ग्रन्थ मे हमे सहृदय नागरिक के वेश और साधन के रोचक विवरण भी मिलते है जो अन्यत्र कही भी नही पाए जा सकते। इसी दृष्टि से सहृदयलीला का महत्त्व रुय्यक के अन्य ग्रन्थो मे ही नही, सस्कृत साहित्य के अमित भण्डार म अद्वितीय है।

साहित्यमीमांसा

साहित्यमीमासा परम्परागत शैली मे लिखी गई है। इसमे पहिले कारिकाए है, पुन उनकी वृत्ति है जो गद्य मे है और फिर उदाहरण दिए गए है जिनका चुनाव विभिन्न काव्यग्रन्थो से किया गया है। इसमे आठ प्रकरण है। प्रथम और अतिम लघुकाय है। षष्ठ और सप्तम प्रकरण अपेक्षाकृत विशालकाय है।

जिन लेखकों और ग्रन्थों का इसमें स्पष्ट उल्लेख है वे इस प्रकार हैं—अक्षपाद (पृ० ७), अनर्घराघव (पृ० ७३), उत्तररामचरित (पृ० ११४), कादम्बरी (पृ० ६८), कालिदास (पृ० ६, १२० तथा १३८), कात्यायन (पृ० १०८), जैमिनि (पृ० ३, ११, ८६), धनदत्त (पृ० ६४), बाण (पृ० १२०, १३८), भगवदज्जुक (पृ० ७२), भवभूति (पृ० ५४, ६५, ६७, ११४) भामह (पृ० ८६), माघ और भारवि (पृ० १२०), भोजराज (पृ० १२,५१ ७५), महावीरचरित (पृ० ११४), मालतीमाधव (पृ० ६५, ७२,६८), वक्रोक्तिकार, (पृ० ११७), वामन (पृ० ३२), वाल्मीकि (पृ० २०, १३८), विन्ध्यवासी (पृ० ४३), वेणीसंहार, व्यास और शिवभद्र (पृ० १२०, १३८)। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लेखक और ग्रन्थो के उदाहरण इसमें उपलब्ध हैं जिनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है। काव्यादर्श और काव्यालकारसग्रह के भी उदाहरणों का उल्लेख है। यही नहीं काव्यालकारसंग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज की टीका को भी लेखक ने उद्धृत किया है[1]। इसी प्रकार दशरूप, सरस्वतीकण्ठाभरण (पृ० ५१, स० क० ४-४१-४३), कुमारिल के तन्त्रवार्तिक और राजशेखर की काव्यमीमासा के उद्धरण भी प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त अन्य अज्ञात लेखको की ओर भी साहित्यमीमासा के लेखक ने 'आचार्या.' कहकर सकेत किया है।

साहित्यमीमासा की दो विशेषताएँ हैं—प्रथमतः इसमें व्यंजना शक्ति का कही भी उल्लेख नही है, अपितु तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है जिसके द्वारा रसानुभूति होती है—अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः।—सा०मी०पृ० ८५। द्वितीयत· अर्थालकारो के अन्तर्गत केवल थोडे से ही अलकारो पर विचार किया है। समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा और सहोक्ति आदि को वक्रत्व के अन्तर्गत रखा गया है। इन दो विशेषताओ के कारण एक शका उठना स्वाभाविक है। रुय्यक अलकारसर्वस्व में ध्वनि के स्पष्ट समर्थक हैं। इसके अतिरिक्त सर्वस्व मे अप्रस्तुतप्रशसा आदि का उल्लेख उपमा आदि के साथ आया है अतः क्या यह रुय्यक की रचना नही है ? अथवा प्रकाशित पुस्तक रुय्यक की साहित्यमीमासा से भिन्न है ? यह कैसे स्वीकार कर लिया जाए कि सर्वस्व, साहित्यमीमांसा तथा व्यक्तिविवेक-व्याख्यान एक ही लेखक द्वारा प्रणीत हैं ? 'विचार' मे अनुमान को तिरस्कृत कर व्यंजना का ध्वनिवाद के अनुसार

१. एवमाचार्याः व्याचक्षते—अत्रालंकारा अष्टावुदिष्टाः रूपकादीनां चतुर्णामत्र अर्थालङ्कारता।—सा० मी० पृ० ३६, तथा का०अ० स० पृ० १।

प्रतिपादन है, किन्तु यहाँ तात्पर्यवृत्ति को प्रधान माना गया है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे लेखक ने तात्पर्य शक्ति का प्रतिपादन अवश्य किया था, किन्तु बाद में उसने तात्पर्यशक्ति के स्थान पर ध्वनिवाद को स्वीकार कर लिया। किसी सहृदय लेखक के लिए अपने भ्रामक सिद्धान्त को छोड़कर किसी अन्य युक्तियुक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। साहित्यमीमांसा लेखक के प्रारम्भिक जीवन की कृति है जब वह कुन्तक से प्रभावित था, किन्तु अलकारसर्वस्व की रचना तक आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की तथा अन्य आलकारिकों की अलकार-मीमांसा की छाप उसके विचारों पर स्पष्ट दिखाई देती है। व्यक्तिविवेक-व्याख्यान (पृ० २४३), सर्वस्व (पृ० ४७), विमर्शिनी (पृ० १६०) तथा प्रतापरुद्रयशोभूषण मे साहित्यमीमासा के जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनकी प्रकाशित पुस्तक मे प्राप्ति भी इस बात का प्रमाण है कि यह रुय्यक की ही रचना है।

साहित्यमीमासा की सपूर्ण सामग्री आठ प्रकरणों मे इस प्रकार विभाजित की गई है—

प्रथम प्रकरण

वाच्य और वाचक की वन्दना जो क्रमश पर और अपर ब्रह्म के रूप मे है। वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षण, सामर्थ्य, अन्वय और एकार्थ का (जो साहित्य की रचना करते हैं और जिनका विशद वर्णन इस पुस्तक में किया गया है) उल्लेख। साहित्यपरिष्कार के दोषत्याग, गुणाधान, अलकारयोग और रसान्वय इन चार अगो की गणना। इसके उपरान्त सत्कवि विदग्धकवि, अरोचकि कवि और सतृणाभ्यवहार कवियो का तथा उत्तम (सात्त्विक), मध्यम (राजस) और अधम (तामस) इन तीन प्रकार के रसिकों का वर्णन।

द्वितीय प्रकरण

वृत्ति का लक्षण; उसके भेद। मुख्या और गौणी लक्षणा तथा उनकी परिभाषा। विवक्षा, प्रविभाग (प्रकृति तथा प्रत्यय, वाक्य और महावाक्य), अन्वय (परस्पर-ग्रथन) तथा ऐकार्थ्य (एकवाक्यता) के लक्षण और उदाहरण। साहित्य और काव्य में भेद। दोषत्याग आदि परिष्कारों के द्वारा परिमार्जित काव्य ही साहित्य है; इसकी स्थापना।

तृतीय प्रकरण

अप्रयुक्त, ग्राम्य, असमर्थ, अनर्थक, साधारण, अप्रसिद्ध और विरुद्ध आदि पद-दोषो के सोदाहरण लक्षण ।

चतुर्थ प्रकरण

काव्यगुण की मीमासा । शब्दगुण बाह्य होता है और अर्थगुण आभ्यन्तर । दस गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि के लक्षण और उदाहरण ।

पंचम प्रकरण

अलकार का लक्षण—काव्ये शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । गुण और अलकार का भेद । अनुप्रास, क्रम, श्लेष, मुद्रा, दीपक, युक्ति, पठिती, गुम्फना, चित्र और यमक आदि अलकारो के लक्षण और उदाहरण । लाटानुप्रास, परुषा, उपनागरिका और कोमला वृत्तियाँ तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा व्यतिरेक, विभावना अपह्नुति, भ्रम, साम्य, सशय और सकर इन अलकारो के लक्षण और उदाहरण । शेष अलकार या तो इनके ही अन्तर्गत हैं या वक्रोक्ति मे सन्निविष्ट है । यहाँ रुय्यक ने अलकारो का लक्षण दण्डी और वामन के आधार पर प्रस्तुत किया है, पर उन्होने दण्डी की भाति गुणो को भी अलकार के साथ समिश्र करने का प्रयास नही किया है । गुण और अलंकार दोनो का ही योग काव्य के लिए आवश्यक है । गुण निसर्गत रहते है, वे नित्य हैं, और अलकारयोग अतिशायिनी शोभा के लिए आकाक्षित होता है, वह आगन्तुक है—

आमुचन्ति शरीरेषु गुणवत्सु निसर्गतः ।
अलकारान् जनाः शोभामाकांक्षन्तोऽतिशायिनीम् ॥—सा० मी० पृ० ३२

यद्यपि रुय्यक ने केवल दस शब्दालकारो तथा दस अर्थालकारो का (जिनमे कुछ को कतिपय आचार्य शब्द का न मानकर, अर्थ का या इसके विपरीत मानेंगे) विवेचन किया है पर अन्य अलकारो का प्रतिषेध उन्हे अभीष्ट नही है । साहित्यमीमासा की विषयवस्तु व्यापक है स्वभावत उसमें सभी अलकारो का विवेचन सभव नही है । अलकार-स्वरूप के सम्बन्ध में रुय्यक का कहना है कि कुछ अलकार काव्य मे शोभाकर होते है और कुछ उक्ति-सौष्ठव मे तत्पर रहते है—

+ + केचिदलकाराः काव्ये शोभाकरत्वतः ।
केचिदर्थानलकारानुक्तिसौष्ठवतत्पराः ॥—सा० मी० पृ० ५२

षष्ठ प्रकरण

रस के बीज रूप का तथा सहकारी का लक्षण। सहकारी भाव तथा रसनिष्पत्ति के लिए अन्य आवश्यक वस्तुओं का विवेचन। भाव दो प्रकार के हैं— प्रधान और अप्रधान। प्रधान भावो मे आठ स्थायी भाव हैं। अप्रधान भाव भी दो प्रकार के हैं—बाह्य (जिनमे आठ सात्विक भाव है) और आभ्यन्तर (जिनमे व्यभिचारी भावों की गणना है)। इन सबके लक्षण और उदाहरण। रस-निष्पत्ति पर विचार। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित आठ रस, कुछ आचार्यों के अनुसार शान्त का भी नवम रस के रूप मे उल्लेख। शान्त रस का स्थायी भाव है धृति। कुछ आचार्यों द्वारा अन्य तीन रसों का उल्लेख। दो प्रकार का शृ गार— सयोग और विप्रलम्भ। विप्रलम्भ और करुण मे भेद। वैदर्भी, आवन्ती, पाचाली तथा गौडी रीतियां और विशिष्ट रसो की अनुभूति मे इन रीतियों का उपयोग। लाटी और मागधिका रीतियां उपर्युक्त चार रीतियों के समान ही हैं। कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तिया; कुछ रसों के प्रतिपादन मे इनका उपयोग। जाति के स्वरूप मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श का प्रयोग। वक्रोक्ति के बीस प्रकार। अप्रस्तुतप्रशसा, सहोक्ति और अन्य दूसरे अलकार वक्रोक्ति के ही भेद है। ध्वनि, वर्ण, पद (पूर्वार्ध और प्रत्यय), वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध में वक्रत्व है। छत्तीस प्रकार की लक्षणा का उल्लेख, इनमे से तीन प्रकार की लक्षणा के उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए है।

सप्तम प्रकरण

कवि चार विशेषताओं से सम्पन्न होता है—श्रुति, अभियोग, प्रतिभा तथा शक्ति। कवि चार प्रकार के होते हैं, मरकवि जो वैदर्भी रीति का प्रयोग करते हैं जैसे वाल्मीकि और कालिदास। विदग्धकवि जो वक्रोक्ति का व्यवहार करते हैं जैसे व्यास और बाण आदि। अरोचक कवि जो अर्थालकारों का अधिक उपयोग करते हैं जैसे माघ और भारवि आदि। सतृणाभ्यवहारि कवि जो गौडी में रचना करते हैं और श्लेष तथा यमकादि अलकारों का प्रचुर प्रयोग करते हैं जैसे शिवभद्र आदि। कवि-समय—कवियो के लिए कुछ नियम—जैसे कि 'खलु' 'बत' और 'हन्त' को पाद के आदि मे नही लाना चाहिए। वेद, पाणिनि, वार्तिक, भाष्य, निरुक्त, सूत्र और स्मृतियो में प्रयुक्त कुछ शब्द जिनका प्रयोग कवियों द्वारा होना चाहिए। कालिदास और बाण की भांति 'शिष्ट' प्रयोग का उपदेश। सम्बोधन के विविध प्रकार। दृश्य काव्य के पात्र। कुछ विशेष स्थान की स्त्रियों का वर्णन और उनके वर्ण आदि पर विचार। आवन्त्य, दाक्षिणात्य

पौरस्त्य और औड्रमागध प्रवृत्तियाँ। विभिन्न देश और विभिन्न ऋतुओं के उत्सव और खेल-कूद। छः प्रमाण।

अष्टम प्रकरण

काव्य का आनन्द लेने वाला परम सुख की प्राप्ति करता है। ऋग्वेद (१०, ७ इत्यादि) और उत्तररामचरित के 'आविर्भूतज्योतिषां' (४-१८१) के अनुसार कवि की वाणी सर्वशोभासपन्न होती है और इस वाणी के अर्थज्ञान-का श्रेष्ठतम पुरस्कार है—लोकोत्तर आनन्द।

३. नाटकमीमांसा

यह पुस्तक अभी तक उपलब्ध नही है। सस्कृत के नाटयशास्त्रियो के विचारो से परिचित होने तथा विषय-प्रतिपादन मे मौलिक होने के नाते रुय्यक के इस ग्रन्थ का लोप संस्कृत साहित्य की अपूरणीय क्षति है। व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श के विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन आदि दोषों पर रुय्यक का विवेचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनके अनुसार इन सारे दोषो का निरूपण महिमभट्ट की मौलिकता नही है। पूर्वाचार्य पाणिनि, पतजलि कात्यायन, अक्षपाद आदि ने इन सभी दोषो का निर्देश किया था। व्यक्तिविवेक-व्याख्यान में रुय्यक ने इनका अपनी ओर से भी निरूपण किया है। साहित्य-मीमासा के तृतीय प्रकरण मे भी इन पर विचार है किन्तु नाटकमीमासा मे रुय्यक ने सभवत विशेष रूप से विचार किया था—

अस्य च विधेयाविमर्शस्यानन्तेतरप्रसिद्धवाच्यपातित्वेनास्माभिर्नाटकमीमांसायां साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु स्थानेषु प्रपंचो दर्शितः।—व्य० वि०व्या० पृ० २४३

साहित्यमीमासा स्पष्टत प्रारम्भिक कृति है। सभवतः नाटकमीमासा भी उसी के प्रणयनकाल के आस-पास लिखी गई थी। यह तो प्रायः निश्चित है ('दर्शित.' पद का प्रयोग इस बात का प्रमाण है) कि नाटकमीमांसा भी व्यक्तिविवेकव्याख्यान के पूर्व ही लिखी जा चुकी थी।

४. अलंकारानुसारिणी

अलंकारशास्त्र के इस ग्रन्थ का जयरथ ने अपनी विमर्शिनी (पृ० ४४, ७३, तथा ७६) में और जल्हण (१६८१ ई०) ने स्तुतिकुसुमाजलि (८-१६) पर अपनी टीका में उल्लेख किया है। पीटर्सन[1] का अनुसरण करते हुए पिशेल[2],

१. देखिए Report for 1883/84. पृ० १६ तथा Actes Un Sixieme Congre's, पृ० ३६४।

२. देखिए पिशेल द्वारा सम्पादित शृंगार तिलक तथा सहृदय लीला की

ऑफ्रेट (Aufrecht)[1] तथा जैकोबी ने रत्नकण्ठ के उल्लेख के एकमात्र आधार पर यह मत व्यक्त किया था कि अलंकारानुसारिणी जल्हण के सोमपालविलास पर टीका थी जिसमे मूलग्रन्थ के व्याख्यान मे अलकारनिर्देश पर विशेषरूप से ध्यान दिया गया था।[2] रत्नकण्ठ का उद्धरण इस प्रकार है—

तथाहि कविवरजल्हणकृते सोमपालविलासे—अस्यार्थः
श्रीराजानकरुय्यकविरचितायामलंकारानुसारिण्याम्

इस उल्लेख से केवल इतना ही स्पष्ट है कि प्राकरणिक श्लोक के अर्थ पर विचार अलंकारानुसारिणी मे किया गया था। यह सभावनामात्र है कि वह टीकाग्रन्थ था। उपर्युक्त विद्वानो की इस उद्धरण के आधार पर यह संभावना विमर्शिनी के सन्दर्भों के अनुसार ठीक नही है। वस्तुतः यह अलकार-मीमांसा का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसमें अलकारों के अनेक भेदोपभेद का (जिनमे से अनेक का सर्वस्व मे उपबृंहण नही है) विवेचन किया गया था। अलकार-भाष्यकार के अनुसार रूपक लक्षणा पर आश्रित है। लक्षणा सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों प्रकार के सम्बन्ध से सम्भव है अतः रूपक भी सादृश्य के अतिरिक्त कार्यकारण आदि सम्बन्ध के आरोप में भी हो सकता है। जयरथ के अनुसार अलकारभाष्यकार के इस मत से रुय्यक भी सहमत है। यद्यपि उन्होंने इस मत का कही उपबृंहण नही किया है। अलकारसर्वस्व मे रुय्यक वस्तुतः इस बात की चर्चा भी नही करते हैं। पर जयरथ के अनुसार अलकारानुसारिणी मे 'अमृतकवलः शोभराशिः प्रमोदरसप्रपा निरवधिसुखश्रद्धा दृष्टेः कृती मृगकेतनः' इस श्लोक को रुय्यक ने रूपक का उदाहरण माना है। यदि यह पद्य सोमपालविलास का मान लें तब भी यह आवश्यक नही कि रुय्यक को उसका

सम्पादकीय भूमिका।

१. Catalogus catatlogorum. पृ० ३२।

२. मंखक ने श्रीकण्ठचरित (३०-७५) में जल्हण (१२ वीं शती) का वर्णन किया है। यह जल्हण सूक्तिमुक्तावलीकार आरोहकभगदत्त जल्हण (१२५८ ई०) से भिन्न है। सोमपाल काश्मीर के समीप स्थित राजपुरी का शासक था। राजतरंगिणी (८-६२१) के अनुसार इसने काश्मीरी सुस्सल के विरुद्ध आक्रमण किया था। इसी राजा की स्तुति में जल्हण ने सोमपालविलास लिखा था।

टीकाकार मान लिया जाए क्योंकि उस काव्य से उदाहरण लेकर अलकार-सम्बन्धी ग्रन्थ में उसका विवेचन सम्भव है। विमर्शिनी के दूसरे सन्दर्भ (पृ० ७३) के अनुसार अलकारानुसारिणी मे द्रव्य की हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा भी हो सकती है यह मत व्यक्त किया गया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अलंकारसर्वस्व में रुय्यक उसका स्वरूपोत्प्रेक्षण ही सामान्यतया मानते हैं—

> तत्रापि द्रव्यस्य प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलोत्प्रेक्षाभेदास्ततः पात-नीयाः – अ० स० पृ० ७३

द्रव्य का हेतूत्प्रेक्षण और फलोत्प्रेक्षण भी होता है केवल स्वरूपोत्प्रेक्षण ही नही, इस विवेचन के लिए यदि अलकारानुसारिणी टीका-ग्रन्थ होता तो अधिक स्थान नही था। यही नही, उत्प्रेक्षा पर विचार करते हुए इसी ग्रन्थ मे 'अपरः पाकशासनः' और 'भूतलकार्तिकेयः' के प्राचीन उदाहरणो का विश्लेषण करते हुए अलकारानुसारिणी मे वामन के मत के विपरीत (जिसके अनुसार विशेषोक्ति होगी) दृढारोप रूपक माना गया है[1]। इन समस्त सन्दर्भों से केवल यही दृढ संभावना व्यक्त की जा सकती है कि अलकारानुसारिणी अलकार-मीमासा का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था जिसमे अलकारसर्वस्व मे व्यक्त अनेक विचारो का बीज रूप मे या विशेष रूप मे निर्देश या उपबृंहण था।

(५) अलंकारमंजरी

इसी नाम से त्रिमल्लभट्ट (१३८३-१४९९ ई०), सुखलाल, वेणीदत्त तथा सुधीन्द्रयति (१६२३ ई०) की कृतियाँ भी हैं[2] जो सभी परवर्ती हैं। रुय्यक के इस ग्रन्थ की सूचना इस लेखक द्वारा सकलित पाठ तथा विमर्शिनी के निम्नलिखित पाठ से मिलती है—

> तत्र रसादिध्वनिरलकारमञ्जर्यां दर्शितः काव्यस्य शृ गारप्रधानत्वात् शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः—अ० स० पृ० १८।

अनन्तशनम् सस्करण मे प्राकरणिक पाठ सर्वथा भिन्न है—

> तत्र रसादिध्वनिः कालिदासादिप्रबन्धेषु—अ०स० (त्रिवेन्द्रम), पृ० १०

इस पाठ के अनुसार अलकारमजरी के लिए कोई स्थान नही है। पर उपलब्ध पाठ तथा नि० सस्करण के सम्बद्ध अंश को पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ मे रुय्यक ने रसादिध्वनि के विभागोपविभाग का भी

---

1. वि० पृ० ७६।
२. देखिए N. C. C. पृ० २९५।

सोदाहरण विवेचन किया था। किसी भी टीकाकार ने प्रथम पाठ का प्रतीकोपादान नहीं किया है अतः जयरथ आदि से हमें अलकारमजरी के सम्बन्ध में कुछ भी जानने में सहायता नही मिलती है। निर्णायक प्रमाण न होने के कारण डा० दे और डा० राघवन् ने इसे रुय्यक की रचना मानने मे आपत्ति उठाई है।[1] किन्तु उसे हम उपर्युक्त आधार पर निर्णायक नहीं मान सकते हैं और यह सम्भावना निश्चय ही बलवती है कि अलकारमजरी भी रुय्यक की कृति थी।

६. अलकारवार्तिक

इस ग्रन्थ की सूचना जयरथ की विमर्शिनी से ही प्राप्त होती है। सर्वस्वकार के अनुसार सादृश्याश्रय अलकारों का, धर्म के सकृत् तथा अनुगामितया निर्देश के आधार पर बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक, वस्तुप्रतिवस्तुभावमूलक तथा साधारणधर्मानुगामी, यह तीन प्रकार का सामान्य विभाग किया जा सकता है। इस मान्यता का उपबृंहण विमर्शिनीकार ने अपनी टीका में किया है। रुय्यक ने स्वयं इस त्रिविध विभाग का यत्र-तत्र सकेत किया है। उन्होंने अलकारवार्तिक मे 'क्षिपन्त्यचिन्त्यानि पदानि हेलया' (वि० पृ० ९१) का सम्भवतः उदाहरण लेकर उपर्युक्त पद्य मे मुख और शशि मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानकर तुल्ययोगिता के एक नवीन भेद का विवेचन किया था। सर्वस्व की मान्यता से यह विभाग उपपन्न है। यह कहना कठिन है कि अलंकारवार्तिक किसी अलकारग्रन्थ पर वार्तिक के रूप मे टीका है या स्वतन्त्र ग्रन्थ। यह भी निश्चय रूप में नही कहा जा सकता कि इसका प्रणयन सर्वस्व के पहले हुआ था या बाद में। जयरथ के सन्दर्भ 'अनेनैव चाशयेनात्रालंकारवार्तिकग्रन्थकृता वैशिष्ट्यमस्या दर्शितम्'[2] मे 'दर्शितम्' पद का प्रयोग अलकारवार्तिक के पूर्वलिखित होने की सभावना व्यक्त करता है। उपर्युक्त सन्दर्भ मे 'अत्र' पद के प्रयोग से अलकारवार्तिक को एक भिन्न टीका या स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर सर्वस्व के वृत्तिभाग का ही अलंकारवार्तिक के रूप में उल्लेख मान लेना सम्भव नही है। क्योंकि एक तो सर्वस्व के प्राकरणिक विवेचन मे बिम्बप्रतिबिम्बभाववती तुल्ययोगिता का विवेचन नही है और दूसरे 'अत्र' पाठ सभी आदर्श-पुस्तको में नही मिलता है, अतः अलकारवार्तिक एक टीका-ग्रन्थ (जो कि अधिक सम्भव है) या स्वतन्त्र अलंकार-ग्रन्थ है; इस सम्भावना के लिए स्थान शेष है।

---

१. संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० १९५, तथा N. C. C. पृ० २९५।

२. वि० पृ० ९१।

७, अलंकारसर्वस्व

अलंकार का चौथा ग्रन्थ अलकारसर्वस्व है जिस पर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि अभी तक कोई भी प्रमाण प्राप्त नही है पर सर्वस्व की प्रौढ शैली तथा परिपक्व विवेचन और प्रसिद्धि के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि अलंकारसम्बन्धी ग्रन्थों मे सर्वस्व का प्रणयन सबसे बाद में रुय्यक ने किया था। पूर्वोक्त ग्रन्थो के सन्दर्भ मे भूतकालिक क्रियापद 'दर्शितम्' या 'दर्शित.' का प्रयोग भी उपर्युक्त सम्भावना का प्रत्यायक है।

८. श्रीकण्ठस्तव

पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण के रूप में सर्वस्व (नि० सा० सस्करण पृ० २३) मे चार श्लोकों का उल्लेख है—

१. अहीनभुजगाधीशवपुर्वलयकङ्कणम्' · ··
२. वृषपुगवलक्ष्माणं शिखिपावकलोचनम् ··
३. दारुणः काष्ठतो जात·······
४. भुजगकुण्डलीव्यक्तशशि[1] · ·

इन पद्यो के पूर्व निर्णयसागर (पृ० २३) का पाठ है—

उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे

यही पाठ लेखक द्वारा परीक्षित सभी आदर्श पुस्तको में मिलता है।

त्रिवेन्द्रम सस्करण (पृ० १४) मे 'मदीये' के स्थान पर 'मंखीये' पाठ है। सजीविनी मे भी 'मंखीये--मंखाख्यकविकर्तृक' के रूपमे त्रिवेन्द्रम संस्करण का ही पाठ है, यह पाठभेद एक टेढा प्रश्न पैदा कर देता है। क्या श्रीकण्ठस्तव रुय्यक का नही है ? त्रिवेन्द्रम सस्करण के इस पाठ का दो दृष्टियों से महत्त्व नही

---

१. केवल अन्तिम श्लोक त्रिवेन्द्रम सस्करण में नहीं है।

१. जयरथ ने न तो इस पाठ के किसी अंश पर टिप्पणी की है और न श्लोकों पर ही। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जयरथ को प्राप्त सर्वस्व की आदर्शपुस्तक में यह अंश था ही नहीं क्योंकि इसी प्रकार के 'प्रभेदास्तु विस्तरभयान्नोच्यन्ते' पर उनकी टीका तथा 'असमस्तपदं तु ग्रन्थकृतैवो-दाहृतम्' यह कथन इस शंका के लिए स्थान नहीं छोड़ते। समुद्रबन्ध ने उदाहरणों की व्याख्या चक्रवर्ती की भांति की है किन्तु कृति और कृति-कार के सूचक अंश—'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' पर उनकी टिप्पणी नहीं है।

के बराबर है। प्रथमतः उस संस्करण के अनुसार सर्वस्व का लेखक मंखक है फिर उसे 'मंखीये' क्यों 'मदीये' ही लिखना चाहिए था। वृत्त्यनुप्रास के लिए वृत्तिकार ने 'मदीये 'श्रीकण्ठस्तवे' के उपोद्घात से 'आटोपेन पटीयसा' उदाहरण दिया है। अब इन दोनों पाठो को यदि यथास्थित मान लिया जाए तो यह कहना होगा कि श्रीकण्ठस्तव मंखक की रचना है और 'अहीनभुजगाधीश—' आदि चार श्लोक तथा उपर्युक्त श्लोक वही से लिए गए हैं। दोनों ही निष्कर्ष तथ्यहीन हैं; क्योंकि 'आटोपेन पटीयसा'—श्लोक श्रीकण्ठचरित (२।४६) का है; श्रीकण्ठस्तव का नही है। यह भी नही माना जा सकता कि ये दो भिन्न कृतियां नही हैं अपितु एक ही कृति के नामभेद हैं[1] क्योंकि 'अहीनभुजगाधीश—'आदि चार मे से एक भी पद्य श्रीकण्ठचरित मे नही मिलता, जो सम्पूर्णतया उपलब्ध है तथा काव्यमाला में प्रकाशित है। अत एव न तो श्रीकण्ठचरित और श्रीकण्ठस्तव को एक कृति माना जा सकता है और न द्वितीय कृति को मंखकप्रणीत ही मान सकते है। वस्तुत श्रीकण्ठस्तव सर्वस्वकार रुय्यक की रचना है। आफ्रे ट के अनुसार हर्षचरित में वर्णित श्रीकण्ठ जनपद की महिमा का इसमें वर्णन है।[2] सर्वस्व मे उद्धृत श्लोक शिव की स्तुति में हैं। इससे केवल यही सभावना की जा सकती है कि या तो उपर्युक्त श्लोक मगलाचरण के हैं अथवा इस काव्य में प्रसगत· शिव का वर्णन है। श्रीकण्ठ शब्द स्थान के लिए ही नही अपितु शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है अतः 'स्तव' शब्द के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि श्रीकण्ठस्तव शिवस्तुति मे विरचित काव्य है। किन्तु जबतक कोई निर्णायक प्रमाण न मिले तबतक केवल सर्वस्व में उद्धृत श्लोको के आधार पर यह नही कहा जा सकता है (जैसा कि पिशेल मानते हैं) कि श्रीकण्ठस्तव शिवस्तुति मे विरचित स्तुतिकाव्य है।[3] हाँ, यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन द्वारा शिव की महिमा का स्तवन श्रीकण्ठस्तव काव्य का स्वरूप रहा होगा।

टीकाग्रन्थ

रुय्यक ने मम्मट के काव्यप्रकाश, महिम के व्यक्तिविवेक तथा बाण के

---

१. श्रीकण्ठस्तव का पाठान्तर श्रीकण्ठचरित दिया गया है—त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ० १६।

२. आफ्रे ट कैटलॉग, पृ० २१०।

३. देखिए—पिशेलसंपादित सहृदयलीला की भूमिका।

हर्षचरित पर टीकाएं लिखी हैं। इनके नाम क्रमशः काव्यप्रकाशसंकेत, व्यक्तिविवेकविचार या व्याख्यान, तथा हर्षचरितवार्तिक हैं। 'बृहती' नाम से एक अप्राप्य और सम्भवतः अपूर्ण कृति का उल्लेख रुय्यक ने अपने व्यक्तिविवेकविचार (काशी संस्करण, पृ० ३०५) में किया है। सर्वस्वकार ने सादृश्याश्रय अलंकारों के श्रेणीविभाग में तुल्ययोगिता, दीपक, समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अनेक अलंकारों को गम्यमान औपम्य पर आश्रित माना है।[1] इनमें उपमानोपमेयभाव, इवादि औपम्यवाचक शब्दों का प्रयोग न करने से, गम्य रहता है। उसका स्वकण्ठेन निबन्धन नही होता। सर्वस्व के इसी मत का प्रपंच बृहती मे रुय्यक को अभिप्रेत था। व्यक्तिविवेक पर व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है—

> एवमलकारान्तरेष्वपि समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादिषु।
> तत्राप्युपमानोपमेयभावः स्वकण्ठेन नोपनिबन्धनीयः।
> अस्माभिश्चैतत् प्रपञ्चो बृहत्यां करिष्यते।
>
> —व्यक्तिविवेकव्याख्यान (काशी) पृ० ३०५

यह बृहती व्यक्तिविवेक पर टीका के बाद लिखी जाने को थी। 'करिष्यते' पद के प्रयोग को इसका पर्याप्त प्रमाण मानना चाहिए। जयरथ के अनुसार व्यक्तिविवेकव्याख्यान के बाद अलकारसर्वस्व लिखा गया था। उसमे या विमर्शिनी मे 'बृहती' के नाम से कोई सन्दर्भ नही मिलता। नाम से प्रतीत होता है कि यह सभवत· किसी ग्रथ पर विस्तार में टीका लिखने की योजना थी। कौन जाने टीका का विचार छोड़कर अपने मन्तव्य को स्वतन्त्र रूप मे व्यक्त करने के लिए उन्होने सर्वस्व लिखा हो। और 'बृहती' के नाम से टीका लिखकर अपूर्ण छोड़ दी हो या लिखी ही न हो।

६. काव्यप्रकाशसंकेत

रुय्यक ने मम्मट के काव्यप्रकाश पर एक अतिसक्षिप्त टिप्पणी सकेत नाम से लिखी है। इसका प्रणयन उन्होंने व्यक्तिविवेकविचार तथा सर्वस्व दोनों से ही पहिले किया था। कविकर्म काव्य की काव्यकौतुक-सम्मत

---

१. देखिए—प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय 'अलंकारों का विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपणक्रम'।

व्याख्या' का, देहलीदीप न्याय से व्यंजकता[2] का 'संकेत' में केवल संकेत मात्र है पर इन्हीं पर विशद टिप्पणी व्यक्तिविवेकव्याख्यान[3] में है। संकेत की सरणि आलोचनात्मक है। वाग्देवतावतार के काव्यप्रकाश की कारिका का वृत्ति को परवर्ती टीकाकारों की भाँति, रुय्यक वेदवचन मानकर नहीं चले हैं। शब्दार्थ के अतिरिक्त विभावादि भी व्यजक होते हैं। किन्तु मम्मट ने व्यंजकत्व-निरूपक तृतीयोल्लास में प्रथम की तो चर्चा की है पर विभावादि के व्यजकत्व को छोड़ दिया है।[4] इस उल्लास के कारिकाभाग की अपूर्णता पर उनकी यह आलोचना देखिए—

ततस्तृतीयोल्लासे सलक्ष्यक्रमव्यंग्य एव भेदे अर्थशक्तिमूलावलम्बनेनार्थस्य व्यजकत्वं प्रकाशितम्। इयतैव व्यजकत्वनिर्णयो ग्रन्थकृता कृतः, केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य सलक्ष्यक्रमव्यंग्यप्रभेदेऽर्थस्य विभावादिरूपस्य व्यजकत्वस्यानुक्तत्वादव्याप्तिर्व्यंजकत्वनिर्णयस्य इति चिन्त्यमेतत्। —का० प्र० सं० पृ० १३

अपूर्णार्थ कारिका की पूर्ति के लिए 'उन्होंने विभावादिष्य एषाभिव्यक्तिरर्थस्समाश्रये' इस अंश को और बढ़ाने का सुझाव भी दिया है। इसी प्रकार उभय-शक्ति-मूल के स्थल पर शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि मानने पर मम्मट की आलोचना रुय्यक ने की है—

अयन्तु ग्रन्थकार उभयशक्तिमूले भ्रान्तः शब्दशक्तिमूलं वस्तुध्वनिमभ्युपगतवान्। —का० प्र० सं० पृ० २६

रुय्यक की आलोचना उनके आश्रयाश्रयिभाव सिद्धान्त को लेकर है जब कि मम्मट अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त के समर्थक हैं। वस्तुतः सर्वस्व में प्रतिपादित अपने अनेक मन्तव्यो को दृष्टि में रखकर संकेतकार ने मम्मट के मतों की आलोचना की है। 'कृपणानां धन नागानां फणामणिः ··· 'पर संकेतकार की 'यद्यपि श्लेषोपकृतये व्यतिरेकस्यांगांगिभावसंकरत्वं तथापीह विषये

---

१. का० प्र० सं०, पृ० १-२।

२. वहीं, पृ० १७-१८।

३. देखिए—व्य० वि० व्या० (त्रिवेंद्रम), पृ० १३ तथा १५।

४. मम्मट की इस आलोचना से बचने के लिए श्रीधर 'विभावादिरूपस्य व्यंजकत्वमग्रे वक्ष्यतीति नाव्याप्तिर्व्यंजकत्वनिर्णयस्य —' यह समाधान प्रस्तुत कर देते हैं। भला कहीं वाग्देवतावतार भी भूल कर सकता है।

श्लेषे व्यतिरेकः इत्येषा प्रसिद्धिर्नतु संकरः'[1] यह विवेचना सर्वस्व में उद्भटसम्मत[2] अपने उस सिद्धान्त को लेकर है जिसके अनुसार श्लेष का अलकारान्तर-विविक्त विषय नही होता अतः वह सर्वालकारापवाद है।[3] वह अलकारान्तरप्रतिभोत्पत्ति--हेतु होता है इस मान्यता को लेकर रुय्यक ने पुनः इस प्रकार टिप्पणी की है—

> कश्चिदिह प्रभेदः श्लेषवशादेव समासादितस्वभाव (प्रभाव) इति विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषात्मक एव। तत्र श्लेषेण सहास्य सकरत्वशका न कार्या भेदाभावात्। एवमन्यत्रापि परीक्ष्यम्।
>
> —वही, पृ० ६६

'यः कौमारहरः'[4] 'शनिरशनिश्च'—आदि उदाहरणों में जिनके अलंकार या ध्वनि के सम्बन्ध में सर्वस्वकार और काव्यप्रकाशकार में मतभेद है उसका सकेत मे सूचन या प्रतिपादन नही है पर 'राजन् राजसुता'[5]—आदि उदाहरण मे रुय्यक ने सर्वस्व मे उल्लिखित मत की संकेत में ही सूचना दे दी है। इस प्रकार जहा मम्मट के अनेक मत और उदाहरणों की आलोचना में सकेतकार ने आगे चलकर सर्वस्व में प्रतिपादित मत का सकेत किया है वहां 'परिवृत्तिसहत्वासहत्व' या अन्वयव्यतिरेकभाव के प्रतिपादक स्थल पर आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार कुछ न लिखना; इसी प्रकार अभग श्लेष को मम्मट द्वारा शब्द-श्लेष मानने पर आपत्ति न उठाना आदि ऐसे स्थल भी है जिनमें सर्वस्वकार ने अपने मत का सकेत तक नहीं किया है। काव्यप्रकाश पर संकेत बहुत सक्षिप्त है। साथ ही भारतीय परम्परा के अनुसार व्याख्याकार मूलग्रथ के मत का यथासम्भव प्रतिपादन करता है, प्रत्याख्यान नही, अत. मम्मट और रुय्यक का जिन अनेक मतो के सम्बन्ध मे परस्पर विरोध है उनमे से कतिपय का 'सकेत' मे उल्लेख और कतिपय को छोड़ देना अस्वाभाविक नही है। चतुर्थ उल्लास के गुणीभूतव्यग्य पर, रसवदादि के अलकारत्व पर,

---

१. का० प्र० स० पृ० ६५।

२. देखिए-काव्यालकारसग्रह पर इन्दुराज की लघुवृत्ति, पृ० ५४-५५

३. तेनालकारान्तरविविक्तो नास्य (श्लेषस्य) विषयोऽस्तीति सर्वालकारापवादोऽयमिति स्थितम्। —अ० स० पृ० १३२।

४. अ० स० पृ० १६१।

५. अ० स० पृ० १३६।

व्यंजनास्थापन तथा अनुमानखण्डन (पंचम उल्लास) पर संकेत में कुछ भी प्राप्त नही होता है;[1] छठा उल्लास तो सर्वथा अछूता रखा गया है और दशम उल्लास पर जिसमें अर्थालंकारों का निरूपण है संकेत सचमुच संकेत ही है। इसका कारण यही है कि इन अंशों से सम्बन्धित उसने भिन्न व्याख्यान-ग्रंथ तथा स्वतन्त्र ग्रथ लिखे थे फलतः संकेत में उसका उल्लेख करना संकेतकार रुय्यक ने उचित नही समझा।

१०. हर्षचरितवार्तिक

गद्यकवि के रूप में बाणभट्ट का स्थान अद्वितीय है। इनकी प्रसिद्धि वैसे तो कादम्बरी से अधिक है किन्तु हर्षचरित भी भाषा तथा भाव की दृष्टि से बाण की प्रतिभा का सुन्दर निदर्शन है। भंगीभणिति और उनके विभिन्न भेद ही अलंकार हैं। और इस विचित्र भंगीभणिति के बाणभट्ट में स्थान-स्थान पर उदाहरण उपलब्ध होते है।[2] यद्यपि रुय्यक की हर्षचरितवार्तिक नाम से हर्षचरित की टीका आज तक उपलब्ध न हो सकी है किन्तु सर्वस्व तथा व्यक्ति-विवेकविचार में उसके सन्दर्भ इस बात के अवश्य प्रमाण है कि टीका में सर्वस्वकार ने अनेकत्र अलंकारो का विवेचन किया था। उत्प्रेक्षा और उपमा का विषयविभाग तथा उपमोपक्रमा उत्प्रेक्षा का निदर्शन,[3] 'निर्मोक-मुक्तिमिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिव विटस्य' में महिमसम्मत उपमारूपक न मानकर मुक्तिरूप क्रिया के साथ सम्भावनात्मक 'इव' द्वारा उत्प्रेक्षण होने के नाते उत्प्रेक्षा-रूपक मानने के आधार का प्रतिपादन तथा समासोक्ति[4] विशेषणसाम्य तथा

---

१. रसवदादि अलंकार का मनाक् निर्देश चतुर्थ उल्लास में मम्मट ने किया है किन्तु आगे चलकर दशम उल्लास में उनकी चर्चा नहीं की है। रसवदादि अलंकारों का सर्वस्व में विशद रूप से निरूपण मिलता है। अतः काव्यप्रकाश पर टिप्पणी लिखते हुए रुय्यक द्वारा अपने अभिमत की सूचना न देना खलता अवश्य है पर संकेत की सीमा देखते हुए आश्चर्य नहीं पैदा करता है।

२. विचित्रा भंगीभणितय इति यथा भट्टबाणस्य तेषु तेषु स्थानेषु
—व्य० वि० व्या० पृ० २७३।

३. अ० स० पृ० ७३।

४. व्य० वि० व्या० पृ० १०२।

कार्यसमारोप दोनों तरह से होती है[1], आदि अलंकारमीमांसा रुय्यक ने अपने हर्षचरितवार्तिक में की थी।

व्यक्तिविवेकविचार या व्याख्यान

रसानुमितिवादी श्रीशंकुक का अनुसरण करते हुए काश्मीर के राजानक महिमभट्ट (एकादश शतक का मध्यभाग) ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का एव ध्वनिवाद का ही प्रकारान्तर से अनुगमन करने वाले श्रीकुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए व्यक्तिविवेक लिखा था। रुय्यक ने इस ग्रन्थ का उल्लेख व्यक्तिविवेक की टीका मे 'व्यक्तिविवेचन' के नाम से किया है 'स्वालंकारो व्यक्तिविवेचनाख्यः' किन्तु सर्वस्व मे व्यक्तिविवेक के नाम से। अनुमिति के अन्तर्गत ही ध्वनि को गतार्थ करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य था।[2] ध्वनि के इस समालोचन मे उन्होने न्याय या वैशेषिक से नही अपितु काश्मीर शैवदर्शन से यौक्तिक आधार लिया है।[3] महिमभट्ट से पूर्व शकुक ने रससूत्र की अनुमितिवादी व्याख्या मे, तथा ध्वनिवाद के ध्वंसक ग्रन्थ हृदयदर्पण के लेखक ने ध्वनिवाद की आलोचना-सरणि की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर दी थी। शकुक आदि के द्वारा उद्भावित आलोचना का उत्तर भी आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे और बाद मे हृदयदर्पण आदि की आलोचना का उत्तर अभिनव गुप्त ने लोचन तथा अभिनवभारती मे दे दिया था इस प्रकार महिमभट्ट द्वारा उपबृंहित अनेक ध्वनिविप्रतिपत्तियों का उत्तर ध्वन्यालोक में ही पूर्वतः विद्यमान था। अन्य अनेक विप्रतिपत्तियों का उत्तर प्रातिपद्येन रुय्यक ने अपने व्यक्तिविवेकविचार में दिया है।[4] उन्होने महिमभट्ट के मत की व्याख्या करने के साथ ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थिति और मान्यताए भी स्पष्ट की हैं, इसके लिए उन्होने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ग्रन्थो का तो अध्ययन किया ही था साथ ही

---

१. वहीं, पृ० ३३७ तथा इसी मत के लिए देखिए—एवं च कार्यसमारोपेऽपि ज्ञेया इत्यादि। —अ० स० पृ० ११० तथा ११३।

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥
—व्यक्तिविवेक का उपोद्घात पद्य।

३. Comparative Aesthetics, खण्ड १, पृ० २७५-२८५।

४. इस सम्बन्ध में व्यक्तिविवेकविचार (काशी) पृ० १३, २२, १६, ५०, ५८-६, ७४, ७६, ७७, ८१, १६६, १७६ विशेषतः द्रष्टव्य है।

ध्वन्यालोक पर अप्राप्त चन्द्रिका नाम की टीका, हृदयदर्पण तथा काव्यकौतुक आदि से भी सहायता ली थी। महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए ध्वनि के सिद्धान्तों की रुय्यक ने पुनः स्थापना की है अतः न केवल अनुमितिवाद को समझने के लिए अपितु उसके द्वारा ध्वनि के विरोध मे उठाई गई आपत्तियों के उत्तर के लिए भी रुय्यक की व्यक्तिविवेक पर विचार विशेषण या व्याख्यान नामक टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। और इस टीकाकार का ध्वनिसिद्धान्त के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है।

व्यक्तिविवेकविचार सर्वस्व से पहले लिखा गया था या बाद में इस सम्बन्ध में दोनो ही सम्भावनाए सम्भव हैं। सर्वस्वकार ने पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए महिमभट्ट के अनुमितिवाद का, ध्वनिवादी के मत को सिद्धान्तपक्ष मानकर, उल्लेख किया है। अन्त मे उसका कहना है—

तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनमिति नेह प्रतन्यते।

—अ० स० पृ० १६

इस सन्दर्भ के 'नेह प्रतन्यते' से अधिक-से-अधिक यही ध्वनि निकलती है कि अन्यत्र इसका 'प्रतान' किया गया है या किया जाएगा। सर्वस्वकार द्वारा इस स्थान पर व्यक्तिविवेक पर अपने 'विचार' नामक व्याख्यान का उल्लेख न करना जहाँ इस सम्भावना को जन्म देता है कि यह सर्वस्व के बाद में लिखा गया था वहाँ जयरथ की 'नेह प्रतन्यते' पर 'व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवेतद् वितत्य निर्णीतमिति भावः'[1] इस टिप्पणी मे 'निर्णीतम्' का भूतकालिक शक्तिशाली (निर्णय) प्रयोग उसे सर्वस्व से पूर्वरचना मानने की सम्भावना को बलवती बनाता है।

व्यक्तिविवेक-व्याख्यान और सर्वस्व दोनो मे भाषा और चिन्तन दोनों की दृष्टि से पूर्ण साम्य है। स्पष्ट पर सक्षिप्त, गम्भीर पर सरल प्रतिपादन, निपुण आलोचनापूर्ण शैली सर्वस्व और व्यक्तिविवेक-व्याख्यान दोनो की विशेषता है। 'नमस्कृत्य परां वाचम्' का मगल पद्य काश्मीर शैवदर्शन की भक्ति का यदि परिचय देता है तो विचार में घटादि सज्ञा शब्दो के प्रवृत्तिनिमित्त का विवेचन करते हुए उन्हे प्रकाशस्वभाव का बताना, उनकी बहिः-सिद्धि न मानकर प्रतिपत्ता से ऐकात्म्य स्थापित करना, उनके स्वातन्त्र्य की व्याख्या करना आदि[2]

१. वि० पृ० १६।

२. व्य० वि० व्या० पृ० ३३-३४।

उसी दर्शन के प्रौढज्ञान का पर्याप्त प्रमाण है। 'अलंकारतन्त्रप्रजापति' उद्भट के विचारो का प्रभाव, विशेषतया उनका अनुसरण, सर्वस्व और व्यक्तिविवेक-व्याख्यान दोनो की विशेषता है। हाँ, दूसरे आलकारिको के मतो से परिचय के प्रमाण भी दोनो ग्रन्थो मे कम नही हैं। सर्वस्व के अलकारस्वरूप तथा वर्गी-करण के अनुसार अभेदप्रधान आरोप रूपक मे होता है, साध्य अध्यव-साय उत्प्रेक्षा में तथा सिद्ध अध्यवसाय अतिशयोक्ति मे होता है। इन सभी में सादृश्य अनुस्यूत रहता है। किन्तु उपमा मे सादृश्यमात्र रहता है आरोप या अध्यवसाय नही। इन विभिन्न अलकारो का यही स्वरूप अविरल रूप में व्यक्तिविवेकव्याख्यान मे मिलता है—

तथाहि क्वचित् सादृश्यमात्रं विवक्षितम्। तथापि क्वचिद् भेदः, तस्मिन्नपि क्वचिदारोपः। क्वचिदध्यवसायः। अध्यवसायेऽपि क्वचित् साध्यत्वं क्वचित् सिद्धत्वमित्यादिक्रमेणानन्तप्रकारः विच्छित्तिवैचित्र्यम्।

—व्य० वि० व्या० पृ० ३७३

अलंकारस्वरूप के निर्देश मे सर्वस्व तथा व्यक्तिविवेक-व्याख्यान के शब्दो तथा विचारो का यह अविकल साम्य महत्त्वपूर्ण है। श्लेषके सम्बन्ध में व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान का निम्नलिखित मत है—

अलकारान्तरविविक्तविषयाभावेन सर्वालकारापवादत्वात् श्लेषस्यो-पमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः [1] —व्य० वि० व्या० पृ० ३३६-३७

यही मत सर्वस्व मे विशद रूप से प्रतिपादित है।[2] परवर्ती आलकारिको ने सर्वस्वकार के नाम से इस मत का उल्लेख भी किया है। इसी प्रकार लाटानु-प्रास[3], सापह्नवोत्प्रेक्षा[4] के स्वरूपनिरूपण तथा 'सचारपूतानि दिगन्तराणि' 'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि' आदि उदाहरणो के अलकारनिर्देश में सर्वस्व तथा व्यक्तिविवेक-व्याख्यान मे पूर्ण साम्य है। उपमेयोपमा के उदा-हरण मे रुय्यक ने 'हसश्चन्द्रइव चंद्र इव हस' (अ०स० पृ० ४०)यह पाठ स्वी-कार किया है। व्यक्तिविवेकव्याख्यान(पृ० २५३)मे सर्वस्वकार ने मूल ग्रन्थ के

१. तथा देखिए—व्य० वि० व्या० पृ० ४, ३४० इत्यादि।

२. अ० स० पृ० १२७, २४९-५०।

३. अ० स० पृ० २८, व्य० वि० व्या० पृ० २८८-८९।

४. अ०स० पृ० ६५, ७३ तथा ७८, व्य० वि० व्या० पृ० २२५ तथा २४१।

'हंस इव शशी शशीव कलहंस.' पाठ के स्थान पर उपर्युक्त पाठ को युक्त माना था। इसी प्रकार शब्दार्थपौनरुक्त्य,[1] अर्थभेदाच्छब्दभेदः[2], आरोपलक्षरण,[3] आरोपविषय और आरोप्यमाण विषयी, लिंगसंख्यावेष्टिता आदि[4] अनेक ऐसे विषय हैं जिनमें भाषा और विचार दोनो की दृष्टि से सर्वस्व तथा व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में शब्द तथा तात्पर्य का अविरल साम्य है जो इन दोनों के प्रायः कुछ समय के ही अन्तर से और एक व्यक्ति द्वारा लिखे जाने के पर्याप्त और पुष्ट प्रमाण हैं।

सर्वस्वकार के इन द्वादश[5] ग्रन्थो के प्रणयन का पूर्वापर क्रम नियत करने के लिए निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल परवर्ती ग्रन्थों (विशेषत· व्यक्तिविवेक-व्याख्यान तथा अलंकारसर्वस्व) में अनेक सन्दर्भ तथा भाषा और विचार की क्रमिक परिपक्वता (जिससे किसी निर्णय पर पहुँचना सहसा सरल नहीं होता है विशेषतः जबकि अधिक संख्या में ग्रन्थ अभी तक

१. अ० स० पृ० १९-२०, २७, व्य० वि० व्या० पृ० २८८, ३०८, ३२७, ३३३।

२. अ० स० पृ० १२४, व्य वि० व्या० पृ० ३३५-३३६।

३. अ० स० पृ० ४३।

४. अ० स० पृ० ४६, व्य० वि० व्या० पृ० ३५४।

५. द्वादश ग्रन्थों में से पाँच प्रकाशित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(क) अलंकारसर्वस्व— निर्णयसागर संस्करण (दो), १८९३ ई० तथा १९३९ ई०।
वही — अनन्तशयनम् संस्करण (दो), १९१५ ई० तथा १९२८ ई०।
वही — (केल, १८८६ ई० अनुवाद के रूप मे)।
वही — शारदा संस्कृत ग्रन्थमाला, नवम प्रसून, बनारस, १९३६ ई०।

(ख) सहृदयलीला —पिशेल द्वारा तथा निर्णयसागर से प्रकाशित।

(ग) साहित्यमीमांसा—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, संख्या ३, १९३४ ई० के० साम्बशिवशास्त्री द्वारा सम्पादित।

(घ) व्यक्तिविवेक-व्याख्यान त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, न० ५, १९०९ ई०
वही —काशी संस्कृत सीरीज, बनारस १९३६ ई०।

(ङ) काव्यप्रकाशसंकेत—कलकत्ता ओरियन्टल जर्नल, खण्ड २।

अनुपलब्ध हैं) से केवल यह सम्भावना की जा सकती है कि सहृदयलीला से रुय्यक ने अपना लेखक-जीवन प्रारम्भ किया था। उसके बाद साहित्यमीमांसा तथा नाटकमीमांसा लिखी। इसके बाद ही अलंकारनिरूपण उसने अपना क्षेत्र चुना और अलंकारानुसारिणी, अलंकारमंजरी तथा अलंकारवार्तिक इन छोटे टीका तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों के प्रणयन के साथ या इससे पहिले काव्यप्रकाश पर संकेत नाम से टीका की। हर्षचरित पर अपनी वार्तिक लिखने के बाद ही उन्होंने व्यक्तिविवेक-व्याख्यान या विचार का प्रणयन किया होगा। इसी समय उनका विचार बृहती नाम से एक ग्रन्थ लिखने का था जो सम्भवतः पूरा न हो सका। श्रीकण्ठस्तव के प्रणयनकाल के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि अलंकारसर्वस्व के पूर्व, अन्य प्रायः सभी ग्रन्थों की भाँति, इसकी रचना हो चुकी थी। भाषा-शैली, चिन्तनगाम्भीर्य और विचार-वैशदी की दृष्टि से सर्वस्व सबसे बाद की रचना है। यही उनके कृतित्व का अमर कीर्तिस्तम्भ है। इसका रचनाकाल ११३५-५० ई० के बीच में स्थिर किया गया है और इस प्रकार उनका लेखन-जीवन इन बारह ग्रन्थों की रचना के लिए कम-से कम २०-२५ वर्ष के अन्तर्गत माना जाए तो अनुचित न होगा। रुय्यक के बारह ग्रन्थों में केवल पाँच ग्रन्थ ही अभी तक प्रकाश में आ पाए हैं। संस्कृत साहित्य का समूचा इतिहास ही ग्रन्थों के लोप हो जाने की कहानी है। फिर भला सर्वस्वकार इस ऐतिहासिक निरपेक्षा से कैसे बच सकते थे !

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार तथा उनकी टीकाएं

अलक

रत्नकण्ठ की काव्यप्रकाशटीका सारसमुच्चय के अनुसार[1] काव्यप्रकाश का सहलेखक राजानक अलक सर्वस्व का एक टीकाकार है। विभिन्न पाण्डुलिपियों में अलक के अतिरिक्त अलट और अल्लट के रूप में भी नाम प्राप्त होता है।[2] 'ट' से समाप्त होनेवाले अनेक नाम काश्मीरी परम्परा में मिलते हैं जैसे कि रुद्रट, मम्मट, कल्लट, भल्लट। 'क' से समाप्त होनेवाले नामों की भी परम्परा है जैसे कि शकुक, कुन्तक, लकक, मंखक आदि। अतः स्टेन और

१. पीटर्सन रिपोर्ट (२), पृ० १७।

२. श्रीविद्याचक्रवर्ती ने स० प्र० (द्वितीय भाग, पृ० ४४६) में अलर्क नाम भी दिया है।

डा० दे के अनुसार[1] न तो यही कहा जा सकता है कि टीकाकार का नाम टान्त रहा होगा और न 'क' से अन्त होनेवाले काश्मीरी नामों के आधार पर अलक नाम के पक्ष में ही निर्णय दिया जा सकता है। सम्भव है दोनों ही प्रकार से नाम बहुत दिनों से प्रचलित रहा हो। पीटर्सन ने काव्यप्रकाश के सहलेखक और अलंकारसर्वस्व के टीकाकार अलक को एक ही मानने का सुझाव दिया है।[2] पर यह मेरी दृष्टि मे सम्भव नही है। काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व पर टीका लिखने वाले श्रीविद्याचक्रवर्ती ने कही भी इन्हे एक मानने का सकेत नहीं दिया है, यद्यपि उन्होने अलक को काव्यप्रकाश के सहलेखक के रूप में अवश्य माना है। रुय्यक ने स्वय काव्यप्रकाश पर टीका लिखी थी। काव्यप्रकाश को उन्होंने मम्मट और अलक दोनो की कृति माना है। काव्यप्रकाशसकेत की प्रथम तथा दशम परिच्छेद की पुष्पिकाए तथा 'इत्येष मार्गो विदुषां' आदि श्लोक पर रुय्यक-कृत सकेत इसका प्रमाण हैं। अत इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नही है कि काव्यप्रकाश का सहलेखक अलक सर्वस्कार से ज्येष्ठ था। यह विचित्र लगता है कि रुय्यक और अलक एक-दूसरे के टीकाकार हों, यह इसलिए भी सम्भव नही प्रतीत होता क्योकि बाद में जिन अनेक लेखको ने अलक को काव्यप्रकाश के सहलेखक के रूप में स्मरण किया है उनमें से किसी ने (और इसमें रुय्यक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं) यह सूचना या संकेत तक नही दिया है कि अलक सर्वस्व के टीकाकार भी हैं। अर्वाचीन आलकारिकों तथा अलकार-टीकाकारों (जैसे कि जगन्नाथ, मल्लिनाथ, कुमार-स्वामी) के ग्रन्थो में सर्वस्व और उसकी विमर्शिनी तथा संजीवनी के सन्दर्भ हैं, पर कही भी किसी ने रत्नकण्ठ को छोडकर अलक की टीका का सदर्भ नही दिया है। सर्वस्व का उल्लेख न करने वाले तथा काव्यप्रकाश पर ही टीका लिखने वाले आलकारिक भी अलक का टीकाकार के रूप में स्मरण नही करते हैं। अतः यह मानना कठिन है कि काव्यप्रकाश की पूर्ति करने वाला अलक सर्वस्व का टीकाकार रहा होगा। सर्वस्व के व्याख्याता अलक की टीका आज तक उपलब्ध नही है। जयरथ द्वारा अनेक व्याख्यानान्तर की चर्चा करने पर भी उन्होंने न तो अलक का कही नाम लिया है और न टीका का ही उल्लेख

१. देखिए—Jammu Cat पृ० २३ तथा हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १५० ।

२. पीटर्सन रिपोर्ट (२), पृ० १७ ।

किया है। इन सबके अभाव में इस अलक के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग काव्यप्रकाश के पूरक अलक को रत्नाकर के हरविजय नामक काव्य पर विषमपदोद्योत टीका लिखने वाला बताते हैं,[१] और कुछ[२] सान्धिविग्रहिक अलकदत्त को (जो कल्याण, सम्भवतः कल्हण, के गुरु थे) एक व्यक्ति बताना चाहते हैं, पर निश्चित प्रमाण के अभाव में कुछ भी निश्चित कर पाना कठिन है।

जयरथ

अलकारसर्वस्व के सुपरिचित और बहुश्रुत टीकाकार हैं राजानक जयरथ। इनकी टीका का नाम है अलकारविमर्शिनी। यह केवल विमर्शिनी नाम से अधिक विख्यात है। जयरथ का उल्लेख भी अलकार-ग्रंथो मे विमर्शिनीकार के रूप में ही प्राय होता है। अलकारविमर्शिनी की मेरे द्वारा परीक्षित पाण्डु-लिपियो की पुष्पिकाओ में जयरथ[३] ही लेखक का नाम है। उनके कृतित्व का सूचक, विमर्शिनी के समाप्ति-पद्यों में से एक है—

तदात्मजन्मा वैदग्ध्यबन्धुर्जयरथाभिधः।
व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम् ॥

इस श्लोक मे किसी पाण्डुलिपि में पाठान्तर नही है। जयरथ के स्थान पर जयद्रथ छन्दोभग के विना हो भी नही सकता है। विमर्शिनी की कुछ काश्मीरिक पाण्डुलिपियो या सारसमुच्चय[४] के हस्तलेख मे जयद्रथ के रूप मे उल्लेख लिपिक की गलती से ही मानना चाहिए। अतः यह निर्णय स्वाभाविक है कि अलकारविमर्शिनीकार का नाम जयरथ है। इनके छोटे भाई का[५] (जिन्होने हरचरितचिन्तामणि लिखी है[६]) नाम जयद्रथ था। यही कारण है

१. संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १६४।
२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २६२।
३. भा० पाण्डुलिपि में जयद्रथ लिखने के बाद शुद्ध करके जयरथ किया हुआ मिलता है।
४. पीटर्सन रिपोर्ट २, पृ० १७।
५. जयरथजयद्रथाख्यौ सकलजनानन्दकौ समगुणार्ढ्यौ।
अमृतशशिनाविवाब्धेरस्मात् कमलाश्रयादुदितौ ॥
—त० आ० (द्वादश भाग) पृ० ४३३।
६. का० मा० ६१ के अन्तर्गत १८९७ ई० में शिवदत्त शर्मा ने इसका सम्पादन किया है। ३२वें प्रकाश (अध्याय) के ४५वें श्लोक तक ही इसका

कि अनेक अधुनातन विद्वानो ने विमर्शिनी के लेखक का नाम जयद्रथ मान लिया और अनेक हरिचरितचिन्तामणि को विमर्शिनीकार की कृति मानने लगे। प्रतीत होता है कि नामान्त मे 'रथ' का प्रयोग इनके कुल की परम्परा थी। इनके पिता का नाम शृंगाररथ था। जयरथ ने अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक पर वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान विवेक नाम से लिखा है। हरचरित-चिन्तामणि मे भगवान् शिव के 'शास्त्रदृष्ट' चरित्रो का वर्णन है। प्रारम्भ से अन्ततक यह काव्य (जिसे मेरी दृष्टि से पुराण-काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा) काश्मीर शैवदर्शन, धर्म तथा शिवभक्ति के परोक्ष एव अपरोक्ष विवेचन से भरा पड़ा है। शिव और शक्ति का सामरस्य, भैरवचक्र में कालसाधना आदि रहस्यवाद के सूत्र भी इसमे (विशेषत. अन्त मे) परिलक्षित होते हैं। इसे और तन्त्रालोक पर विवेक टीका को पढने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों एक ही दार्शनिक की कृतियाँ हैं। विवेक टीका के अन्त मे जयरथ ने अपने वश का परिचय दिया है। इनके अनेक पूर्वज जैसे कि पूर्णमनोरथ, उत्पल तथा शिवरथ क्रमश. यशस्कर, अनन्त तथा उच्चल राजाओ के सचिव थे। जयरथ के पिता शृंगाररथ भी राजराज के प्रधान सचिव (**मन्त्रिणामग्रणीः**) थे। इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी राजराज (राजदेव) नामक राजा काश्मीर के निकट सतीसर का एक राजहस था। मखक के अनुसार सतीसर उत्तर दिशा के ललाटभूत काश्मीर का वह मण्डल है जहा ब्रह्मा ने सृष्टि-यज्ञ के अनन्तर अवभृथ स्नान किया था।[1] जयरथ ने महाविद्वान् श्रीसगधर से विद्या पाई थी। इनके दीक्षागुरु श्रीसुभटरत्न थे जो इनके पिता के भी गुरु थे। अपने पिता शृंगाररथ को भी विवेककार जयरथ ने परमगुरु माना है—**श्रीशृङ्गारो ममापि परमगुरुः**। व्याकरण, न्याय, मीमासा आदि शास्त्रों, विशेषत शैवागम तथा कुलदर्शन एव क्रमदर्शन के विख्यात विद्वान् के रूप मे इन्हें अमल ख्याति

प्रकाशन हुआ है अतः पूर्ण ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है। सम्पादक ने मुखपृष्ठों पर लेखक का नाम जयरथ दिया है। प्रकाश की कुछ पुष्पिकाओं में जयद्रथ नाम भी प्राप्त होता है किन्तु जयरथ पाठान्तर भी सम्पादक की 'ख' पुस्तक का है अतः यह निश्चित नहीं है कि हरचरित-चिन्तामणि जयरथ की कृति है या जयद्रथ की।

१. **कुबेरसख्याः ककुभो ललाटिका यदेति काश्मीरपदाभिधेयताम्।
सतीसरो नाम तदस्ति मण्डलं विश्विसर्गावभृथः प्रजापतेः॥**

--श्रीकण्ठचरित ३।१।

अपने समय में ही मिल चुकी थी। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक उल्लेख्य है—

पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि,
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।
तथाप्यस्यामङ्ग क्वचन भुवि नास्ति त्रिकदृशि
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः॥

—तन्त्रालोक, भाग १२, श्लोक ४७, पृ० ४३४-३५

वस्तुतः कुलपरम्परा से ही शैवागम के अध्ययनादि की परम्परा जयरथ के वश में चली आ रही थी। इनके पूर्वजों में जहाँ अनेक राजसम्मानित पदों पर थे वहीं दूसरे अनेक शिवरथ, गुणरथ आदि मोक्षसेवा, मठादिनिर्माण और मन्दिरों के जीर्णोद्धार आदि को ही अपना एकमात्र कार्य मानते थे। वैदुष्य और आभिजात्य जयरथ को कुलक्रमागत ऋक्थ के रूप में मिला था; वैदग्ध्य इनका बन्धु था।

तदात्मजन्मा वैदग्ध्यबन्धुर्जयरथाभिधः।
व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम्॥ —वि० पृ० २५७

समय

जयरथ का समय निश्चित करना कठिन नहीं है। राजराज का (जिन्हें राजदेव के नाम से ऐतिहासिक जानते हैं)[1] समय १२०३ से १२२६ तक माना जाता है।[2] जयरथ के पिता इस राजा के मन्त्री थे ही, जयरथ को भी उससे विवेक लिखने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था।[3] जयरथ का समय और भी निश्चित रूप से निर्णय करने का प्रमाण है पृथ्वीराजविजय से विमर्शिनी (पृ० ६४) में उद्धरण। पृथ्वीराज का अवसानकाल ११९३ ई० है। अतः जयरथ का समय द्वादश शतक का अन्तिमभाग तथा त्रयोदश शतक का प्रथम भाग विद्वानों को मान्य है।

रचनाएं

अलंकारविमर्शिनी के अतिरिक्त अभिनवगुप्त के विशाल तन्त्रालोक पर

---

१. देखिए जे० आर० ए० एस० १८९७, पृ० २८३।

२. राजराज इति भूभुजामभूदग्रणीर्गुणिगणाश्रयः परम्।
तां सतीसरसि राजहंसतामातनोत्किल वनागमेऽपि यः॥ —वि० २५०।

३. इह मम गतस्तन्त्रालोके विवेचयतो यतो, निरवधिमभिप्रेतोत्साहः स एव निमित्तताम्। —तन्त्रालोक १२ वां भाग, पृ० ४३२।

वैदुष्यपूर्ण टीका विवेक की हम चर्चा कर चुके हैं। विवेक और विमर्शिनी में किसका प्रणयन पहले हुआ, यह कहना कठिन है। विवेक मे गम्भीर दार्शनिक विवेचन है अत: उसमे विमर्शिनी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ता है। विवेक का लेखक (जैसा कि वह आह्निकों की समाप्ति के समय सूचित करता है) न केवल 'कौमारिलनैयायिकमतविमतिसतत्त्वविद्' या 'निःशेषषड्विधाध्वप्रविभाग-सतत्त्वविद्' है अपितु वह कौलादि मत का दीक्षित भक्त भी है। इससे प्रतीत होता है कि ढलती वयस में जयरथ ने यह विशद व्याख्यान लिखा होगा और उसके पहिले विमर्शिनी लिखी जा चुकी होगी। विवेक और अलंकारविमर्शिनी के अतिरिक्त इनकी तीसरी कृति अलकारोदाहरण है। इसकी रचना जयरथ ने अपने पौत्र को अलकारज्ञान कराने के लिए की थी। यह अलकारविमर्शिनी के बाद में लिखी गई थी। भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान से नागरीलिपि की एक पाण्डुलिपि के समाप्ति-पद्य हैं—

प्रतिज्ञामात्रमेवैतदित्युपेक्ष्य विचक्षणैः ।
अलंकारविमर्शिन्यां युक्तिरुक्तवरात्र यत् ॥
संगकमुद्दिश्य निज मत्यपि बाल्ये श्रुतार्थिनं पौत्रम् ।
अलिखन्निखिलालकृतिसिद्धान्त जयरथः स्फुटार्थपदम् ॥

इसके प्रायः सभी उदाहरण सर्वस्व, विमर्शिनी तथा शोभाकर के अलकाररत्नाकर से लिए गए हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि जिन अल-कारो का खण्डन जयरथ ने अपनी विमर्शिनी मे किया है उन्ही अलकारो का बालावबोधाय इसमे संग्रह भी कर दिया गया है। प्रौढ़ि का कम सरलता का अधिक ध्यान रखा गया है। चूंकि अभी तक इसका प्रकाशन नही हुआ है अतः अलंकारोदाहरण के अलकारो की सूची यहां दे दी जाती है। अनेक अलंकारों के लक्षण भी लिख दिए जारहे हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि जयरथ ने किस प्रकार सर्वस्व आदि से ही लक्षण का सग्रह किया है। विमर्शिनी मे जिन मतों और विवेचनाओ की प्राप्ति होती है उन सभी का सरल रूप में सन्निवेश अलंकारोदाहरण में है। यह पूर्णत. स्वाभाविक भी है और उचित भी।

शब्दालंकार

१. अनुप्रास —तत्र व्यंजनमात्रपौनरुक्त्यमनुप्रासः ।
प्रायश्चास्य एकद्वित्रिचतुरादेर्व्यंजनमात्रकस्य समस्तासमस्ता-त्वरत्वेन पौनरुक्त्येऽष्टौ भेदाः ।

२. यमक —इसके अनेक भेदों का विमर्शिनी के अनुसार विवेचन है।

३. अनुप्रास —वृत्त्यनुप्रासादि ।
४. चित्र —खगबन्ध, मुरजबन्ध आदि अनेक भेदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन है ।

✓ अर्थालंकार

१. उपमा
२. अनन्वय
३. उपमेयोपमा —द्वयोरन्योन्यमुपमेयोपमा ।
* ४. असम
५. स्मरण
* ६. विनोद
‡ ७ तत्सदृशादर (प्रथम) —अभीष्टसिद्ध्यै तत्सदृशादरश्च ।
‡ ८. सस्कार —अनुभूतवासनानुमेयस्संस्कार । शोभाकर इसे भ्रान्ति के अन्तर्गत मानते है ।
* ९ क्रियातिपत्ति —औप (?)पम्याद्यनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः । यथार्थोक्तादसभाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः—अ० र०।
१० रूपक
११ परिणाम उपमानोपमेययोरन्यतरत्वेन परिणतौ परिणामः । रुय्यक तथा शोभाकर के लक्षण इससे भिन्न हैं ।
* १२. वितर्क —स्वातन्त्र्येण विकल्पवैचित्र्य वितर्कः । ऊहापोहात्मकेन चारुत्व द्वैविध्यम् ।। संभावित संभाव्यमानापोहो वितर्कः ।—अ० र० ।
‡ १३. तात्पर्य —अनेकनिर्देशे एकत्र तात्पर्येच्छा तात्पर्यम् (दो भेद)।
१४. भ्रान्तिमान्
* १५. विपर्यय —धर्मिधर्मविपर्यासो विपर्ययः । धर्मिधर्मभावस्य धर्माणां विनिमयो विपर्ययः ।—अ०र०।

---

* जो अलंकार वि० में खण्डनदशा आए हैं या जो सर्वस्वकार के अनुसार अलंकार नहीं हैं उन्हें * संकेत से सूचित किया गया है ।
यत्र तत्र तुलना के लिए पहले अलंकारोदाहरण से लक्षण लिखकर अ० र० से लक्षण भी दे दिए गए हैं ।

‡ जो अलंकार शोभाकर को भी सम्मत नहीं हैं वे ‡ चिह्नित हैं ।

१६. उल्लेख
१७. अपह्नुति
१८. उत्प्रेक्षा —प्रकृतस्याप्रकृतत्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा।
१९. अतिशयोक्ति — नौ भेद।
२०. तुल्ययोगिता-दीपक —औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुताप्रस्तुतानां तुल्ययोगिता-दीपकम्।
२१. दृष्टान्त
२२. निदर्शना
२३. व्यतिरेक —एक विशेषभेद है— सजातीयस्यातद्धर्मित्वं च।
२४. सहोक्ति —उपमानोपमेययोः सहार्थेन सह सम्बन्ध. सहोक्तिः।
२५. विनोक्ति —अविनाभाविनां विनाभाववचनं विनोक्तिः।
२६. समासोक्ति
२७. परिकर
२८. श्लेष —प्रस्तुताप्रस्तुतानां सभंगासभगपदतया साम्ये श्लेषः
२९ अप्रस्तुतप्रशसा
३०. अर्थान्तरन्यास
* ३१. उदाहरण —सामान्यस्य विशेषेण विशदीकरणमुदाहरणम्।
सामान्योष्टिानामेकस्य निदर्शनमुदाहरणम्।—अ० र०।
३२ पर्यायोक्ति
३३. आक्षेप
३४ द्वितीय आक्षेप—अनिष्टविध्याभासश्च।
* ३५. निश्चय —विहिताशंकितयोर्विशेषावगमाय निषेधे निश्चयः।
विहितस्याशंकितस्य वा विशेषावगमाय निषेधो निश्चयः।—अ० र०।
३६. विरोध
३७. विभावना
३८. विशेषोक्ति
३९. असंगति
४०. विषम —अर्थानर्थपदे(?)तदन्यस्योत्पत्तिर्विषमम्।
४१. (द्वितीय) विषम—विरूपकार्योत्पत्तिर्विरूपसघटना च।
४२. सम

४३. विचित्र —स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नेनानिष्फलश्च विचित्रम्।
विफलः प्रयत्नो विचित्रम् ।—अ० र० ।
* ४४. अनादर —अप्राप्तार्थं तत्तुल्यानादरोऽनादरः ।
* ४५. आदर (द्वितीय)—त्यक्तस्वीकार आदरः । अ० र० का भी शब्दशः यही लक्षण है ।
४६ अन्योन्य —रूपधर्मयोः परस्परजननेऽन्योन्यम् ।
रूपधर्मयोः परस्परनिबन्धनत्वमन्योन्यम् ।—अ० र०।
४७ विशेष
४८. व्याघात
४९ व्याघात (द्वितीय) —सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।
* ५० शृंखला —उत्कर्षार्थमन्यस्यान्यत्र बन्धनं शृंखला ।
उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययो वा शृंखला ।
—अ० र० ।
५१ अनुमान
* ५२ व्याप्ति —सर्वथा सम्भवासम्भवप्रतीतौ व्याप्तिः ।
सर्वथा सम्भवोऽसम्भवो वा व्याप्तिः ।—अ० र० ।
* ५३. प्रसग —अनिष्टापादनं प्रसगः
प्रसगादन्यार्थः प्रसगः ।—अ० र० सू० ८७ ।
५४. पर्याय
* ५५ समता —दोषगुणयोस्तदन्याभ्यां समाधानं समता ।
तदन्याभ्यां समाधानं समता ।—अ० र० सू० ६७ ।
* ५६. तुल्य —निवृत्तावन्योदयस्तुल्यम् ।
अ० र० का भी अक्षरशः यही लक्षण है ।
* ५७. वैधर्म्य —उद्दिष्टस्य प्रतिपक्षतयानुनिर्देशे वैधर्म्यम् । अ० र०
* ५८ परभाग का भी यही सूत्र है ।
अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ विभागावगमः परभागः ।
अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ परभागः विवेक इत्यनुपज्यते ।—अ० र० सू १०० तथा वृत्ति ।
* ५९. उद्रेक —गुणदोषयोः सुपरालेपयोरुत्कटत्वमुद्रेकः ।
सजातीयविजातीयाभ्यां तुच्छत्वमुद्रेकः ।
—अ० र० सू० ६७ ।

६०. परिसंख्या

* ६१. विधि —उत्कर्षार्थं प्रेषणं विधि.।
असम्भाव्यहेतुफलप्रेषणं विधि ।—अ० र० सू० ८२।

* ६२. प्रतिप्रसव —निवृत्तस्य पुनरुदयः प्रतिप्रसवः।
प्रत्यापत्तिः प्रतिप्रसवः। —अ० र० सू० ८५।
निवृत्तस्यार्थस्य पुन प्राप्ति.प्रत्यापत्तिः ।—वही वृत्ति

* ६३. तन्त्र —युगपदनेककार्यकारी यन्त्रस्तन्त्रम् ।
नानाफलप्रयुक्तप्रयत्नस्तन्त्रम् ।—अ० र० सू० ८६।

‡ ६४ अग अङ्गिनः फलवत्वे परस्याफलत्वमङ्गम् ।

‡ ६५. अनग —तद्विपर्ययोऽनगम् ।

६६ अर्थापत्ति

* ६७. सम्भव —समुदाये समुदायता(?)मुपपत्तिः संभव ।

६८. विकल्प

६९. समुच्चय

‡ ७०. अभ्यास —दुष्करसिद्धिकृदभ्यसनमभ्यासः ।

‡ ७१. अभीष्ट —स्वयंविधे यस्यापाततः सिद्धिरभीष्टम् ।

७२. समाधि

* ७३. प्रत्यूह —प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रत्यूहः ।—अ० र० का यही लक्षण है ।

७४ प्रत्यनीक —अनिष्टस्य तदीयस्य वा प्रातिकूल्यं प्रत्यनीकम् ।
तच्चात्र स्वमुखेन परमुखेन वेत्यस्य चातुर्विध्यम् ।

‡ ७५. अप्रत्यनीक

७६. प्रतीप —उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् ।

७७. मीलित

७८. सामान्य —प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम् ।

* ७९. विवेक —साम्यादभेदेऽपि कुतश्चित् भेदे विवेकः ।
—तस्यां कुतश्चिद्विवेको विवेकः ।—अ० र० सू० ९९।

८०. तद्गुण

८१. उत्तर

८२. सूक्ष्म

८३. व्याजोक्ति

८४. वक्रोक्ति
८५. स्वभावोक्ति
८६. भाविक —विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।
८७. उदात्त
८८. रसवदादि
८९. संसृष्टि
९०. सकर

अलकारोदाहरण की उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि जयरथ ने चित्रालकार के अनेक भेदों—खगबन्ध, पद्मबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध अक्षरच्युतक, गूढकरक आदि का विवेचन किया है। उन्होंने ऐसे अनेक अलकारो का भी विवेचन किया है जो सर्वस्व और अलकाररत्नाकर मे प्राप्त नही होते है जैसे कि अप्रत्यनीक, अग, अनग, अभ्यास, अभीष्ट, तात्पर्य, सभव तथा सस्कार।

मुरारिदान ने अपने जसवन्तजसोभूषण में यशस्कर के नाम से अलकारोदाहरण की चर्चा की है। जसवन्तजसोभूषण के अनुसार यशस्करकृत अलकारोदाहरण में नीचे लिखे आठ अलकार नवीन है—अग, अनग, अप्रत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट, तात्पर्य, तत्सदृशाकार तथा प्रतिबन्ध। यह सूची जयरथकृत अलकारोदाहरण से मिलती है। केवल प्रतिबन्ध नामक अलकार उस सूची में नही है और सभव तथा सस्कार दो और अधिक अलकार हैं।

यशस्कर का अलंकारोदाहरण (—निबद्धदेवीस्तोत्र) की पाण्डुलिपि भाण्डारकर प्राच्यविद्यासस्थान में २४१ सख्या के अन्तर्गत मिलती है। वस्तुत. यशस्कर ने जयरथ के अलकारोदाहरण के आधार पर देवीस्तोत्र का निर्माण, अलकारो के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए, किया है। अतः जसवन्तजसोभूषण के कथन से यह निष्कर्ष निकालना कि अलकारोदाहरण यशस्क अथवा यशस्कर की रचना है, ठीक नही है। जिन अलकारो का सर्वस्व में विवेचन नही है तथा जो अलकाररत्नाकर और अलकारोदाहरण मे मिलते हैं उनकी सूची निम्नलिखित है—असम, उद्रेक, अनादर (अथवा तत्सदृशादर), क्रियातिपत्ति, आदर (द्वितीय), तन्त्र, उदाहरण, तुल्य, निश्चय, विनोद, परभाग, विपर्यय, प्रतिप्रसव, विवेक, प्रत्यूह, व्याप्ति, प्रसग, वैषम्य, विधि, शृंखला तथा समता।

अलकाररत्नाकर के अनेक अलंकार ऐसे भी हैं जिनका उल्लेख अलं-

कारोदाहरण (तथा अलकारसर्वस्व) में नहीं है । उनकी सूची यह है—अचिन्त्य, अनुकृति, अभेद, अवरोह, अशक्य, आपत्ति, उद्भेद, क्रम, गूढ, नियम, प्रतिभा, प्रतिमा, प्रत्यादेश, वर्धमानक, विकल्पाभास, विध्याभास, व्यत्यास, व्यासङ्ग, सन्देहाभास, सस्कार तथा हेतु ।

इनमें से अनेक अलंकारो का खण्डन करने के लिए विमर्शिनी मे उल्लेख मिलता है जैसे कि अभेद, प्रतिमा वर्धमानक आदि का ।

अनेक अलकारलक्षणो को जयरथ ने शब्दश. अलकाररत्नाकर से लिया है जैसे कि तुल्य, वैधर्म्य, प्रत्यूह तथा प्रत्यनीक आदि । कुछ में बहुत थोडा परिवर्तन कर दिया है जैसे कि परभाग, प्रतिप्रसव आदि के लक्षणों में । अनेक अलंकार जैसे कि उद्रेक, तन्त्र आदि शब्दत. तो भिन्न है पर अर्थत: अलकाररत्नाकर (वृत्ति के साथ) से मिलते है । जयरथ ने उदाहरण भी सर्वस्व, विमर्शिनी तथा अलकाररत्नाकर से ही विशेषतया लिए हैं ।

अप्रत्यनीक, अग, अनग आदि नौ अलकार जयरथ द्वारा ही उद्भावित हैं, यह कहना कठिन है क्योकि सभव है कि अलंकारसार (जिसका सन्दर्भ अ० र० पृ० ६ मे भी मिलता है) तथा अलकारभाष्य में इनका वर्णन हो[1] । अलकारों के क्रमिक विकास का प्रामाणिक इतिहास लिखे जा सकने पर ही अलकारो के मौलिक उद्भावक के रूप मे जयरथ का स्थान निर्धारित हो सकेगा । अलकारोदाहरण शिशुपौत्र को अलकारो का ज्ञान कराने के लिए लिखा गया था । इसमे कोई सन्देह नही कि यह अपने इस उद्देश्य में सफल कृति है । जयरथ का आलंकारिक के रूप में आदर का श्रेय सर्वस्व पर उनकी मौलिक, गम्भीर और वैदुष्यपूर्ण टीका अलकारविमर्शिनी को है जो अलकारोदाहरण के पूर्व लिखी जा चुकी थी ।

अलंकारविमर्शिनी

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगगाधर की भाँति जयरथ की यह सर्वस्वटीका इतने अनेक सन्दर्भों से भरी पड़ी है कि सहसा यह निश्चय कर पाना कि टीकाकार का मौलिक अश कितना है, ठीक उसी प्रकार होगा जिसप्रकार महासागर मे गगा को खोज निकालना । जयरथ के पूर्व आलंकारिको की एक

---

१. उदाहरण के लिए संस्कार अलंकार, जो नौ अलकारों की सूची में है, वि० पृ० ५३ के अनुसार, अलंकारभाष्य द्वारा उद्भावित अलकार है ।

लम्बी और अविश्रृंखल परम्परा है। मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, अलंकारसार-कार, अलंकारभाष्यकार और न जाने कितने (एक काश्मीर के ही अनेक) आलंकारिक अलंकार-सागर को अनवरत भरते जा रहे थे। विमर्शिनी का युग अलंकारों के चिन्तनमनन का चूडाकाल है। एक के बाद दूसरा आलंकारिक प्राचीन अलकारों के अनुशीलन और नवीन अलकारो की उद्भावना में अपना अपना योगदान देता चला जा रहा था। यही समय था जब ध्वनिवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अलकारो को उस समय पृष्ठभूमि मे पडना चाहिए था। पर चाहें इसे अलंकारसम्प्रदाय की प्रतिक्रिया का फल कहे या सर्वतोमुखी चिन्तन की स्वतन्त्रता का, यह सच है कि अलकारों पर जितना विवेचन उस समय हुआ उतनी गम्भीरता के साथ फिर बाद में नही हुआ। दीक्षित का कुवलयानन्द और जगन्नाथ का अलकारविवेचन प्रौढ अवश्य है पर उसमें पूर्व की प्राप्तियो का लेखा-जोखा अधिक है। यह कहना भले ही अत्युक्ति हो कि अलकारविमर्शिनी का टीका के रूप में वही स्थान है जो अभिनव गुप्त के लोचन का, पर इसमे कोई सन्देह नही कि अलकारो के खण्डन-मण्डन की प्रौढि, गाम्भीर्य, विश्लेषणपूर्ण वैदुष्य तथा मौलिक चिन्तन का जो स्वरूप अलकार-विमर्शिनी मे मिलता है वह अलकारग्रन्थ के किसी दूसरे टीका-ग्रन्थ में नही है। विमर्शिनी के आधार पर सर्वस्व का जो अध्ययन यहा प्रस्तुत किया गया है, उसमें यथास्थान इस टीका के मतो का उल्लेख है। पर निश्चित ही इसके अनेक मतों और विवरणों का उल्लेख छूट गया है, क्योकि अलकारो की विषय-सीमा इतनी विस्तृत है कि इस प्रबन्ध मे सब कुछ को नही लाया जा सकता है। रुय्यक द्वारा सर्वस्व लिखने के कुछ ही समय बाद काश्मीर के शोभाकरमित्र ने अलकाररत्नाकर लिखा था। अलकाररत्नाकर के लेखक ने सर्वस्व से बहुत कुछ लिया है पर प्रारम्भ से ही अन्त तक उसने रुय्यक के मतो का यथासमव खण्डन करना चाहा है। जिसप्रकार पण्डितराज जगन्नाथ को अप्पय्यदीक्षित से चिढ़ है बहुत कुछ उसीप्रकार शोभाकर को सर्वस्वकार से। वैदुष्य-क्षेत्र मे यह लड़ाई पाण्डित्य-प्रसवा होती है। हुआ भी यही। शोभाकर ने सर्वस्व का खण्डनदृशा अत्यधिक मन्थन किया, अलकारों के लक्षण और उदाहरणो पर वज्र-प्रहार किया। जयरथ की विमर्शिनी की एक विशेषता है—शोभाकर द्वारा उल्लिखित अनेक आलोचनाओ का उत्तर। पर जैसा कि स्वाभाविक है एक ओर तो अलंकाररत्नाकर सर्वस्व से अनजाने बहुत कुछ ग्रहण करता गया है और दूसरी ओर विमर्शिनी ने अलकाररत्नाकर से खण्डन के साथ-साथ अपने विमर्श मे सहायता ली है। आलोचनात्मक मैत्री और विवेकपूर्ण विरोध का

यह सहज परिणाम होता है। सर्वस्व के बाद और अलकाररत्नाकर से पहिले दो और अलकारग्रन्थ लिखे गए—अलकारसार तथा अलकारभाष्य। शोभाकर का अलकाररत्नाकर पूना से प्रकाशित हो चुका है पर अभीतक उपर्युक्त ग्रन्थो का पता न चल सका है। अलकारसार तथा अलकारभाष्य दोनो ने ही विमर्शिनी के अनेक विमर्शों को अपने चिन्तन से प्रभावित किया है। इनका सक्षेप मे परिचय पा लेना आवश्यक है।

अलंकारसार

जयरथ से पूर्ववर्ती शोभाकर द्वारा अलकारसारकृत् के(अ०र०पृ०६) मत का उल्लेख इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि यह ग्रन्थ रुय्यक के किसी कनिष्ठ समकालीन ने लिखा था क्योकि शोभाकर और रुय्यक के समय मे पचास वर्ष से अधिक का अन्तर नही माना जा सकता है। अतएव यह अलकारसार इसी नाम के परवर्ती ग्रथो से भिन्न है।[1] शोभाकर तथा जयरथ ने इसका पर्याप्त उपयोग किया है। विमर्शिनी मे अलकारसार के जितने सदर्भ है वे सभी सर्वस्व के मत से भिन्न है। जयरथ ने कही तो समर्थनदृशा उनका उल्लेख किया है और कही उसकी मान्यता के विपरीत सर्वस्व के मत की रक्षा की है। शोभाकर ने सर्वस्व तथा अलकारसार दोनो ही की आलोचना की है। किन्तु वे भी उसके मतो से कम प्रभावित नही हैं। वस्तुत. जयरथ तथा शोभाकर को अलकारो की मीमासा करने मे अलंकारसार से बहुत अधिक सहायता मिली है। विमर्शिनी के निम्नलिखित सन्दर्भ खोए हुए अलकारसार के अलकारसाहित्य के इतिहास तथा विमर्शिनी और अलकाररत्नाकर आदि पर उसके प्रभाव पर प्रकाश डाल सकेंगे।[2]

रुय्यक 'पाण्डयोऽयमसार्पितलम्बहार.' (अ० स० पृ० ३४) में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से उपमा मानते है। इनके अनुसार पाण्डय उपमेय है और अद्रिराज उपमान। हार और अगराज क्रमश: निर्झर तथा बालातप के बिम्ब-

---

१. बालकृष्णभट्ट(१६२५-१७०० ई०), कवीश्वरराज, नृसिंह तथाभावदेव के ग्रन्थों का भी यही नाम है। NCC. पृ०२११।

२. इस सम्बन्ध में देखिए इस लेखक का निबन्ध—Alaṅkārasāra and the Alaṅkārabhāṣya: Their contribution to the History of Alaṅkāras. V. I. J. जिल्द १, खण्ड २, पृ० ३०१-१४।

प्रतिबिम्बरूप धर्म हैं। यह है सर्वस्वकार का मत। अलकारसारकार इस पूरे श्लोक को वाक्यार्थोपमा का उदाहरण मानते हैं। उनके अनुसार हार निर्झरादि भी गम्यमान धवलता आदि धर्म के आधार पर धर्मी है और उनमें परस्पर उपपमानोपमेयभाव है। अलकाररत्नाकर (पृ०६) मे इस मत का खण्डन है। विमर्शिनी मे अलकारसार के मत का पूर्णतः उपबृंहण है(पृ०३४-३५)और सर्वस्व के समर्थन मे उसका खण्डन भी।

रुय्यक का श्लेष के सम्बन्ध मे मत है—

तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयमिति। —अ० स० पृ० १३२

अलकारसार का मत ठीक इसके विपरीत है। इसके अनुसार अन्य अलकारो की भाति श्लेष-स्थल मे भी बाध्यबाधकभाव स्पष्ट रहता है और उसे सर्वालकारापवाद कहना अनुचित होगा। अलकारसारकार के इस मत का विमर्शिनी में (पृ० १२५) उल्लेख है, अनुसरण या समर्थन नही, पर अलकाररत्नाकर मे सर्वस्व की आलोचना का आधार यही अलकारसार है। सर्वस्व के मत की आलोचना मे शोभाकर का यह वक्तव्य देखिए —

अलकारान्तरविविक्तविषयत्वाभावात् निरवकाशत्वेन तद्बाधकत्वात् तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमेव न वाच्यम् . तस्मादेवमादौ अलंकारान्तरविविक्तविषयत्वान्न निरवकाशः श्लेषः। —अ० र० पृ० ७५-७६

रुय्यक के अनुसार उत्कृष्ट गुण की प्रत्यासत्ति होने पर भी न्यूनगुण द्वारा उसके गुणो का अनुहरण (जो कि स्वाभाविक है) न करना अतद्गुण अलंकार है—

सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः। —अ० स० पृ० २१४

इसका उदाहरण है—

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम्।
राअभरिते वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोऽसि॥

नायक धवल वर्ण है पर कामिनी के हृदय को वह राग (लालिमा) से रग देता है। किन्तु नायिका के अनुरागी हिय मे रहने पर भी उसमे राग (अनुराग तथा लालिमा) नही आ पाता है। अलकारसारकार अतद्गुण को एक पृथक् अलकार ही नही मानते।[1] उनके अनुसार विशेषोक्ति (कारण-सामग्री रहने पर भी फलोत्पत्ति न होना) मे ही अतद्गुण का अन्तर्भाव करना

१. वि० पृ० २१५।

चाहिए। जयरथ का कहना है कि अतद्गुण अलंकार का निरूपण रुय्यक ने चिरन्तन आलंकारिको के आधार पर कर दिया है। शोभाकर भी अलकार-सार के इस मत से सर्वदा सहमत हैं और सर्वस्व की (उपर्युक्त उदाहरण के साथ) प्रबल आलोचना करते हैं, जो वस्तुत. शोभाकर की नही, अलकारसार के लेखक की है—

. . सति हेतौ तद्रूपाननुहारोऽतद्गुण[1] इत्यतद्गुणालंकारो न वाच्यः।
हेतुसाकल्ये फलानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरिति[2] विशेषोक्तावन्तर्भावात्।
—अ० र० पृ० १६६

सर्वस्वकार उत्तर नामक अलंकार दो मानते है। एक का लक्षण है प्रश्न का उपादान न होने पर भी उत्तर का उन्नयन; और दूसरे का लक्षण हैं उपात्त प्रश्न का असम्भाव्य और असकृत् उत्तर देना—

उत्तरात्प्रश्नोन्नयनमसकृदसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम्। —अ० स० पृ० २१६।

अलकारसार इन दोनो को ही अलकार नही मानता।[3] शोभाकर ने इन दोनो का ही अन्तर्भाव (सभवत. अलकारसार के आधार पर ही) नियमालकार के अन्तर्गत किया है।[4] उन्होने न केवल सर्वस्व के उत्तरालकार के लक्षण की अपितु उदाहरण (का विसमा देखगई) की भी आलोचना करते हुए लिखा है—

इत्यादावन्यवैलक्षण्येन . . नियम एव ननु पृथगुत्तरालंकारो वाच्यः।
—अ० र० पृ० १४४

जयरथ अलकारसारकार से इस बात पर पूर्णत· सहमत नही है। वे सर्वस्व के उदाहरणों को तो सदोष समझते है

एतच्चोदाहरणद्वय ग्रन्थकृता प्राच्यमतानुरोधेन दत्तम्।
वस्तुतस्त्वत्र नास्त्येतदलंकारद्वयम्। —वि० पृ० २१६

किन्तु लक्षण को नही। इसीलिए उन्होने दूसरे उदाहरण देकर सर्वस्व के दोनो उत्तरालकार का समर्थन किया है।[5] विमर्शिनीकार ने शोभाकर की इस

१. निर्णयसागर का पाठ है 'तद्गुणाननुहारः'।
२. यह अ० र० का सूत्र (संख्या ५४) है।
३. वि० पृ० २१६।
४. तत्र त्वन्यमते उत्तरालकारो हि युक्तोऽस्मन्मते तु वक्ष्यमाणानीत्या नियम एव—अ० र० पृ० १४३।
५. वि० पृ० २१६-१७।

मान्यता को भी नही माना है कि उत्तरालकार का अन्तर्भाव नियमालकार में करना चाहिए।

सर्वस्व के उदात्तालकार (प्रथम) का स्वरूप है—किसी समृद्धिमत् वस्तु में कविप्रतिभोत्थापित ऐश्वर्य का वर्णन—

तत्रासभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णन कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्य-लक्षणमुदात्तम्।　　—अ० स० पृ० २३०

अलकारसार के अनुसार इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति मे करना चाहिए।[1] रुय्यक की आलोचना मे शोभाकर ने उनके लक्षण को सदोष तथा उदाहरण 'मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिता' आदि को 'असम्बन्धे सम्बन्धरूपा' अतिशयोक्ति का माना है[2] और इस प्रकार शोभाकर ने रुय्यक की आलोचना मे यहा भी अलकारसार का अनुसरणमात्र किया है।

सन्देहसकर के सम्बन्ध मे भी अलकारसार के विचार बहुत मौलिक है। जयरथ ने तो उनका उल्लेख किया ही है शोभाकर ने तो उसका पूर्णतः अनुसरण किया है। सर्वस्व के अनुसार सन्देहसकर का स्वरूप है—

यत्रान्यतरपरिग्रहे साधकं प्रमाणं नास्ति बाधक वा प्रमाण न विद्यते तत्र न्यायप्राप्तः संशय इति सन्देहसंकरस्तत्र विज्ञेय.　　—अ० स० पृ० २५०।

इसके एक उदाहरण '**यः कौमारहरः**' आदि (अ० स० पृ० २५०) में रुय्यक विभावना और विशेषोक्ति का तथा दूसरे उदाहरण '**यद्वक्त्रचन्द्रे नवयौवनेन**' (पृ० २५१) आदि मे उपमारूपक का सन्देहसकर मानते है। तीसरा उदाहरण सर्वस्व के समासोक्तिप्रकरण का है—'**दन्तप्रभापुष्पचिता**' (पृ० ११०) आदि जिसमे '**परीता हरिणेक्षणा**' पाठ स्वीकार करनेपर उपमा-रूपक का सन्देहसकर होगा। अलकारसारकार सन्देहसकर अलकार ही मानने को प्रस्तुत नही है। उनका कहना है कि सन्देह सदा किसी प्रमाता-विशेष को किसी नियतकाल और देश मे होता है '**स्थाणुर्वा पुरुषो वा**' के सन्देह मे सभी प्रमाता नही पडते है। इस प्रकार सन्देह 'नियतदेशकालप्रमातृगत' है। दूसरे सन्देह कभी अन्त तक नही रहता है। साधक या बाधक प्रमाण पाकर उसकी किसी एक कोटि का निवृत्त और दूसरी का प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। कोई भी अलकार पहले तो नियतप्रमाता के लिए नही होना और फिर यदि उसमे

---

१. वि० पृ० २३०-३१।

२. अ० र० पृ० १८८।

सन्देह का निबन्धन हो भी तब भी वाक्य के पर्यवसान में उसका निवृत्त होना आवश्यक है अतएव सन्देहसकर को अलकार ही नही माना जा सकता है। जयरथ ने अलकारसार के इस मत का विशद रूप मे (वि० पृ० ११३, २५१-५२) उल्लेख किया है। शोभाकर ने न केवल इस मत का प्रतिपादन किया है बल्कि सर्वस्व के उदाहरणो में क्रमश विभिन्न अलंकारो का निर्देश भी किया है[1], इस प्रकार अलकारसार का अलकारचिन्तन में महत्त्वपूर्ण योग है। अलकारो के इतिहास मे उसका कितना मौलिक योगदान है इसका अनुमान ऊपर के कतिपय सन्दर्भों से ही हो जाता है। उपर्युक्त सन्दर्भों से एक बात और स्पष्ट है कि यह ग्रथ सर्वस्व से परवर्ती है तथा इससे शोभाकर तथा जयरथ ने सर्वस्व के विरोध या समर्थन में लाभ उठाया है। अलकारसर्वस्व मे इसका उल्लेख न होना तथा शोभाकर एव जयरथ द्वारा इसके मत का निर्देश इस बात का प्रमाण है कि अलकारसार १२वी शती के अन्तिम भाग की रचना है।

अलंकारभाष्य

अलकारभाष्य ने भी जयरथ की विमर्शिनी को प्रभावित किया है। नाम के अनुसार यह टीकाग्रथ प्रतीत होता हे पर सूत्रात्मक उद्धरण से इसमे सन्देह अवश्य पैदा होता है। अलकारभाष्यकार ने सस्कार[3] और वितर्क[4] नामक दो नवीन अलकार प्रतिपादित किए थे। उन्होने सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध से लक्षणा का रूपक में उपयोग है, यह प्रतिपादित

---

१. अ० र० पृ० ७२ तथा १९८-६६।

२. (क) लक्षणापरमार्थ यावता रूपकस्वरूपम्—वि० पृ० ४४ रसग० पृ० २३६।
(ख) सारोपाग्या च सादृश्याद्वा सम्बन्धान्तराद्वा—वि० पृ० ४४।

३. देखिए वि० पृ० ५७। जयरथ ने अलंकारोदाहरण में संस्कारालकार को स्वीकार किया है, यद्यपि विमर्शिनी में उन्होंने भ्रान्तिमान् में इसका अत-र्भाव उचित समझा है। शोभाकर (अ० र० पृ० ५३) भ्रान्तिमान् को सादृश्योत्थापित तथा सादृश्येतर निमित्त से उत्थापित मानते हैं और यह मानकर संस्कार के उदाहरण 'दातु वाञ्छति' आदि का भ्रान्तिमान् में ही अंतर्भाव करते हैं।

४. अलकारभाष्यकारोक्तः...वितर्कालकारः। —वि० पृ० १७४।

किया था जबकि रुय्यक केवल प्रथम प्रकार की लक्षणा से ही रूपक मान सकते हैं। 'वास्तवत्वं नालंकारः' इस मत को मानने के कारण अलकार-भाष्यकार रुय्यक के विनोक्तिलक्षण से भी सहमत नहीं है। भाष्यकार का विनोक्ति लक्षण है—**नित्यसम्बद्धानामसम्बद्धवचनं विनोक्तिः**।—वि० पृ० ३१७

इसी प्रकार अलंकारभाष्य का मत है कि सूक्ष्मालकार केवल सलक्षित सूक्ष्मार्थ के प्रकाशन में ही नहीं होता (जैसा कि रुय्यक मानते हैं) अपितु इसे सूक्ष्मार्थ के सलक्षणमात्र या प्रकाशनमात्र मे भी मानना चाहिए। रुय्यक द्वारा सर्वस्व में प्रतिपादित मतो से अलकारभाष्य का मतभेद यह सूचित करता है कि इस भाष्य का लेखक सर्वस्व से परिचित था। विमर्शिनी के 'इत्येतद्ग्रन्थप्रक्रियया-लकारोदाहरणजात कुर्वताप्यलंकारभाष्यकृता सूक्ष्मालकारे यत्तदननुगुणमुदाहृतम्' (वि० पृ० २१७-१८) आदि से यह भी समझा जा सकता है कि सर्वस्व का अनुसरण करते हुए अलंकारभाष्य मे अलकार और उनके उदाहरण का प्रण-यन किया गया था। यह सन्दर्भ इस बात का भी द्योतक है कि अलकारभाष्य सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण की परम्परागत शैली का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसका प्रणयन अलकाररत्नाकर के पूर्व हुआ था। यद्यपि शोभाकर ने इसका नामत कही उल्लेख नही किया है किन्तु उन्होने अलकारभाष्य के सस्कारा-लकार का खण्डन किया है तथा उसके रूपक सम्बन्धी विवेचन से शोभाकर प्राय· सहमत है; साथ ही भाष्यकार के वितर्कालकार को उन्होंने अपने ग्रन्थ मे स्थान भी दिया है। रसगगाधर में केवल दो बार अलकारभाष्य से उल्लेख है; एक रूपक और दूसरा विनोक्ति के सम्बन्ध मे। उसके मत के ये दोनो ही सन्दर्भ विमर्शिनी मे उल्लिखित है। स्वभावतः यह सोचना अनुचित न होगा कि पण्डितराज ने जयरथ की विमर्शिनी से ही, जिसके अनेक सन्दर्भ रसगगाधर मे है, अलंकारभाष्य के इन मतो को लिया है। और यही निष्कर्ष विमर्शिनी से परवर्ती अन्य ग्रन्थों मे प्राप्त सन्दर्भों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है।

विमर्शिनी के अनुसार, अलंकारभाष्यकार द्वारा सर्वस्व की रूपविधा एवं प्रतिपादन का प्रतिपद अनुसरण तथा शोभाकर द्वारा अप्रत्यक्षरूप में भाष्यकार के मत का खण्डन-मण्डन यह सिद्ध करता है कि काश्मीर का यह आलंकारिक रुय्यक का तरुण समकालीन रहा होगा।

अलंकारविमर्शिनी : एक आलोचनात्मक टीका

जयरथ का अलकारज्ञान कुशाग्र की तरह तीक्ष्ण है। रुय्यक के व्याख्याता के रूप में उन्होने शोभाकर आदि द्वारा की गई सर्वस्व की आलो-

चना का जहां एक ओर उत्तर दिया है, वहाँ अनेकत्र सर्वस्व के मतो पर भी विमर्श प्रस्तुत किया है। भारत का प्राचीन व्याख्याकार अपने आचार्य का जब कभी आलोचन करता है वह अपनी स्वभावशालीनता नही छोडता है। यही कारण है कि जयरथ अपने विमर्श का 'चिन्त्यं चैतत्' कहकर सकेत कर देते हैं। अनेकत्र उन्होंने लिपिकार का प्रमाद मान लिया है और बहुधा वे अपने ग्रन्थकार की आलोचना 'ग्रन्थकृता पुनरेतच्चिरन्तनानुरोधात् कृतम्' कहकर प्रस्तुत करते हैं। उन अगणित स्थलो को छोड़ भी दें, जहा जयरथ ने अलंकारो के स्वरूपभेद तथा विभागोपविभाग आदि की चर्चा की है (जो हमें रुय्यक मे प्राप्त नही होते है), तब भी लगभग पचास स्थल ऐसे बचते हैं जहाँ विमर्शिनी में रुय्यक की मान्यताओं पर विमर्श मिलेगा। यह विमर्श ग्रन्थकार रुय्यक की आलोचना के साथ स्वन्त्र चिन्तन का परिणाम है। यह अवश्य है कि अपने विमर्श प्रस्तुत करने मे जयरथ ने काश्मीर में चन्द्रकला की भाँति विकास-शील अलकारशास्त्र के अनेक ज्ञात और अज्ञात आचार्यों के चिन्तन-मनन से सहायता ली है। जयरथ मूलग्रन्थ के प्रतिपद व्याख्यान से अधिक विमर्श प्रस्तुत करने में रस लेते हैं। उदाहरणो के अक्षरार्थ की तो उन्होने सदा उपेक्षा की ही है, हम लोगो के लिए कठिन पक्तियों को भी संभवत उन्हे सरल समझकर वे उपेक्षा कर देते है और अपने विमर्श प्रस्तुत करने में या विषय-विस्तार करने मे लग जाते है। वस्तुत टीकाकार की अपेक्षा जयरथ भाष्यकार अधिक हैं। इसीलिए उनकी टीका का नाम अलकार-विमर्शिनी (जिसे आलकारिक परम्परा केवल विमर्शिनी कहती आई है) अत्यंत उपयुक्त है। जयरथ के विमर्श सर्वथा नही तो अधिकाशत. ग्रन्थ से स्वतन्त्र, प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। इनमे से अनेक की चर्चा विशेषत चतुर्थ अध्याय तथा सामान्यतः इस पूरे प्रबन्ध मे की गई है। यहा उन कतिपय स्थलों का आकलन अप्रासगिक न होगा जिनके सम्बन्ध मे चर्चा अत्यन्त न्यून है या विशद नहीं हुई है।

(१) जयरथ के अनुसार लक्षणा मे 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' नही होता

---

१. जैसे कि वि० पृ० ६, २०, २४, २८, ३४, ५०, ७०. ७२, ७५, ८८-८९, ९३, १०६, ११२, १३१, १४०, १५४, १६०, १६६, १७०, १७२ १८२, १८३, १८६, १८८-८९, १९२, १९६, २०८, २१०, २१५-१६ २२९, २३९, २४९, २५३-५४, २५६-७७।

है। लक्षणा में मुख्यार्थबाध होना आवश्यक है अतः स्वसिद्धि या वाच्यसिद्धि से तो लक्षणा के स्वरूप की ही हानि हो जाती है। अत. गम्यमान वस्तु को 'स्वसिद्धये पराक्षेप' तथा 'परार्थं स्वसमर्पणम्' इन द्विविध प्रकारों मे न बांट कर केवल अन्तिम भंगी में ही अन्तर्भूत करना चाहिए। प्रथम भगी में अन्तर्भावित समस्त उदाहरणों की जयरथ के अनुसार वस्तुत: आक्षेप द्वारा व्याख्या की जा सकती है। रुय्यक द्वारा द्विविध भगी का निर्देश केवल प्राचीन आचार्यों का अनुसरण मात्र (वि० पृ० ५-६) है।

(२) शब्द की प्रतीति अर्थ की प्रतीति से पूर्वभाविनी है। अत. शब्दालकार का पहले और बाद मे अर्थालकार का वर्णन करना चाहिए। यही नही, शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि अप्रकृष्ट का पहले और प्रकृष्ट का बाद में वर्णन होना चाहिए—वर्धमानोत्कर्षाणि शास्त्राणि प्रथन्ते। शब्दालकार की अपेक्षा अर्थालकार मे चमत्कार अधिक होता है। प्रथम का चमत्कार परिमिति है और अन्तिम का अपरिमित। अतः औचित्य की दृष्टि से पुनरुक्तवदाभास से (जिसे रुय्यक उद्भट के अनुसार अर्थालकार मानते है) सर्वस्व का प्रारम्भ न कर किसी शब्दालकार से होना चाहिए था। सर्वस्वकार ने पुनरुक्तवदाभास से ग्रन्थ का प्रारम्भ चिरन्तन उद्भट का अनुसरण करने के लिए किया है, जो अयुक्त है। और इसी प्रसग में ही क्यां, अनेकत्र रुय्यक ने चिरन्तन मत का (जो विशेषत: उद्भट का है) भले ही वह अयुक्त हो, अनुसरण किया है। इन शब्दो में जयरथ ने रुय्यक की आलोचना कितने शालीन पर युक्तिपूर्ण शब्दो में की है—

चिरन्तनमतानुल्लंघनेन च वयं प्रवृत्ता इत्ययुक्तमपि ग्रन्थकृता तन्मतमाश्रितम्। अग्रेऽप्यनेनाशयेन तन्मताश्रयणं करिष्यत्येव।

—वि० पृ० १९-२०।

जयरथ ने यथास्थान इस 'चिरन्तनमतानुसृति' के निर्देश द्वारा जो आलोचना की है वह उन्ही के अनुसार सयुक्तिक आलोचना है—

तेन वयं यच्चिरन्तनमताश्रयणं व्याख्यास्यामस्तद्युक्तमेव।—वि० पृ० २०

(३) जिस पौनरुक्त्य में शब्दार्थ तो वे ही रहे किन्तु केवल तात्पर्य बदल जाए उसे लाटानुप्रास कहते है। अब प्रश्न यह है कि जहाँ केवल किसी शब्द के प्रकृत्यंश और उसके अर्थ की तो पुनरुक्ति है किन्तु प्रत्ययांश और उसके अर्थ की पुनरुक्ति नही है वहाँ लाटानुप्रास मानना चाहिए या नहीं? रुय्यक का उत्तर है मानना चाहिए। उनका कहना है कि लाटानुप्रास के लिए

'बहुतर-शब्दार्थ-पौनरुक्त्य' और तात्पर्यभेद पर्याप्त है। यह आवश्यक नही है कि पौनरुक्त्य आदि किसी शब्द के प्रकृति और प्रत्यय दोनो तथा उनके अर्थों का ही हो । इसी आधार पर रुय्यक 'अत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य' मे लाटानुप्रास मानते हैं। यहां प्रथम नयन शब्द बहुव्रीहि समास का अग है। अतः उसकी विभक्ति, वचन तथा लिङ्ग द्वितीय नयन शब्द (द्वितीया द्विवचनान्त) से सर्वथा भिन्न है। अन्तिम स्वलिङ्गवचन-विभक्तिक[1] है और प्रथम परलिंग-वचनविभक्तिक। दूसरे शब्दों में इस उदाहरण में प्रकृति और उसके अर्थ की तो पुनरुक्ति है किन्तु प्रत्यय और उसके अर्थ की नही। पर जयरथ इस उदाहरण में लाटानुप्रास मानने को प्रस्तुत नही है। लाटानुप्रास में दो तत्त्व है। एक तो है पौनरुक्त्य और दूसरा है तात्पर्यभेद। प्रथम तत्त्व अन्य अनेक अलकारो मे रहता है, स्वभावत द्वितीय तत्त्व को ही प्रस्तुत अलकार का जीवातु तत्त्व मानना चाहिए अन्यथा केवल अनुप्रास और लाटानुप्रास में कोई अन्तर सिद्ध न हो सकेगा। इस आधार पर अब 'अत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य' का विश्लेषण कीजिए। जहाँ तक द्वितीय नयन का सम्बन्ध है, वह 'आँख को' इस द्वितीया द्विवचनान्त वाच्य अर्थ को बनाता है, इस प्रकार स्वार्थविश्रान्त है। उसमे तात्पर्य-भेद का प्रश्न ही नही। 'अत्राब्जपत्रनयने' मे बहुव्रीहि समास है। इसमे अन्य पदार्थ प्रधान होता है। दूसरे शब्दो मे बहुव्रीहि समास में उपात्त शब्द सज्ञी को प्रधान बनाते हैं और स्वय गौण रहते हैं। इस गुणी-भाव को दृष्टि मे रखकर शोभाकर (अ० र० पृ० ३) ऐसे स्थलो मे स्वार्थत्याग और परार्थवृत्तिता के आधार पर लक्षणा मानते है। पर क्या प्रथम नयन शब्द का यह गुणीभाव मुख्यार्थबाध है? बहुव्रीहि समास मे उपात्त शब्दो की गौणता क्या किसी प्रयोजन या रूढिके आधार पर होती है? स्पष्ट है कि इन प्रश्नो का उत्तर हाँ में नही दिया जा सकता है। संज्ञी का अभिधान करना—अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास मे गौण बनना—मुख्यार्थबाध नही है। गुणी-भाव का यह अर्थ नही है कि मुख्यार्थ अनुपपन्न हो या स्वविश्रान्त ही न हो।[2]

---

१. संजी० पृ० ३५।

२. गुणीभाव और मुख्यार्थबाध का भेद जयरथ के शब्दों में उल्लेखनीय है--
न च गुणीभावमुख्यार्थबाधयोरेकत्वम् सतो हि मुख्यार्थस्य कंचिदपेक्ष्य गुणीभावः, बाधः पुन स्वस्मिन्नेवाविश्रान्तिरित्यनयोर्महान् भेदः।
—वि० पृ० २९।

मुख्यार्थ के उपपन्न और स्वविश्रान्त होने पर भी किसी दूसरे की प्रधानता को लेकर ही बहुव्रीहि समास के पद केवल गौण बन जाते हैं अतः 'अम्भोऽजपत्रनयने' के नयन पद में तात्पर्यभेद नहीं माना जा सकता है क्योंकि यहाँ लक्षणा की कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर नयन शब्द का तात्पर्य लक्ष्यार्थ मे माना जा सके। यही बात समास मे आए अन्य उदाहरणों के लिए भी चरितार्थ होती है अतएव शोभाकर द्वारा उल्लिखित लाटानुप्रास के उदाहरण—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकारधरणिधरकीर्ति ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥—भ० र० पृ० ५ ।

में लाटानुप्रास नहीं माना जा सकता है क्योंकि भले ही 'सितकर विभाकर' मे या 'नयने नयने' मे पौनरुक्त्य हो किन्तु तात्पर्यभेद न रहने के नाते इन्हे पौनरुक्त्य का ही उदाहरण मानना चाहिए लाटानुप्रास का नहीं। और समास मे आए शब्द को केवल गुणीभाव के आधार पर लक्ष्यनिष्ठ मानना भी उचित नहीं है।

(४) जयरथ के अनुसार छेकानुप्रास का अनुप्रास के सामान्य लक्षण में समावेश हो जाता है। अत उसे वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास से भिन्न मानना उद्भट का (जो छेकानुप्रास को अतिरिक्त तीसरा अलकार मानते हैं)।[1] अनुसरण मात्र है। जयरथ इस सम्बन्ध मे भामह के अनुयायी है।

रुय्यक ने विनोक्ति का लक्षण 'विना कंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः' किया है।[2] किंतु यह लक्षण केवल वास्तव का निबन्धन करता है और 'वास्तवं च नालंकारः' यह जयरथ का ही नहीं रुय्यक का भी अभिमत है। इसके अतिरिक्त—

तस्या. शैत्य विना ज्योत्स्ना पुष्पर्द्धिः सौरभं विना ।
विनोष्णत्व च हुतभुक् त्वां विना प्रतिभासते ॥
—वि० पृ० १०६ ।

यह उदाहरण उपर्युक्त लक्षण के अनुसार विनोक्ति का नहीं हो सकता है। ज्योत्स्ना और शैत्य का, सौरभ और पुष्पश्री का तथा अग्नि और उष्णत्व का अविनाभाव सम्बन्ध है। अलकारभाष्य के शब्दों मे ये नित्यसम्बद्ध हैं। इस

१. देखिए—वि०पृ० २४।
२. अ० स० पृ० १०५।

नित्य-सम्बन्ध अथवा अविनाभाव का असम्बन्ध-वर्णन या विनाभाव का निबन्धन ही जयरथ के अनुसार विनोक्ति का लक्षण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में जयरथ ने अलंकारभाष्यकार का अनुसरण किया है और रुय्यक ने प्राचीन आचार्यों का।

ग्रन्थकृता पुनरियं चिरन्तनलक्षितत्वाल्लक्षिता। —वि० पृ० १०६।

यहां 'चिरंतन' शब्द का प्रयोग किसके लिए हुआ है? भामह से लेकर भोज तक कोई भी आलंकारिक विनोक्ति को नही मानता है। भले ही कुन्तक सहोक्ति का स्वरूप प्राचीन आचार्यों से भिन्न मानते हैं, किन्तु विनोक्ति की चर्चा उन्होंने भी नही की है। मम्मट सभवत सर्वप्रथम आलंकारिक है जिन्होने इस अलकार का निरूपण किया है। रुय्यक और मम्मट के विनोक्ति-लक्षण समानार्थ हैं[1]। स्वभावत: चिरन्तन शब्द मम्मट के लिए ही आया है। अत: एक तो जयरथ रुय्यक के विनोक्ति-लक्षण से सहमत नहीं हैं। दूसरी बात यह भी संभव है कि विमर्शिनीकार विनोक्ति को एक पृथक् अलकार ही न मानना चाहते हों; किन्तु इस पर उनका कथन सकेतमात्र है—

विनोक्तिकृतवैचित्र्याभावाच्छब्दमात्रप्रयोगेनालंकारकल्पने हा धिगाद्युक्ता-वप्यलङ्कारत्वप्राप्तेश्च विनोक्त्यलङ्कारं न मन्यन्तेऽन्ये। सहार्थवलात् साम्यप्रतीतेः सहोक्तिस्तु युक्तैव।—माणिक्यचन्द्र से उद्धरण का० प्र० (बम्बई), पृ० १६१।

पण्डितराज ने उन आचार्यों के मत का उल्लेख किया है जिनके अनु-सार विनोक्ति स्वत. चमत्कारिणी नही होती है। दूसरे अलंकार के साथ ही यह अलंकार चारु प्रतीत होता है अत. इसे भिन्न अलकार मानने मे अधिक बल नही है—

अलंकारान्तरसमालिङ्गनाविर्भूतमेवास्या हृद्यत्वं न स्वतः। तेन अलंकारान्त-रत्वमपि शिथिलमेवेत्यपि वदन्ति। —रसग० पृ० ३५६।

जयरथ ने सर्वस्व के 'अभिमरतिमलस'[2] (५०), 'योगपट्टो जटाजालम्'(६०) 'धावत्त्वदश्वपृतनापतितं' (६१) 'साधूनामुपकर्तुम्' (६३),' अरण्यानी क्वेयम्' (१६६) 'गौरत्र क्वचिदाश्रिता' (१६६) तथा 'निमेषमपि यद्येकम्' (१७२)

१. (क) विना कंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः।—अ०स०पृ० १०५।
(ख) विनोक्तिःसा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः।
—का०प्र० (पूना) पृ० ६७३।

२. कोष्ठक की संख्या वि० के पृष्ठों की है।

आदि उदाहरणों को भी सदोष मानकर दूसरे उदाहरण दिए हैं। इस प्रकार अलकार के स्वरूप, विभाग और उदाहरण सभी पर जयरथ ने आलोचनात्मक दृष्टि से लिखा है, इसीलिये उनकी टीका सचमुच विमर्शिनी है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व दोनों पर ही टीकाएँ (सम्भवत. थोडे ही समय के अन्तर से) लिखी हैं—

> काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च सचेतसाम्।
> अत्यादरो जगत्यस्मिन् व्याख्यातमुभयं सह ॥—संजी०

उनके अनुसार अलकारमीमासा के लिये अपेक्षित सूक्ष्मदृष्टि वही पा सकता है जिसने सर्वस्व तथा काव्यप्रकाश का सुपरिशीलन किया हो—

> सेयलंकारमीमांसासूक्ष्मेक्षिका तेषामेव गोचरा, यैरेवालकारसर्वस्वं सुपरिशील्य विशेषाय काव्यप्रकाशहृदयं निर्ज्ञातम्।
>
> —स० प्र० (द्वितीयभाग) पृ० २८६।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत के अनुसार शैशव से ही श्रीचक्रवर्ती को प्रतिभा और वैदुष्य का वरदान मिला था। उनकी शैवागम मे तो विशेष श्रद्धा थी, पर साथ ही उपनिषद्, पुराण, भरतशास्त्र, कामशास्त्र एव षड्दर्शन का वैदुष्य तथा छह भाषाओ मे कविता की शक्ति भी, उन्ही के अनुसार, उन्हे प्राप्त थी।

> शैवं त्रिष्णुनिबद्धमौपनिषदं साख्यं सपातञ्जलम्।
> शास्त्रं स्वात्महिताय वेद सकलैः साकं पुराणादिभिः॥
> भूपानां तु विनोदनाय भरतं नीर्तिं च वात्स्यायनं।
> षड्भाषाकवितां च लक्षणवतीं श्रीचक्रवर्ती कविः॥ —संजी०पृ० ५६।

जरत्तार्किको से इनकी नही बनती थी। सांख्यदर्शन, शैवागम तथा प्राचीन काव्यो के प्रचार में इनका योग भूत की तरह उन नैयायिको के सिर पर चढ़ कर बोलता था—

> सांख्यं वेश्मनि वेश्मनि श्रुतिशिरः कथयासु कथयासु च,
> द्वारि द्वारि शिवागमाः पथि पथि प्राचां कवीनां गिरः।
> पठ्यन्ते यदसूयभिर्जरतरप्रज्ञैर्जरत्तार्किकै—
> स्तत् सर्वं खलु चक्रवर्तिकवितुर्विद्यायशोडिण्डिमः॥—वहीं

श्रीचक्रवर्ती ने अपनी आत्मश्लाघा में बहुत कुछ लिखा है। यह अनुचित होगा

यदि हम उनकी इस स्वात्मप्रशस्ति को संजीविनी से उद्धृत न करें। यह प्रशस्ति उपर्युक्त श्लोक का ही व्याख्यान है—

> महाराजवीरवल्लालास्थानजुषां विदुषां हि प्रसादाशिषो हि मय्येताः प्रथन्ते। कास्ताः? संस्कृतसार्वभौम प्राकृतपृथ्वीश्वर शौरसेनीशिरोमणे मागधीमकरध्वज पैशाचीपरमेश्वर अपभ्रंशराजहंस आलंकारिक-चक्रवर्तिन् ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य सहजसर्वज्ञ परमयोगीश्वर शैववैष्णव-योगसांख्यप्रमुखसमस्तस्वात्मविद्यातत्त्वनित्यनिष्णात अश्रुताधिगतसमस्तविद्याकलाप अद्वैतविद्याविद्वेषिवनदावानल कलियुगम्कन्द अभिनव-भट्टाचार्य वैदिकविद्याप्रतिष्ठापनपरमाचार्य, काव्यमीमांसाप्रभाकर वादि-मृगेन्द्रवेश्याभुजङ्ग इत्याद्याः। महाराजहोसलराजकुलद्वारि प्रशस्तिशिला-शासनप्रतिष्ठापनात् प्रभृति वयमुपशान्तरभसाः। अत्र तु ग्रन्थे काव्यमी-मांसानिकषवतां ममोपयान्तु वत्सलाः सचेतसः।—सजी० पृ०५६-५७।

सजीविनीकार ने अपनी अपूर्व प्रशस्ति लिख डाली है। यदि यह प्रशंसा किसी दूसरे आलोचक या साहित्यिक द्वारा होती तो इसका महत्त्व और भी अधिक होता। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि श्रीविद्याचक्रवर्ती को वैदुष्य और कवित्व दोनों ही मिला था। उन्होंने उस शक्ति और निपुणता का यथासम्भव उपयोग भी किया है और इसमे सन्देह नही वे सफल भी हैं, भले ही, हम उनकी आत्मप्रशस्ति का अक्षरश अनुमोदन न कर सकें।

नाम

सर्वस्व तथा काव्यप्रकाश पर टीका लिखने वाले लेखक का पूरा नाम श्रीविद्याचक्रर्ती[1] है। उसने अपना उल्लेख श्रीचक्रवर्ती[2] और चक्रवर्ती के[3] रूप मे

---

१. (अ) संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते।—सजी० पृ० १।
(ब) सम्यक् समापिता सेयं श्रीविद्याचक्रवर्तिना।
—स० प्र० द्वितीय भाग, पृ० ४५०।

संजीविनी तथा सं० प्र० की पुष्पिकाओं में यही नाम आता है।

२. षड्भाषाकवितां च लक्ष्यवतीं श्रीचक्रवर्तीकविः।—संजी० पृष्ठ५६।

३. तत् सर्वं खलु चक्रवर्तिकवितुर्विद्यायशोडिण्डिमः।—वही।

भी किया है। मल्लिनाथ तथा दीक्षित ने चक्रवर्ती के रूप में इनका प्रायः उल्लेख किया है।[1] अलंकारसर्वस्व के टीकाकार के रूप में इन्हे सजीविनीकार[2] अलकारसर्वस्वसजीविनीकार[3] तथा सर्वस्वसजीविनीकार[4] भी कहा जाता है। स्पष्ट है कि सर्वस्व के उपर्युक्त टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती न तो अलक हैं (जैसा कि श्री जैकोबी सोचते थे) और न परमानन्द चक्रवर्ती।

कृतियाँ

श्रीविद्याचक्रवर्ती की केवल दो कृतियाँ अभी तक प्रकाशित हुई हैं। एक है काव्यप्रकाश पर सम्प्रदायप्रकाशिनी नामक टीका[5] और दूसरी है विरूपाक्षपञ्चाशिका नामक शैवदर्शन के लघुकाय ग्रन्थ पर विद्वति नाम से टीका।

संविल्सिद्धान्तसिद्धार्थसारसंग्रहरूपिणीम्।
पञ्चाशिकां विरूपाक्षप्रोक्तां व्याकुर्महे वयम्॥

समाप्तिपद्य के अनुसार इस विद्वति को श्रीविद्याचक्रकर्ती ने गोविन्दचन्द्र नामक एक विद्वान् (जो सभवत इनके गुरु हों) को समर्पित किया है।[6] इसका प्रकाशन अनन्तशयनम् सस्कृतग्रथावलि, ग्रथाक ६ (सन् १६१६) के अन्तर्गत त्रिवेन्द्रम से हुआ है। उनकी अन्य कृतियों को टीकाग्रन्थ, शास्त्रीय स्वतत्र ग्रथ तथा काव्यग्रथ इन तीनो कोटियो मे विभाजित कर सकते हैं।

टीकाग्रन्थ

काव्यप्रकाश पर सम्प्रदायप्रकाशिनी एक विस्तृत, सारगर्भ तथा वैदुष्यपूर्ण टीका है। इसी पर इन्होने एक लघुकाय व्याख्यान भी लिखा था जिसे वे लघुटीका कहते है।[7] इसे उन्होंने बृहट्टीका के पूर्व ही लिखा था (जैसा कि नीचे दी हुई (२ख) पाद-टिप्पणी से ज्ञात होता है। लघुटीका में यद्यपि समा-

---

१. देखिए—रत्नापण, पृ० ५४, ३१६, ३७७, ३८७ ३८६,४५० तथा ४६५-६६, तरल, पृ०२२१, चित्रमी० पृ० ६।
२. तरल, पृ० २३७।
३. वहीं, पृ० ३१, ५७।
४. वहीं, पृ० २२१।
५. अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक १००, त्रिवेंद्रम, सन् १६३०।
६. कृतेय विवृतिर्लध्वी श्रीविद्याचक्रवर्तिना।
गोविन्दचन्द्रधीनाग्नि निकषे विनिवेशिता॥—विरूपाक्ष-पञ्चाशिका।
७. इस टीका के सम्बन्ध में दो संदर्भ हैं, वे इस प्रकार हैं :—

सतः विषय-विवेचन था पर अनेक विषयो का विवेचन बृहट्टीका से अधिक भी था जैसे कि "लक्षणा तेन षड्विधा" काव्यप्रकाश की इस कारिका का बृहट्टीका से भी अधिक विशद व्याख्यान उन्होने अपनी इस लघुटीका में किया था।[1] यह विश्वास करने के लिए कोई प्रमाण नही है कि लघुटीका, अलकारसर्वस्व-निकृष्टार्थकारिका की भांति, पद्य मे लिखी गई थी क्योकि अर्वाचीन अलकार-टीकाओं या अलकारग्रंथो में लघुटीका के नाम से एक भी पद्य नही मिलता है। इसके अतिरिक्त टीका शब्द का प्रयोग भी इस बात का परिचायक है कि लघुटीका गद्य में लिखी गई थी। उनकी तीसरी टीका अलकारसर्वस्व पर है। यह अभी तक अप्रकाशित रही है।[2] प्रस्तुत लेखक ने त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय के पाण्डुलिपि-पुस्तकालय तथा मद्रास पुस्तकालय के अधिकारियो के अनुग्रह से सजीविनी तथा अलकारसर्वस्व-निष्कार्थकारिका में से प्रत्येक की दो प्रतिया प्राप्त की हैं। त्रिवेन्द्रम की पाण्डुलिपि काफी शुद्ध है, पर मद्रास की त्रुटित, भग और अपूर्ण। निष्कृष्टार्थ-कारिका में अलकारसर्वस्व के मतो का श्लोकबद्ध सक्षेप है अत. सर्वस्व को समझने के लिए वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस लेखक ने अपने प्रबन्ध मे सजीविनी का यथासम्भव पूरा उपयोग किया है। सजीविनी के सारे सन्दर्भ मुझे प्राप्त इसी पाण्डुलिपि के हैं। सर्वस्व की इस टीका का नाम है तो केवल सजीविनी[3] पर इसका उल्लेख श्रीविद्या-

---

(क) अस्माभिः सम्प्रदायप्रकाशिन्यां काव्यप्रकाशबृहट्टीकायां वितत्य दर्शितं लघुटीकायां च यथोपयोगम्— —सजी पृ० ४०।

(ख) लक्षणाप्रपञ्चकोऽयमस्माभिर्लघुटीकायां वितत्य विवेचित —स० प्र० (प्रथमभाग) पृ० ६२।

१. तरल पृ० ३१, ५७।

२. प्रस्तुत लेखक ने अलंकारसर्वस्व के आलोचनात्मक संपादन तथा अनुवाद के साथ संजीविनी की प्रकाशनार्थ पाण्डुलिपि तैयार की है। अलकारसर्वस्व-सजीविनी के नाम से यह शीघ्र ही मोतीलाल बनारसीदास, जवाहरनगर, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हो रही है। (२१.६.१९६४)

३. (अ) संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते। —प्रारम्भपद्य।

(ब) टीकास्माभिः समुपरचिता तेन सजीविनीयम्॥ —समाप्तिपद्य।

(स) इस टीका की पुष्पिका है—(१) समाप्ता चेयं संजीविन्याख्यालंकार-सर्वस्वटीका—त्रिवेन्द्रम पाण्डुलिपि।

(द) तथा देखिए—रत्नापण, पृ० २६, ३२, १५२,२८३, तरल पृ० २२१।

चक्रवर्ती ने स्वयं तथा मल्लिनाथ आदि ने 'सर्वस्वसंजीविनी'[1] के रूप में भी स्पष्टता की दृष्टि से किया है। श्रीचक्रवर्ती तथा मल्लिनाथ इस टीका का सन्दर्भ अलकारसर्वस्वसजीविनी के नाम से भी देते हैं।[2] सरलता, गम्भीरता और ग्रन्थानुसारिता इस टीका की विशेषताए हैं। टीकाकार की मौलिकता और विवेचनशक्ति का भी प्रमाण सजीविनी मे मिलता है। निष्कृष्टार्थकारिका को हम श्रीचक्रवर्ती का चौथा टीका-ग्रन्थ मान सकते है। यह पद्यबद्ध है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है टीकाकार ने अलकारसर्वस्व का निचोड़ इन पद्य-बद्ध कारिकाओ में रखा है। निष्कृष्टार्थ का अर्थ एक पाण्डुलिपि के अन्त में इस प्रकार दिया है—

अवान्तरविशेषनिर्व्यपेक्षो निष्कृष्टार्थः

और सचमुच ये कारिकाए अलकार के रुय्यक-सम्मत स्वरूप, उनका परस्पर विभाग तथा अलंकार के अनेक भेदो का निरूपण करती हैं। इनके अध्ययन और अवबोध के लिए सजीविनी की विशेष अपेक्षा भी नही है। कुमारस्वामी ने जो श्रीविद्याचक्रवर्ती का अनेकधा 'तातपादै:' के रूप में स्मरण करते हैं, प्रताप-रुद्रयशोभूषण पर रत्नापण नामक अपनी टीका में सजीविनी के अतिरिक्त सर्वंकषा का भी उल्लेख किया है[3] सम्भव है कि सर्वंकषा काव्यशास्त्र या व्याकरण के किसी ग्रन्थ पर टीका हो पर अभी तक कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नही है। इस प्रकार श्रीचक्रवर्ती के टीकाग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. सम्प्रदायप्रकाशिनी—बृहट्टीका[4]
२. सम्प्रदायप्रकाशिनी—लघुटीका[5]
३. संजीविनी
४. अलंकारसर्वस्वनिकृष्टार्थकारिका अथवा निष्कृष्टार्थकारिका
५. सर्वंकषा[6]
६. विरूपाक्षपञ्चाशिकाविवृति

---

१. सं० प्र० पृ०, २८६, तरल, पृ० २२१।
२ देखिए सं० प्र० पृ० १६, तथा तरल, पृ० ३१ तथा ५७।
३. एतच्च सजीविनीसर्वंकषादावस्मकदुक्तं तातपादैः।—रत्नापण,पृ० ३२।
४. संजी० में उद्धृत, पृ० २५, ३८, ४०, तथा २०८
५. सं० प्र० भाग १, पृ० ६२ तथा संजी० पृ० ४० पर उद्धृत।
६. रत्नापण, पृ० ३२।

स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ

प्रयोगदीपिका के नाम से पद्यबद्ध एक ग्रन्थ श्रीचक्रवर्ती ने व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर लिखा था। इसका एक उद्धरण सजीविनी में प्राप्त होता है—

तेऽस्त्यर्था धातवो ज्ञेया य उदासीनकर्तृका ।
विकुर्वाणप्रयुञ्जानकर्तृका भूकृञर्थकाः ॥ —सजी० पृ० ४०।

इसी तरह उन्होने भरतनाट्यशास्त्र के विषयो को भी समासत श्लोक-बद्ध किया था। इसका नाम उन्होने भरतसग्रह रखा था। भरत शब्द सामान्यत नाट्यशास्त्र के लिए आ सकता है अत भरतसग्रह नाम देखकर यह निर्णय कर लेना ठीक नही है कि भरत के नाट्यशास्त्र का ही यह श्लोकबद्ध सक्षेप होगा। सजीविनी मे उन्होंने इसी स्वरचित भरत-सग्रह से, 'न्यचत्कुञ्चितमुख' आदि श्लोक[2] में आए दृष्टिभेदो के वर्णन के प्रसग में (बीच-बीच मे व्याख्यान के साथ), उद्धरण दिए है।[3] व्याकरण पर प्रयोगदीपिका और नाट्यशास्त्र पर भरतसग्रह के अतिरिक्त श्रीविद्याचक्रवर्ती के नाम से सगीत-सम्बन्धी ग्रन्थ का उल्लेख भी मिलता है।

काव्यादिग्रन्थ

टीकाग्रन्थो तथा विभिन्न शास्त्रीय विषयो से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थो के अतिरिक्त श्रीविद्याचक्रवर्ती के नाम से रुक्मिणीकल्याण नामक एक काव्य का भी उल्लेख मिलता है।[4] अपने अनेक पद्यो का यथास्थान उल्लेख श्री चक्रवर्ती ने काव्यप्रकाशटीका[5] तथा अलकारसर्वस्वटीका[6] मे किया है। इनमे से

---

१. संजी० पृ० १८०-८१।

२. अ० स० पृ० २०१।

३. देखिए—लेखक द्वारा सपादित अलंकारसर्वस्व-सजीविनी।

४. देखिए Report on the working of the Peripatetic Party of the Government Oriental Manuscripts Library 1916-17-, 1918-19

५. सं० प्र० (भाग १), पृ० १४३ (भाग २) पृ० १३६, १३७, ३३८।

६. संजी० के प्रारंभ में ही रसादि के अनेक उदाहरण टीकाकार ने स्वरचित दिए हैं।

कुछ पद्य स्फुट हो सकते हैं और कुछ संभवतः किसी स्वरचित काव्यग्रन्थ से लिए गए थे। रुय्यक ने सर्वस्व की भूमिका मे साहित्यशास्त्र का विहगम आलोचन करते हुए जिन अनेक विषयों की चर्चा की है उन पर उन्होने उदाहरण नही दिए हैं। इसके अतिरिक्त अलकारो के अनेक भेदप्रभेदो के (जिनकी चर्चा की है अथवा नहीं) उदाहरण भी रुय्यक ने नही दिए हैं, ऐसे सभी स्थलों के लिए उपयुक्त श्लोकमय उदाहरणो का प्रणयन श्रीचक्रवर्ती ने किया है। संजीविनी के उपोद्घातपद्यो मे वे स्वय कहते हैं—

उदाहरणशेषोऽत्र ध्वनौ ग्रन्थकृता कृतः।
तदीयन्यायसम्पन्नैः स्वपद्यैः पूरयामि तद् ॥—सजी० पृ० १।

श्रीचक्रवर्ती ने, सर्वस्व के भूमिका-भाग की टीका में विशेषत, और वैसे यथाप्रकरण, ध्वनिदर्शन के सिद्धान्तो का विवेचन किया है।[1] विमर्शिनी की व्याख्यापद्धति का एक अनूठापन ग्रन्थ मे दिए हुए उदाहरणो की व्याख्या न करना है। किन्तु सजीविनी में समग्र उदाहरणों की व्याख्या तो है ही साथ ही विमर्शिनी की भाति इसमें अनेक विषयो के उदाहरण भी दिए गए है जिनमे से अनेक श्रीचक्रवर्ती की रचनाएँ हैं।[2] इस टीका की एक असाधारण विशेषता है—अनेक (और प्राय. सभी) लक्षणों का सूत्रार्थ रूप मे संक्षेप जैसे कि—

(अ) स्वरव्यञ्जनात्मकस्य शब्दसमुदायस्य यत् तेनैव रूपेण पुनर्वचनं तद् यमनाद् यमकम्।

(ब) तयोः (उपमानोपमेययो.) यस्तुलितभेदाभेदांश· समानधर्माभिसबन्ध स उपमालंकार इति सार्थ.।

(स) विभावादिरभिव्यञ्जितो रत्यादिर्भावो रसः। तथा विभावानुभावसूचिता व्यभिचारिण.। देवतादिविषया रतिश्च भावः। तावेवाविषयप्रवृत्तावाभासो। प्रयास्यदवस्था तु प्रशम। एषां चतुर्णामुपनिबन्धे परिपाट्या रसवान्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहितमित्यलंकारा इति सूत्रार्थ.।

---

१. ध्वनिदर्शनानुरक्ता सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्य टीका मे।
कवयः सचेतना अपि वितनुत साहित्यसाम्राज्यम् ॥ —सजी० पृ० १।

२. ······स्वपद्यैः पूरयामि तद्। —वहीं।

अनेक स्थलो की व्याख्या अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण तथा मौलिक है। उपमालंकार, स्वभावोक्ति और भाविक[1] जैसे अलकारों का सुन्दर व्याख्यान है, अलकारो का रसानुसारी वर्गीकरण, उपमा-उत्प्रेक्षा, रूपक-परिणाम, श्लेष-रूपक, अनुमान-काव्यलिग आदि का विषय-विभाग श्रीचक्रवर्ती के अलकारो से सम्बन्धित परिनिष्ठित पाण्डित्य का परिचायक है। सर्वस्व का सार और स्फुटार्थ संजीविनी मे है। रुय्यक के संक्षिप्त, गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण किन्तु कर्कश वाग्विस्तार की सूक्ष्म और स्फुट व्याख्या सजीविनी है—

सूक्ष्मामव्याकुलामत्र शास्त्रयुक्त्युपबृंहिताम्।
मीमांसामुपजीवन्तु कृतिन. काव्यतान्त्रिकाः॥

—सजी० (समाप्तिपद्य)

सम्प्रदायप्रकाशिनी के सम्बन्ध में निम्नांकित उक्ति इस टीका के बारे में भी चरितार्थ है—

नेह सन्तन्यतेऽस्माभिर्वृथा सन्दर्भडम्बरः॥
व्याख्येयवस्तुयाथात्म्यप्रकाशैकपरायणैः. ॥

—स० प्र० (प्रथम भाग), पृ० २।

समुद्रबन्ध

अलकारसर्वस्व के दाक्षिणात्य टीकाकार समुद्रबन्ध हैं। अनन्तशयनम् सस्कृतग्रन्थावली से इनकी टीका के दो सस्करण प्रकाशित हो चुके है। इस टीका का विमर्शिनी या सजीविनी की भाति कोई विशेष नाम नही है। पुष्पिका के अनुसार इसे साधारणतया अलंकारसर्वस्व-व्याख्या कहा जा सकता है। समाप्तिपद्य के '**मंखुकनिबन्धविवृतौ विहितायामिह समुद्रबन्धेन**' के अनुसार इसे विवृति या इस टीका के सम्पादक के शब्दो में वृत्ति कह सकते हैं। समुद्रबन्ध की व्याख्या यद्यपि विमर्शिनी की भाँति गम्भीर या सजीविनी की भाँति प्रसन्न नही हैं पर इसके अपने अनेक गुण हैं। काव्य के विभिन्न प्रस्थानों का काव्य-लक्षण (विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्) के साथ समन्वयात्मक विवेचन, अनेक अलकारों के विभागोपविभाग का (प्राय. मम्मट के अनुसार) निर्देश तथा उप-

---

१. भाविके बुद्धिसम्वादो मया स्याद् यदि कस्यचित्।
व्याख्याशिल्पस्य निकषः स मे धीमान् भविष्यति॥ —नि० का०।

युक्त उदाहरणों[1] का निर्माण, अनेक स्थलो के शास्त्रीय व्याख्यान, विभिन्न आलंकारिको के मतो[2] का यथास्थान उल्लेख, सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण के भागो पर विभिन्न व्याख्यानो का संकलन तथा पर्यालोचन व्याख्यानकार की प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के प्रमाण है। व्याख्या मे जिन विभिन्न पूर्वाचार्यों के सन्दर्भ हैं उनमे मम्मट तक के सभी परिचित आलकारिक आ जाते हैं। जयरथ की विमर्शिनी मे सर्वस्व के उदाहरणो का व्याख्यान नही है, अन्य अनेक उदाहरण बढ़ा अवश्य दिए गए हैं। सजीविनी मे उदाहरणाश का व्याख्यान है पर अन्यत्र से उतना उदाहरणबाहुल्य नही है, समुद्रबन्धव्याख्या मे मूलग्रन्थ के प्राय सभी उदाहरणो का व्याख्यान है, साथ ही स्वचरित उदाहरणो से व्याख्यान को और भी उपयोगी बना दिया गया है। विमर्शिनी की भाषा का गाम्भीर्य और

१. समुद्रबन्ध ने यमक (पृ० १०-१६), उपमा (पृ० २२-२४), रूपक (पृ० ३४-३५), उल्लेख (पृ० ४५), दीपक (पृ० ७०), महोक्ति (पृ० ८०-८१), शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष (पृ० १०४), अप्रस्तुतप्रशसा (पृ० ११७), चतुर्विध जातिविरोध (पृ० १३६), अलकारान्तरसकीर्ण व्याजस्तुति (पृ० १४६), श्लिष्ट विचित्र (पृ० १५१), यथासख्य (पृ० १६७), समुच्चय (पृ० १८१), तत्कर (पृ० १८४), अपह्नवमात्रपर्यवसायिनी व्याजस्तुति (पृ० १९६), भाविभाविक (पृ० २०५), उभयालकार संसृष्टि(पृ० २१७), परिसख्या और वृत्त्यनुप्रास-सकर के स्वरचित उदाहरणों का निर्माण करके उपबृंहण किया है।

२. समुद्र० पृ० ४८, ५८, ७६, १३३, १४६।

३. ग्रन्थार्थ के व्याख्यानान्तर की सूचना समुद्रबन्ध ने 'केचित्' 'अन्ये तु' 'अत्र केचिदाहु.' आदि के द्वारा दी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्याख्यानान्तर के अनेक सन्दर्भ विमर्शिनी में प्राप्त नहीं होते हैं। स्वभावतः यह संभावना करनी पड़ती है कि या तो दक्षिण में अलंकारसर्वस्व के किसी दूसरी व्याख्या की कोई मौखिक परम्परा प्रचलित थी अथवा कोई टीका ही थी जो अभी तक उपलब्ध न हो सकी है। व्याख्यानान्तर के सन्दर्भ विशेषतः निम्न पृष्ठों पर उल्लेख्य हैं—पृ० २५-२७, ३७, ४३, ४४, ५१, ५३, ८६, १८६ तथा २२७।

४. अलंकारसर्वस्वव्याख्यायां स्मृतानि ग्रन्थान्तरवाक्यानि के अन्तर्गत सूची देखिए। —समुद्र० परिशिष्ट पृ० १-५।

संजीविनी की भाषा की सरलता और सुबोधता समुन्द्रबन्द की व्याख्या में, पूरी तौर से न सही, मिलती हैं। इस प्रकार समुद्रबन्ध की व्याख्या नवीन पाठ-परम्परा तथा नवीन व्याख्यापरम्परा दोनो ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

समय

व्याख्या के उपोद्घात पद्यो के अनुसार केरल की कोलम्ब (किलोन) नगरी के यदुवशीय नृपति रविवर्मा का, जिसका उपनाम संग्रामधीर था, समुद्रबन्ध को अनुग्रह प्राप्त था। इस राजा की प्रशसा में व्याख्याकार ने अपने सभी उदाहरणो का निर्माण किया है।[1] प्रद्युम्नाभ्युदय (अनन्तशयनम् संस्कृतग्रथावली, ८) के उपोद्घात के अनुसार रविवर्मा का, जो सभवत त्रावन्कोर के महाराज के पूर्वज थे, समय १२६५ ई० है। समुद्रबन्ध इसकी बुधपरिषद् के अलकार थे। अत इसका समय ईसा की १३ वी शती के अन्तिम भाग से चतुर्दश शतक के प्रथम चरण तक के बीच मे माना जा सकता है।

व्याख्यानान्तर की सभावना

समुद्रबन्ध ने सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन तीनो ही अंशों की अनेक पक्तियो के 'केचित्तु' 'अन्ये तु' आदि के रूप में किसी टीकाकार के (जो न तो जयरथ का है, और न चक्रवर्ती का) व्याख्यान का उल्लेख किया है। कतिपय स्थलो की चर्चा से हम यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि समुद्रबन्ध द्वारा निर्दिष्ट ये व्याख्यानान्तर उनके अपने अथवा विमर्शिनी तथा संजीविनी के नही हैं, और ये सन्दर्भ इस बात के निर्णायक प्रमाण हैं कि समुद्रबन्ध को किसी ऐसी टीका से परिचय है जो अभी तक प्राप्त न हो सकी है।

वाच्याभिप्रायेणात्र पूर्वरूपानुगमः। —अ० स०[2] पृ० २६।

विमर्शिनी के अनुसार उपर्युक्त उद्धरण के वाच्याभिप्राय का अर्थ है शाब्दी सादृश्य-प्रतीति और पूर्वरूप से अभिप्राय है सादृश्य। इस प्रकार जयरथ के अनुसार शाब्दी सादृश्य-प्रतीति के आधार पर अनन्वय को सादृश्याश्रित अलकार के अंतर्गत रखा गया है। संजीविनी के अनुसार पूर्वरूप का अर्थ है उपमेय, जिसकी

१. देखिए समुद्र० पृ० १७-१८, २२-२४, ३४-३५, ४५, ७०, ८१-८२, १०४, ११७, १३६, १४८, १५१, १६७, १८१, १८४, १९६, २०५, २१७ तथा २२६।

२. इस शीर्षक के अन्तर्गत अ० स० के समस्त सन्दर्भ त्रिवेन्द्रम संस्करण के हैं; यदि उनका अन्यथा-निर्देश नहीं है।

वाच्याभिप्रायेण अर्थात् वाच्यार्थ को लेकर प्रतीत होती है। चक्रवर्ती के अनुसार अनन्वय (जैसे कि अर्जुन· अर्जुनः इव) मे उपमेय का ज्ञान वाच्यार्थ से और उपमान का ज्ञान व्यग्यार्थ को लेकर होता है। समुद्रबन्ध ने इस स्थल की जो व्याख्या की है वह जयरथ से प्राय मिलती है। इसी पंक्ति की दूसरी आचार्य की व्याख्या भी उन्होने उद्धृत की है—

> अन्ये तु पूर्वमुपमानोपमेययोरेकतरप्रतिपादनायोपात्तस्य शब्दरूपस्य पर्यायव्यवच्छेदेन द्वितीयेऽप्यनुगमोऽनुवृत्तिः वाच्याभिप्रायेण वाच्यस्यार्जुनादेः शब्दभेदोपाधिकभेदप्रतिभासापनयनेन वास्तवस्यैकत्वस्य स्फुटप्रतिपत्तिमभिप्रेत्य क्रियत इति—पृ० २६।

इस व्याख्या के अनुसार वाच्याभिप्राय का अर्थ है वास्तविक एकत्व, जिसकी दृष्टि से पूर्वरूप उपमेय या उपमानवाचक शब्द की अनुवृत्ति होती है। यह व्याख्यान न तो जयरथ का है, न चक्रवर्ती का और न समुद्रबन्ध का फिर 'अन्ये तु' से किसे समझा जाए ?

उत्प्रेक्षाप्रकरण के 'असत्यत्व अध्यवसितप्राधान्यम्' की अपनी व्याख्या करने के बाद समुद्रबन्ध ने दूसरे आचार्य की टीका, अक्षरश केवल तात्पर्य ही नही, उद्धृत की है।[२] यह ग्रन्थार्थ [और व्याख्यान के अक्षर] न विमर्शिनी में हैं, न संजीविनी मे, फिर यह अक्षरश. व्याचक्षण किसका है ?

समुद्रबन्ध ने इसी प्रकरण में आगे चलकर किसी दूसरे आचार्य के अनुसार एषा चार्थाश्रयापि धर्मविषये श्लिष्टशब्दहेतुका क्वचित् दृश्यत इति। उदाह्रियते च ग्रस्थे स्थितां हिमवतोऽपि सा शारदा नवसुभाषितकामधेनुः, यह पाठ दिया है।[3] इस पाठ का है केवल गद्य भाग ही विमर्शिनी[४] और सजीविनी के अनुसार है सर्वस्वकार का उदाहरणाश तो इन टीकाओं के अनुसार सर्वस्व का है ही नही। समुद्रबन्ध स्वयं इस पूरे अश को ग्रन्थकार के मत से विप्रतिपन्न समझते हैं—

धर्मस्य तु विषयत्वं ग्रन्थकारस्याभिमतमनभिमतं वेति चिन्त्यम्।—समुद्र० पृ० ५३।

पर उन्होंने 'केचित्' के रूप मे गद्य-पद्य दोनों अंशों का व्याख्यान दिया है।[५]

---

१. समुद्र० पृ० ४६-५०।
२. वहीं, पृ० ५१।
३. वहीं, पृ० ५२-५३।
४. वि० पृ० ७३।
५. समुद्र० पृ० ५३-५४।

सम्भवत: यह किसी दूसरे आचार्य की व्याख्या है जो एक भिन्न पाठपरम्परा का अनुसरण करती है।

'मार्गितलब्धे बलात्कारचुम्बिते' आदि (पृ० ६२) पर रुय्यक की वृत्ति है—अत्राभिन्नस्यापि प्रियाधररसस्य विषयविभागेन भेदोपनिबन्धः—अ० सा० पृ० ६३। यह अतिशयोक्ति-प्रकरण की बात है। अगर विषयविभाग से भेद होने पर अतिशयोक्ति को मान लिया जाता है तो फिर उल्लेख का उससे अन्तर क्या होगा क्योंकि इसमे भी तो रुय्यक के ही शब्दो में 'विषयविभागेनानेकधात्वोट्टंकन' होता है। इस पर समुद्रबन्ध ने दो अन्य व्याख्यानो का उल्लेख किया है। प्रथम के अनुसार (केचिदाहुः) अतिशयोक्ति मे केवल भेद-मात्र का निर्देश होता है जबकि उल्लेख मे (जैसेकि 'तपोवनमिति मुनिभिः संगीतशालेति लासकैः' आदि उदाहरण में) विशेष का उपादान होता है। दूसरे व्याख्यान के अनुसार (अन्ये तु) अतिशयोक्ति में विषय-भेद अस्फुट रहता है जबकि उल्लेख मे स्फुट।

'तत्र शब्दालंकाराः यमकादयः। अर्थालंकारा उपमादयः' सर्वस्व के इस वृत्तिभाग[2] में शब्दालकारो मे यमक और अर्थालकारों मे उपमा का उपादान किसी आचार्य (अन्ये तु) के मत से इसलिए किया गया है क्योंकि पहले मे शब्दाश्रयता और दूसरे में अर्थाश्रियता स्फुट रहती है। 'उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः' के आदि पद से समुद्रबन्ध श्लिष्टपरम्परित का ग्रहण करते हैं तो उन्ही के अनुसार कोई दूसरा आचार्य शब्दालकार और अर्थालकार की संसृष्टि का। समुद्रबन्ध ने केवल वृत्तिभाग पर ही व्याख्यानान्तर की सूचना नहीं दी है, अपितु सूत्रभाग पर भी अनेकथा व्याख्या-भेद का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए 'वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इस सूत्र के प्रथम पद मे कोई आचार्य षष्ठी मानता है। इस पद मे समुद्रबन्ध तो सम्बन्धसामान्य के अर्थ में षष्ठी मानते हैं किन्तु दूसरे व्याख्याकार (अपरे) कर्म में षष्ठी मानते हैं।

उदाहरणों में जैसे कि 'सच्छायाम्भोजवदना' आदि (पृ० २७) में दूसरा व्याख्याकार वस्तुप्रतिवस्तुभाव मानता है; 'तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजम्' आदि (पृ० २७) का दूसरी व्याख्या के अनुसार अन्वय दूसरे प्रकार से किया गया है,

---

१. समुद्र० पृ० ७३।

२. अ० अ० पृ० २२७।

३. समुद्र० पृ० २२७।

'युधिष्ठिरः सत्यवचसि' आदि (पृ० ४४) मे केवल उल्लेख की ही नहीं रूपक की भी विच्छित्त है, 'मदनगणनास्थाने लेख्यप्रपञ्चमुद्दञ्चयन्' आदि (पृ० ८८) में प्रकृतार्थ और अप्रकृतार्थ के विवेचन मे समुद्रबन्ध से दूसरी व्याख्या का मत-भेद है, तर्कशास्त्र की वस्तु के समारोप के दो उदाहरण ('दशवक्त्रविवादे .. तथा 'स्वपक्षलीलाललितैः' आदि उदाहरण, पृ० ६२) दूसरे आचार्य के मत के अनुसार इसलिए दिए गए है क्योकि सर्वस्वकार को तर्क के दो भेद जल्प और वितण्डा के भिन्न उदाहरण देना अभिप्रेत था ।

इस प्रकार समुद्रबन्ध द्वारा सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरणो पर दूसरे आचार्य की व्याख्या (जिससे प्राय समुद्रबन्ध सहमत नही हैं और जो विमर्शिनी तथा सजीविनी मे उपलब्ध नही होती है) का उल्लेख इस मत के लिए पर्याप्त प्रमाण है 'कि विमर्शिनी, सजीविनी तथा समुद्रबन्धव्याख्या के अतिरिक्त एक और व्याख्या थी जिससे केवल समुद्रबन्ध ही परिचित है । बहुत सभव है कि इस टीका का लेखक दक्षिण का हो । यही कारण है कि काश्मीर के जयरथ तथा गुर्जर देश के श्रीचक्रवर्ती को उस टीका के सम्बन्ध मे कुछ भी मालूम नही है ।

जयरथ ने भी सर्वस्व के कतिपय स्थलो पर भिन्न व्याख्यान[1] की, जिनसे प्राय वे सहमत नही है, सूचना दी है । कुछ स्थलों की चर्चा करने के बाद हम अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे ।

(१) रुद्रटेन तु भावालंकारो द्विधैवोक्तः(अ० स० पृ० ६)मे रुय्यक ने रुद्रटसम्मत भावालकार के द्विविध भेदों[2] की चर्चा की है । जयरथ

१. देखिए—वि० पृ० ६, ७, ६५, ८०, १५४, २४५ आदि ।

२. दो प्रकार के भावालकार के क्रमशः लक्षण और उदाहरण हैं—

प्रथम का लक्षण—यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्राय तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥
ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥
—काव्यालकार, ७-३८-३९ ।

द्वितीय भावालंकार का लक्षण—
अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥

तथा समुद्रबन्ध की इस पर व्याख्या के अनुसार प्रथम भेद में व्यंग्य (वस्तु) वाच्य के प्रति गुणीभूत हो जाता है। तथा इसमें वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए प्रतीयमान अर्थ का आक्षेप होता है। इस प्रकार 'ग्रामतरुणं तरुण्या' आदि में वाच्यार्थ मुखमालिन्य है जो 'वञ्जुललतागृहे संकेतोऽकारि' इस प्रतीयमान वस्तु से अधिक चमत्कारी है। भावालकार के द्वितीय भेद मे व्यग्य (वस्तुरूप-अर्थ) वाच्य के प्रति गुणीभूत नही होता है। दूसरे शब्दो मे इसमे वाच्यार्थ का प्रतीयमान के प्रति समर्पण रहता है। चक्रवर्ती की व्याख्या इन दोनो से भिन्न है। इसके अनुसार आकारव्यग्य तथा वाक्यव्यग्य भावालकार के ये दो भेद हैं। इसी स्थल की एक और इन सभी से भिन्न व्याख्यान की सूचना विमर्शिनी मे खण्डनद्वारा इस प्रकार है—

यत्वत्रान्यैर्भावैर्निर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमानत्वेन द्विविधो भावालकारो व्याख्यातस्तदुत्सूत्रमेव। —वि० पृ० ६।

इसके अनुसार भावालकार मे निर्वेदादि का निबन्धन होता है और वाच्य तथा प्रतीयमान के रूप में उसके दो भेद है। प्रेयोलकार मे व्यभिचारिभावो का प्रियतर आख्यान होता है तथा रुय्यक के अनुसार प्राचीन इसे भावालंकार कहते है—

एष एव च भावालकार —अ० स० पृ० २३०।

तथा— भावालंकार. प्रेयोलंकार· —सजी० पृ० ८।

भावालकार और प्रेयान् के एक होने के कारण उपर्युक्त व्याख्यान का प्रथम अश (निर्वेदादिभिरुपलक्षितो) विप्रतिपन्न नही है पर उसका वाच्य और प्रतीयमान के रूप मे विभाजन न तो रुद्रट को ही सम्मत है, जिनके अनुसार भावालकार वास्तव श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है तथा जिन्होंने वाच्य और व्यग्य अलकार के रूप मे श्रेणीविभाग कहीं भी नही किया है, न यह रुय्यक को ही मान्य है। उनके प्रेयान् के भी उपर्युक्त भेद नही है। यह उत्सूत्र व्याख्यान सर्वस्व की पक्ति का भी हो सकता है और काव्यालकार के प्राकरणिक स्थल का भी।

उदाहरण— एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—
अस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥
—वही ७।४०-४१, तथा संजी० पृ० ८।

२. रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः —अ० स० पृ० ६-७।

इस पक्ति के प्रथम आदि (तुल्ययोगितादि) पद से निदर्शना[1] और द्वितीय (उपमादि) से उपमेयोपमा का ग्रहण जयरथ ने किया हैं। वाच्य निदर्शना से प्रतीयमान उपमेयोपमा के उदाहरण के रूप में उन्होने कालिदास का 'प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषं' आदि (वि० पृ० ७) श्लोक दिया है। प्रथम आदि पद की व्याख्या में कुछ आचार्य किसी अलकार का नही अपितु वस्तु का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार उनके अनुसार पूर्वोक्त उदाहरण में 'विप्रेक्षित' का उत्कर्ष गम्यमान वस्तु है जो वाच्य निदर्शना का उपस्कारक है[2]।

३ रुय्यक ने 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलाम्' आदि (सर्वस्व पृ० ६४) को अपह्नुति का उदाहरण माना है। शोभाकर 'उत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्ये शब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयति' रुय्यक की इस मान्यता से सहमत हैं, इस लिए वे 'अवाप्त प्रागल्भ्यम्' आदि में मन्ये शब्द का प्रयोग होने पर भी उसे अपह्नुति का उदाहरण मानते हैं[3]। किन्तु रुय्यक के 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलाम्' आदि मे शोभाकर ने अपह्नुति इसलिए नही मानी है क्योकि उनके अनुसार इस श्लोक मे शशकपक्ष का निराकरण (नो मा प्रति तथा) है और विरहिणी के कटाक्ष द्वारा पैदा किए गए 'व्रणकिण' का निश्चय है[4]। अत उनके अनुसार यह अतिशयोक्ति का उदाहरण है। विमर्शिनीकार ने शोभाकर के इस अपूर्व विचारकौशल पर हसी उड़ाने के बाद लिखा है—

एवमन्यैरत्रान्यत्र चोदाहरणादौ बहुप्रकारं स्खलितम् —वि० पृ० ६६

अलकाररत्नाकर मे विमर्शिनी का पूरा सन्दर्भ (अतश्च... . अतिशयोक्तिरेवेति मन्यन्ते) अक्षरश मिल जाता है, स्वभावतः 'अन्य' पद का प्रयोग जयरथ ने व्याख्याकार के लिए नही अपितु दूसरे ग्रन्थकार के लिए किया है।

---

१. समुद्रबन्ध ने प्रथम आदि पद से परिणाम और सहोक्ति का ग्रहण किया है। उपमादि का आदि पद त्रिवेन्द्रम संस्करण में है ही नहीं। व्याख्या में भी उसका प्रतीकोपादान नहीं है।

२ तेन पूर्वत्र यदादिग्रहणं सफलयितुमन्यै रेतदुदाहृतम् तदयुक्तमेव तत्र वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। —वि० पृ० ७।

३. अ० र० पृ० ४१।

४. वहीं, पृ० ४२।

४. *न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्*—सर्वस्व पृ० ८०-८१

के 'विषयस्य' की व्याख्या किसी ने 'निगीर्यमाणस्य विषयस्य' की थी[1] जबकि जयरथ के अनुसार विषय शब्द से धर्मी समझना चाहिए जो निगीर्यमाण तथा उत्प्रेक्ष्यमाण धर्म का आश्रय होता है 'लिम्पतीव तमोऽगानि' आदि के विवेचन में शोभाकर ने जो विचार प्रस्तुत किया है उसमें 'निगीर्यमाणस्य विषयस्य' इस व्याख्या के लिए आधार है[2]।

५. आक्षेपालकार (द्वितीय) के अन्त मे निर्णयसागर का पाठ है—

तस्मादयमपि प्रकार आक्षेपस्य समानन्यायतयाऽभिनवत्वेनोक्त[3]। इस पाठ के अभिनवत्वेन से क्या समझा जाए ? क्या इस अलकार का उद्भावक रुय्यक (ग्रथकृत्) है ? जयरथ का कथन है कि यद्यपि दण्डी आदि आचार्यों ने इसका निरूपण नही किया था किन्तु रुय्यक से पूर्ववर्ती भोज ने इसका लक्षण किया हैं अतः इसका उद्भावक सर्वस्वकार को नही मानना चाहिए—

न पुनर्ग्रन्थकृदुपज्ञत्वेनैतत् व्याख्येयम्

यहाँ 'व्याख्येयम्' पद केवल सम्भावित अभिमत का पूर्व-निषेध करता है। वह किसी दूसरी व्याख्या का निश्चयत सूचक नही है।

उपर्युक्त कतिपय स्थलों पर व्याख्याभेद के उल्लेख से यह निश्चय नही किया जा सकता कि जयरथ से पूर्व सर्वस्व पर कोई व्याख्या थी। अधिक सम्भव यही है कि अलकारसार तथा अलकारभाष्य (जो अभी भी उपलब्ध नही है) तथा अलंकाररत्नाकर में सर्वस्व की जो आलोचना थी उसी को लेकर 'अन्ये तु' आदि के रूप में जयरथ ने टीकाकार की नही अपितु दूसरे ग्रन्थकार की विमति का उल्लेख किया है। अलकाररत्नाकर में सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति और उदाहरण तीनो ही अगो से उल्लेखपूर्वक अनेकत्र आलोचना मिलती है। अलकारभाष्य मे अलंकारों के उदाहरण के निर्माण और सकलन में सर्वस्व की ग्रन्थप्रक्रिया का अनुसरण और साथ ही अनेकत्र मतभेद भी था अत. यह निर्णय

---

१. विषयस्येति–निगीर्यमाणोत्प्रेक्ष्यमाणयोर्धर्मयोर्भित्तिभूतस्य धर्मिण इत्यर्थः। न तु निगीर्यमाणस्येति व्याख्येयम्।—वि० पृ० ८०।

२. देखिए—अ० र० पृ० ४६-५०।

३. त्रिवेन्द्रम संस्करण का पाठ है–समानन्यायतया विधानबलेनोक्तः।
—अ० स० पृ० १३४।

४. वि० पृ० १५४।

युक्तिहीन न होगा कि वस्तुतः जयरथ जहां कही भी भिन्न व्याख्यान का उल्लेख करते हैं वह वस्तुतः रुय्यक के टीकाकार का न होकर किसी दूसरे ग्रंथकार का है। वह व्याख्याभेद न होकर मतभेद है। समुद्रबन्ध के सन्दर्भों मे मतभेद नहीं अपितु व्याख्याभेद है। अस्तु, जयरथ के बाद तथा समुद्रबन्ध से पूर्व किसी ऐसी सर्वस्वव्याख्या का अस्तित्व था जिसका प्रचार दक्षिण में था पर जिससे जयरथ और चक्रवर्ती का परिचय नही है, इस सम्भावना के लिये पर्याप्त आधार शेष है।

द्वितीय अध्याय

अलंकार तथा अलंकार्य

सस्कृत के समीक्षाशास्त्र का प्रारम्भकाल नियत कर पाना कठिन है। ऋग्वेद की भाषा मे उपमा, रूपक,यमक जैसे अलकारों का अविरल प्रयोग है[1] तथा उपमा[2] और अरंकृताः पदों का व्यवहार है। किन्तु वैदिक भाषा की आलकारिक शैली तथा कतिपय आलंकारिक शब्दो के प्रयोग से अलकार-शास्त्र की प्राचीनता का प्रमाण देना उसी प्रकार होगा जैसे कि भाषा के व्याकरणसम्मत प्रयोग को देखकर व्याकरण को भाषा की अपेक्षा प्राचीन बताना। वेदागो मे से निरुक्त और व्याकरण अलकारशास्त्र के प्रमुख उपकारक ही क्यो, एक अर्थ में जनक भी है। कालान्तर मे राजशेखर ने तो अलंकार को सप्तम वेदाग माना है।[4] आचार्य गार्ग्य, यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतजलि ने सामान्य या पारिभाषिक अर्थ को लेकर उपमा का विवेचन किया है। अलकारसम्बन्धी कतिपय पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भी पाणिनि के सूत्र, कात्यायन की वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। इससे इतना ही कहा जा सकता है कि अलकारशास्त्र को व्यवस्थित तथा स्वतन्त्र रूप युगों के चिन्तन-मनन के बाद मिला पर इससे पूर्व अलकार और अलकार से भी पहिले उपमा (सादृश्य) का प्रकल्प प्रतिष्ठित हो चुका था।[5]

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए—Similies in Sanskrit Literature.

२. सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः

—ऋग्वेद ५ ३ ३४. ६।

३. वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरंकृताः। —ऋग्वेद १. १. २.।

४. उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः।

५. साहित्यशास्त्र के प्रारम्भ के लिए देखिए—का० मी०, सस्कृत पोइटिक्स, पृ० ४-२२, तथा उपमा के इतिहास तथा महत्त्व और विभिन्न शास्त्रों (व्याकरण आदि) के योगदान के लिए देखिए—प्रो० वी० एस० सोवानी का लेख—History and Significance of upama

—Annals B. O. R. I. 1919-20, pp. 87-98.

अलंकार की दृष्टि से, अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ भरत के नाट्यशास्त्र (५०० ई०) से पूर्व न भी माने (यद्यपि उनके द्वारा नाट्य-संश्रय अलकारों का वर्णन और नाट्यशास्त्र की परम्परा की प्राचीनता पूर्व तिथि के लिए पर्याप्त आधार होगा) तो भी भामह (षष्ठ शतक) से पूर्व अलकारसम्प्रदाय का विधिवत् आरम्भ मानना प्रमाणसगत होगा, क्योकि भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का **अन्यैः, कैश्चिद्, अपरे, केचित्** आदि पदों से परोक्षत. तथा रामशर्माच्युत, मेधाविन्, राजमित्र, अच्युतोत्तर, शारवावर्धन आदि नामो से प्रत्यक्ष उल्लेख किया है। अलकारसम्प्रदाय की प्राचीनता का आभास इसी से हो सकता है कि हमारे समीक्षाशास्त्र की एक पुराण और प्रसिद्ध सज्ञा इसी के नामानुरूप अलकारशास्त्र है।

भामह से लेकर जगन्नाथ (१८ वी शती) तक अलंकार-मीमासा की सरिता अविरत बहती आ रही है। आज भी उसका जल सूखा नही है, भले ही प्रवाह मे वह गति और गहराई नही है जो प्रमुख रूप से रुय्यक के समय तक और सामान्यतया जगन्नाथ तक प्राप्त होती है। लगभग १२००० वर्षों तक फैले हुए इस सुदीर्घ काल के अलकारशास्त्र का विभाजन, आधुनिक इतिहासकार[1], युगान्तरकारी आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद को विभाजिका रेखा मान कर, तीन कालो मे करते हैं—(१) ध्वनिपूर्वकाल, (२) ध्वनि काल तथा (३) ध्वन्युत्तरकाल। प्राय. इसी आधार पर अलकारमीमांसा की दृष्टि से समय और लेखक के अनुसार इस प्रकार श्रेणीविभाग कर सकते हैं—

१. भामह से आनन्दवर्धन तक अथवा ईसा के षष्ठ शतक से नवम शतक तक।

२. आनन्दवर्धन से मम्मट-रुय्यक तक अथवा नवम शतक से द्वादश शतक तक।

३ मम्मट-रुय्यक से दीक्षित-जगन्नाथ तक अथवा द्वादश शतक से १७ वी शती के अन्तिम भाग या अष्टादश शतक के प्रारम्भ तक।

आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, दण्डी तथा वामन की अलकारमीमासा मौलिक है। साथ ही वह ध्वनितत्त्व को अन्तर्भूत करती है। आनन्दवर्धन के बाद मम्मट-रुय्यक तक न केवल अलकारो का स्वरूप-निर्धारण और विकास हुआ अपितु

---

१. देखिए—संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३२८-२९।

ध्वनिवाद की छाया मे अलंकार का स्थान भी निश्चित करना पड़ा। मम्मट-रुय्यक के बाद दीक्षित-जगन्नाथ तक छोटे मोटे भेद या अभेद को लेकर अलकारो की सख्या घटाई या बढ़ाई गई। अलकारविशेष के लक्षणो को लेकर झगड़ा हुआ पर अलकार-चिन्तन की दृष्टि से यह काल मौलिक और सूक्ष्म चिन्तन का उतना नही जितना कि शास्त्रार्थ और केशाकर्षण का है। इस काल के कुछ लेखक आकर्षक अपवाद भी हैं जैसेकि पण्डितराज जगन्नाथ, जिन्होने अलकार-मीमांसा करते हुए न केवल पूर्वाचार्यों के अभिमत का चिन्तन-मनन किया है अपितु अनेकत्र मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए हैं। अलकारमीमासा का यह श्रेणीविभाग कालक्रम के निर्धारण की दृष्टि से तथा विभिन्न आचार्यो के अनुसार अलकारचिन्तन की दृष्टि से उपादेय है। विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन मे आचार्यानुमारी इसी कालक्रम को दृष्टि मे रखा गया है।

सस्कृत समीक्षाशास्त्र के ६ सम्प्रदाय माने[1] जाते हैं—

१—रससम्प्रदाय, २—अलकारसम्प्रदाय, ३—रीतिसम्प्रदाय, (गुण-सम्प्रदाय इससे भिन्न नही है) ४—ध्वनिसम्प्रदाय, ५—वक्रोक्तिसम्प्रदाय तथा ६—औचित्यसम्प्रदाय।[2]

इन सम्प्रदायो का उद्भावक या प्रमुख आचार्य क्रमश भरत, भामह उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र को माना जाता है। समुद्रबन्ध ने काव्य के स्वरूपनिर्धारण मे इन विभिन्न सम्प्रदायो का स्पष्ट सकेत किया

---

१. द्रष्टव्य—(क) प्रो० सोवानी का लेख Bhandarkar Commemoration Volume, P. 387 F.
(ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० ११
(ग) भारतीय साहित्यशास्त्र—बलदेव उपाध्याय, पृ० १८-२७।

२. सम्प्रदाय शब्द के स्थान पर वाद, प्रस्थान और सिद्धान्त शब्द का भी प्रयोग प्रचलित है।

३. (क) अलकारतन्त्रप्रजापतिभिर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः।
—व्य० वि० व्या० (काशी) पृ० १८।

(ख) इह हि भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः।
—अ० स० पृ० ३।

है। उनके अनुसार काव्य का सामान्य लक्षण है—**विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्।**[1] शब्दार्थ का यह वैशिष्ट्य प्रथमतः तीन प्रकार से हो सकता है—धर्म से, व्यापार से तथा व्यंग्य से—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन। —समुद्र० पृ० ३-४।

इस त्रिविध पक्ष में प्रथम धर्ममूलक वैशिष्ट्य नित्य और अनित्य रूप में दो प्रकार का है। वामनादि आचार्य गुण को काव्य का नित्य धर्म तथा अलकार को अनित्य धर्म मानते है। नित्य धर्म का अभिप्राय गुण से है और अनित्य धर्म का अलकार से। इस प्रकार धर्ममूलक शब्दार्थवैशिष्ट्य को लेकर अलकारसम्प्रदाय तथा रीतिसम्प्रदाय का परिगणन होता है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है। आचार्य कुन्तक काव्य में भणितिभगी को प्रधान मानते हैं। यह वक्रोक्तिसम्प्रदाय है। आचार्य भट्टनायक अभिधा, भावना तथा भोग नामक तीन व्यापारो मे रसचर्वणारूप अन्तिम व्यापार को प्रधान मानते है[2]। आनन्दवर्धन के पूर्व रसानुभूति की व्याख्या भट्टनायक का सिद्धान्त ही, शकुक आदि आचार्यों के मत की अपेक्षा, अधिक युक्तिसगत रूप मे कर पाता था। सम्भवत यही कारण है कि समुद्रबन्ध ने इस सम्प्रदाय का सकेत भोग-व्यापारवादी भट्टनायक के आधार पर किया है। व्यग्यमुखेन शब्दार्थ-वैशिष्ट्य की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन ने की है। अत इस अन्तिम मत से आनन्द के ध्वनिसम्प्रदाय का सकेत अभिप्रेत है। सहित शब्दार्थ के सौन्दर्य की अथवा किसी कविता को पढकर या सुनकर कोई सहृदय क्यो झूम उठता है, क्यो रसविभोर हो जाता है, इसी की शास्त्रीय शब्दो मे व्याख्या समीक्षाशास्त्र के ये विभिन्न सम्प्रदाय करते है।

इतने ही क्यो, महिमभट्ट का अनुमितिवाद भी शास्त्रीय साहित्य-चिन्तना

---

१. समुद्र० पृ० ३।

२. तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयांगीकृतः। —अ० स० पृ० ११।

का एक और प्रकार है। काव्यसौन्दर्य या वैशिष्ट्य की व्याख्या का यह भी एक पक्ष, प्रस्थान या सम्प्रदाय है। यह उसका दुर्भाग्य है कि ध्वनिसम्प्रदाय के राज्याभिषेक के बाद उसका जन्म हुआ। फिर भला सर्वस्वकार स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप मे क्योंकर मान्यता देते।

व्यक्तिविवेककाराभिमतस्त्वनुमानपक्षः सिद्धान्तप्रदर्शनसमनन्तरं विचारासहत्वेन दूषितत्वाद् मङ्खुकस्य पूर्वपक्षत्वेनाप्यनभिमत इत्याहुः।

—समुद्र० पृ० ४।

प्रस्तुत लेखक न तो समुद्रबन्ध के पक्षपचक (अलकार-गुण-भणितिवैचित्र्य-भोग-व्यंग्य) के आधारो (धर्ममूलक, व्यापारमूलक तथा व्यग्यमूलक) से सहमत है और न अधुनातन विद्वानो द्वारा सस्कृत साहित्यशास्त्र के छ या (गुणसम्प्रदाय को अलग मानकर) सात सम्प्रदायो में विभाजन से। समुद्रबन्ध का वर्गीकरण स्पष्टत सदोष है। उनके त्रिविध आधारों में अन्तिम दो आधार व्यापारमूलक तथा व्यग्यमूलक है। जिस प्रकार भणिति तथा भोग व्यापार कहलाते है व्यजना भी उसी प्रकार एक व्यापार है फिर व्यग्यमूलक को एक विभिन्न आधार मानने की क्या आवश्यकता है[१] ? कुन्तक वक्रोक्ति—'विचित्रैवाभिधा'—को अलकार्य शब्दार्थ का अलकार[२] मानते है। अलकार प्रस्थान के प्रथम आचार्य भामह के वक्रोक्तिमत का ही प्रतिष्ठापन कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिसम्प्रदाय मे किया है फिर क्यों न इनके मत को अलकारपक्ष (धर्ममूलक श्रेणी) के अन्तर्गत रखा जाए ? इस प्रकार समुद्रबन्ध का वर्गीकरण भले ही विभिन्न दृष्टिकोण जानने के लिए उपकारक हो पर निश्चित ही वह निर्दोष या वैज्ञानिक नही है।

किसी भी देश की चिन्तनसरणि का विकास, भले ही वह विभिन्न दिशाओ मे प्रवाहित हो, एक समन्वित ऐकात्म्य को लेकर चलता है। किसी भी देशविशेष के चिन्तन का एक सन्तुलित क्रम होता है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न नामरूप लेकर होती है। परिधान का कितना भी अन्तर क्यों न हो पर सूक्ष्म-द्रष्टा उस चिन्तनवैविध्य मे अन्विति का दर्शन कर लेता है। भारतीय दर्शन का इतिहास अनेकता मे से एक के अनुसंधान को परिलक्षित करता है। यदि कतिपय दार्शनिक अनात्मरूप पदार्थवैविध्य का विवेचन करते हैं तो अनेक आत्मा और ब्रह्म की एकता बताते हुए नामरूपात्मक प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त बताते

---

१. संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३३१।

२. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥ —व० जी० १, १०।

हैं। शैव दार्शनिक समग्र विश्व को परमशिव का आभास घोषित करते हैं, जो वेदान्ती की भाँति मिथ्या न होकर सत्य तथा चिरन्तन है। यहां के धार्मिक चिन्तन का दार्शनिक चिन्तनधारा से सदा सौभ्रात्र रहा है। भारतीय ऋषि प्रारम्भ मे अनेक देवताओ का यशोगान किया करता था। आगे चलकर उसने देवो के स्थान पर एक ईश्वर की प्रभुता स्वीकार की तथा अन्त में अपने को ईश्वर का अश मानकर उससे एकरूपता स्थापित की। भारतीय धर्म तथा दर्शन की इन चिन्तनसरणियों को विविधता से एकता तथा बाह्य-वृत्तिता से अन्त वृत्तिता का अनुसधान माना जा सकता है। सस्कृत के कतिपय कवि जैसे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और अमरुक के काव्य, रससमाहित होने के कारण अन्तर्मुखी चेतना को प्रतिबिम्बित करते है तो माघ, भारवि और श्रीहर्ष के काव्य का प्रधान स्वर बहिर्मुखी चेतना का है। साहित्यस्रष्टा की भाति साहित्या-लोचक ने भी अलकार (इस शब्द की धर्म के देव अर्थात् 'शोभाकर' इस अर्थ से कितनी समता है), गुण आदि काव्य के अनेक उपस्कारो से परिचय तथा उनके विवेचन के बाद ध्वनि के आत्मत्व का प्रतिपादन किया। दार्शनिक की भाति समीक्षक ने भी उसे आत्मा कहकर पुकारा। ध्वनि के त्रिविध अगो मे से वस्तु और अलकार की अपेक्षा रस को उसने प्रधान माना। दार्शनिक का ब्रह्म रस है 'रसो वै सः', साहित्यिक का रस ब्रह्म है 'रसो वै स'।

रस को ब्रह्म का सहोदर बताने वाले अथवा आवरणहीन चित् से रस का तादात्म्य स्थापित करने वाले आचार्य रसानुभूति का सम्बन्ध संविद् की आनन्दमय अवस्था से ही स्थापित करना चाहते है। इस देश के दर्शन का मूल स्वर समग्र प्रपच की अद्वैत मे चरम विश्रान्ति प्रतिपादित करने का रहा है। यह चरमावस्था जड नही है इसीलिए वेदान्ती ब्रह्म को 'ज्ञान' या चेतन कहता है, काश्मीर के शैव दार्शनिक उस परतत्त्व को संवित्, चिति, चैतन्य, शिव आदि नाम से प्रतिपादित करते हैं। रसानुभूति जड न होकर चेतन है और चेतन होने के साथ ही वह आनन्दमयी भी है, इसलिए भी उसकी उपमा ब्रह्म से दी जाती है। ब्रह्म चेतन भी है और आनन्द भी। यह अवश्य है कि रस की चेतना और आनन्द परम चिति की चेतना और आनन्द से गुण और मात्रा में भिन्न है। अचेतन प्रकृति की वृत्तियो द्वारा निष्पन्न होने के कारण तथा ऐन्द्रिय आनन्द और विषयता के सूक्ष्म सस्पर्श से प्रभावित होने के कारण चेतन और आनन्दमयी रसानुभूति, निश्चय ही, परा संवित् का साक्षात्कार नहीं है। शैव दार्शनिक इसीलिए इसे शिवा-नुभूति न कहकर चमत्कार की अनुभूति कहते हैं।

दार्शनिक, जैसे कि वेदान्ती का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। भाषा उसे बता नही सकती, उसका सकेत भर कर सकती है। काव्यात्मा (ध्वनि) भी एक अर्थ मे अनिर्वचनीय है, अभिधा उसका वर्णन नही कर सकती, लक्षणा से उसे लक्षित करना सम्भव नही है। उसका केवल सूचन, ध्वनन या द्योतन हो सकता है, वर्णन या अभिधान नही।

काव्य के लक्षणो पर भी इस देश के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव है। भामह से लेकर जगन्नाथ तक शब्द और अर्थ को दृष्टि में रखकर काव्य की जो परिभाषाए दी गई हैं उन्हे दो कोटि मे रख सकते हैं। एक शब्दार्थ-साहित्य-परक है, दूसरी शब्दप्राधान्यपरक। उदाहरण के लिए भामह की काव्य-परिभाषा **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** इसी कोटि की है। कालिदास ने शिव-शक्ति के 'सम्पर्क' की उपमा वागर्थ की सम्पृक्ति मे दी है,[1] काश्मीर के शैव-दार्शनिक शिव और शक्ति का प्रकाश और विमर्श की भाति, सनातन सम्बन्ध मानते है।[2] नन्दिकेश्वर ने शिव-शक्ति के इस सनातन सम्बन्ध को चन्द्र और चन्द्रिका तथा वाक् और अर्थ की उपमा दी थी—

चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वत् यथा वागर्थयोरिव।

उपनिषद् के ऋषि ने भी इसी उपमान को आर्ष वाणी प्रदान की थी—

रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः।

इस प्रकार शब्दार्थ की सहभावपरक काव्यपरिभाषा उस तत्त्वचिन्तन से प्रभावित है जो शब्द और अर्थ का शिव और शक्ति में उपमान पाती आ रही है।

दूसरी कोटि की काव्यपरिभाषा शब्द को प्रधान मानती है और अर्थ को अवच्छेदक। दण्डी के **'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** (जिसमे पदावली से अन्तत शब्द को समझना पडेगा) तथा जगन्नाथ के **'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** इन और इसी प्रकार के अनेक काव्यलक्षणो का स्वारस्य शब्द को प्रधान मानने तथा अर्थ को उपाधि या अवच्छेदक मानने का है। वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि के अनुसार शब्द ब्रह्म है, वही एकमात्र

---

१. **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ —रघुवश १, १।

२. **शक्तिश्च शक्तिमद्रूपात् व्यतिरेकं न वाञ्छति।**
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव॥ —बोधपचदशिका, श्लोक ३।

परम तत्त्व है, अनादि अनन्त और अव्यय। सृष्टि की प्रक्रिया वस्तुतः उसी शब्दब्रह्म का अर्थात्मा विवर्त है[1]। वेद मे शब्द की प्रधानता है। शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद है। भर्तृहरि के अनुसार वही शब्द-वेद परम तत्त्व है। शब्दात्मा वेद से ही समग्र शब्द और अर्थात्मा वाक्-प्रपञ्च का आविर्भाव हुआ है। शब्दात्मा वेद अनादि, अनन्त और अव्यय है किन्तु उसका विवर्तभूत वैखरी-प्रपच अनादि, अनन्त नही है। भाषाओ के इतिहास और भाषाविज्ञान के शब्दो का प्रयोग करें तो यह कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के अनुसार वैदिक शब्दराशि से ही समग्र शब्दो का उद्भव या विकास हुआ है। भर्तृहरि ने स्वय इस बात को स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥

—वाक्यपदीय, १, १२०।

वैदिक युग से सृष्टि के रहस्य के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त[2] प्रचलित था कि वाक् ही समग्र विश्व की जननी है, उसी रहस्यविद्या को दार्शनिक एव भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने शब्दार्थमय विश्व को वेद की शब्दराशि का परिणाम या विवर्त माना है। परिणाम का अर्थ है—कारण के अनुरूप कार्य का होना, तथा विवर्त का अर्थ है—कारण से भिन्नरूप कार्य का होना। विवर्त का शैवदार्शनिको के अनुसार अर्थ है . नाना रूपो मे स्वेच्छया प्रकाशित होना—विवर्तो विचित्रेण रूपेण वर्तनं न स्वविनाशात् अपितु स्वातन्त्र्यत। वैदिक शब्दराशि से विकसित भाषाए 'तत्सम' होने के कारण परिणाम भी है और 'तद्भव' होने के कारण विवर्त भी। शब्द उप-भाषाओ में अनेक विचित्र रूपो मे प्रकाशित होते हैं, अत भर्तृहरि द्वारा समग्र वाक्प्रपच को शब्दब्रह्म का परिणाम तथा विवर्त बताना भाषाविज्ञान के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इस शब्दब्रह्मवाद की मान्यता का ही प्रभाव, जाने अनजाने, शब्दप्राधान्यपरक काव्यलक्षण पर मानना अनुचित न होगा। शिवशक्ति के अद्वय और शब्दब्रह्मवाद की दार्शनिक चिन्तना इतनी

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत॥

—वाक्यपदीय, १, १।

२. वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह ॥

प्राचीन अवश्य है कि उसका चेतन प्रभाव यहा के साहित्यचिन्तको के अवचेतन मन पर अवश्य पडा होगा।

काव्य की एक और सरलतम और प्रसिद्ध परिभाषा (जो हमें काश्मीर ने दी है) कविकर्म है। कवि अगर शिव है तो काव्य उसका आभास है। वह उसके व्यक्तित्व का ही भावनामय उन्मेष है। इससे अधिक स्रष्टा (कवि) और सृष्टि (काव्य) की एकता का क्या रूप होगा ? शैवदार्शनिक के अनुसार शिव—परासवित्—अपने स्वातन्त्र्य से इस समग्र विश्व का आभासन करता है[1]। काश्मीर के साहित्यशास्त्री भी कविकर्म—काव्य—को कवि की निरुपादान तथा नियति के नियमन से रहित रचना मानते हैं। कवि और शिव की तथा काव्य और सृष्टि की एकरूपता का यह पर्याप्त आधार है। यहा के शास्त्रकार साहित्य स्रष्टा की उपमा प्रजापति या वेधा से सदा देते चले आ रहे हैं क्योकि मनीषी वेधा 'कवि' है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू ।

जिस प्रकार उपादान आदि कारणो की अपेक्षा के विना कवि काव्यसृष्टि करता है उसी प्रकार दार्शनिक का शिव भी कलाकार है जो इस जगत्-चित्र का प्रतान विना किसी सहायता के करता है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ —का० प्र० मे उद्धृत ।

यह प्रसिद्ध सूक्ति कवि और शिव दोनों के लिए समान रूप से चरितार्थ है। रुय्यक ने 'नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्' के मङ्गलाचरण द्वारा पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी इन तीन रूपों में आविर्भूत परा शक्ति की ही केवल वन्दना नही की है[2] अपितु अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्या शक्ति से परे परा

---

१. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः । —प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० १ ।

२. विमर्शस्वरूपिणी परा शक्ति ही परा वाक् है जो नादरूप में सभी भूतों में जीवात्मना स्थित है तथा जिसे 'अनपायिनी सूक्ष्मा वाक्' भी कहा जाता है, यही शब्दब्रह्मवादियों के शब्दों में 'केवल ब्रह्म' है। परावाक् तथा उसके त्रिविध विग्रह—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के सम्बन्ध में विमर्शिनी के प्रारम्भ में उद्धृत श्लोक निम्नलिखित हैं—

परा वाक्—

येयं विमर्शरूपैव परमार्थचमत्कृतिः ।
सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते ॥

वाणी (ध्वनि) का भी काव्यात्मा होने के नाते अभिवन्दन किया है[1]। दर्शन के परतत्त्व तथा साहित्यालोचन के आत्मस्थानीय तत्त्व का एक साथ अभिनन्दन और अभिवन्दन का यह क्रम (जो अनेक साहित्यशास्त्रियो के मगलपद्यो मे प्राप्त होता है) इस अभिमत के लिए कि धर्म, दर्शन तथा साहित्यालोचन के सिद्धान्तो में चिन्तन की एकता अनुस्यूत है, सबल आधार है। अस्तु, कवि, काव्य तथा काव्यालोचन सम्बन्धी चिन्तन पर इस देश के दार्शनिक चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव पडा है। और धर्म तथा दर्शन की भांति साहित्यालोचन में भी दो चिन्तनधाराए प्राप्त होती है। एक की दृष्टि बहिर्मुखी है और दूसरे की अन्तर्मुखी। एक का ध्यान देव और ईश्वर की भाति अलकार, गुण और वक्रोक्ति के बाह्य तत्त्वो पर है तो दूसरे का रस, ध्वनि और औचित्य के अन्तस्तत्त्व या आत्मतत्त्व पर। बहिर्मुखी वृत्ति के काव्यालोचक यदि उपस्कार या अलकार का विवेचन करते है तो अन्तर्मुखी वृत्ति के उपस्कार्य या अलंकार्य का समाम्नाय प्रस्तुत करते है।

नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता।
अनादिनिधना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

पश्यन्ती—

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

मध्यमा—

अन्तःसंकल्परूपा या क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥

वैखरी—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥

—वि० पृ० १-२ में उद्धृत।

१. तथा चात्र पूर्वार्धे एव पदार्थान्वययोजनया पुनरावृत्त्याभिधेयपदार्थान्वय-योजना—यथा परां वाचमुत्तमकाव्यरूपतया काव्यात्मध्वनिसंज्ञाम् अभिधातात्पर्यलक्षणोत्तीर्णामुत्कृष्टाम्। —वि० पृ० २।

तत्त्वचिन्तन और साहित्यालोचन की चिन्तनसरणि की इस एकता को दृष्टि से ओझल कर संस्कृत साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्गीकरण ऐतिहासिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर, ध्वनिपूर्वकाल, ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल में करना, भले ही, हमें इतिहास के अध्ययन में सुविधा प्रदान करे पर निश्चित ही वह साहित्यालोचन के सिद्धान्त को किसी मौलिक आधार पर वर्गीकृत नही कर पाता है। अब लीजिए सम्प्रदायानुसारी विभाजन को। इसके अनुसार साहित्यालोचन के विभिन्न सिद्धान्तो को ५-६ सम्प्रदायों मे विभक्त किया जाता है। आधुनिक लेखक सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग 'स्कूल' शब्द के अर्थ में प्राय. करते है जिससे आपातत यह प्रतीत होता है कि ये सभी सम्प्रदाय साहित्यालोचन के सर्वथा परस्पर विरोधी विभिन्न मानदण्ड है ; उनमें न कोई एकता है न समन्वय। इस प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन के इतिहास की छाया में सम्प्रदायगत यह विभाजन प्रारम्भ से ही अस्पष्टता और भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है। आज का सस्कृत-समीक्षक विभाजन तो विभिन्न सम्प्रदायो में कर देता है पर जब कभी अलकार, रस, गुण, वक्रोक्ति या औचित्य मे से किसी एक की मान्यताए बतानी होती है तो वह भरत या भामह से अपना विवेचन प्रारम्भ करेगा तथा जयदेव और जगन्नाथ पर ला पटकेगा। साहित्यालोचन का विद्यार्थी सम्प्रदायगत विभाजन से तो यह समझता है कि साहित्यालोचन के ये विभिन्न प्रस्थान है पर प्रत्येक विषय पर सभी के प्रतिपादन को पढ़कर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सभी आचार्यों को एक ही बात कहनी है। फिर इस प्रकार के विभाजन से क्या लाभ है ? भामह तथा उद्भट ने कुल मिलाकर ४१ से अधिक अलकार नही लिखे है जब कि रुय्यक ने ७५ से अधिक अलकारों का निरूपण किया है पर भामह-उद्भट अलकारतन्त्रप्रजापति हैं किन्तु रुय्यक ध्वनिवादी हैं। और फिर चाहे जिस सम्प्रदाय को लीजिए प्रत्येक मे दूसरे सम्प्रदाय के विचार या तत्त्व, भले ही उसकी व्यापक मान्यता मान्य न हो सकी हो, अवश्य मिलेंगे। इतना ही क्यो, सच तो यह हैं कि एक दृष्टि के सम्प्रदाय उसी तरह के दूसरे सम्प्रदाय की न केवल मान्यता के विरोधी नही हैं अपितु वे एक दूसरे से सम्बद्ध और समन्वित प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए रससम्प्रदाय और ध्वनिसम्प्रदाय को लीजिए। क्या इन दोनो में आकाश-पाताल का अन्तर है? नही। ध्वनिसम्प्रदाय रससम्प्रदाय को पूर्णत' अन्तर्भूत करके चलता है। इसके अनुसार रस तो सदा व्यंग्य है ही वस्तु और अलंकार भी व्यग्य होते हैं। अथवा जैसा कि रसवादी विश्वनाथ का कहना है रसनीयता का सम्बन्ध यद्यपि सिद्धान्ततः केवल रस से है पर वस्तु और अलकार मे भी उसका

आस्वाद रहता है[१]। यहां तक कि नीरस पद्य भी काव्य-रस (प्रबन्ध-रस) की रसवत्ता पाकर रसवत् हो जाते हैं[२]। अब चाहे कह लीजिए कि रस की मान्यता में ध्वनिवाद आ जाता है या ध्वनि की मान्यता मे रससिद्धान्त, इन्हे अलग अलग सम्प्रदाय मानना कहाँ का न्याय है ? क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त की भी यही स्थिति है। उनका औचित्य रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवातु है[३]। दूसरे शब्दों में रस अलकार्य है, उसीका परिपोष औचित्य से होता है। इस प्रकार रसवादी भरत, ध्वनिवादी आनन्दवर्धन तथा औचित्यवादी क्षेमेन्द्र का आग्रह अलकार्य परं है। इन सभी के अनुसार अलकार्य तो रस (या व्यग्यत्रयी) है और शेष सब उपस्कारक या अलकार है। इन सबका दृष्टिबिन्दु अलकार्य है जो आत्मा है। इस आधार पर इन तीनों सम्प्रदायों को अलकार्य का सम्प्रदाय कहना चाहिए। इनका भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे विभाजन भ्रान्ति और अस्पष्टता उत्पन्न कर सकता है।

अब अलकारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय तथा वक्रोक्तिसम्प्रदायो को लीजिए। इन्हे भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय न मान कर अलकारसम्प्रदाय के ही अन्तर्गत रखना चाहिए। भामह और उद्भट काव्य के शब्दार्थ-शरीर को अलकार्य तथा अन्य सभी को (रसभावादि भी इसमें शामिल हैं) अलकार मानते है। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते है। रीति विशिष्ट पदरचना है। यह पदरचना शब्द (या शब्दार्थ) से भिन्न तो नही हो सकती है अत एव यही कहना होगा कि वामन के अनुसार भी शब्दार्थ अलकार्य हैं। इनके श्लेषादि दश गुण शब्द और अर्थ दोनो के हैं। वामन कान्ति नामक गुण की परिभाषा 'दीप्तरसत्वं कान्ति.'[४] बताकर इसके लिए भी सबल सकेत देते हैं कि इनके

---

१. ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा तदा × × × × वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेन्न। अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः। —सा० द० पृ० १८।

२. ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पदानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। —वही, पृ० २०।

३. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। —औ० वि० च०।

४. का० सू० वृ० ३, २, १४।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से अभिव्यक्त—दीप्त—रस की अर्थ

अनुसार रसादि को अलंकार्य नहीं माना जा सकता है, वह भी अन्ततः शब्दार्थ का गुण है। गुण सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अलंकार है[1]। इस प्रकार वामन का सम्प्रदाय भी अलंकार का सम्प्रदाय है जो विशिष्ट पदरचना अथवा अन्ततः शब्दार्थ को अन्य अलंकार-प्राधान्यवादी की ही भांति अलंकार्य तथा शेष सभी को अलंकार मानता है और इन्ही में रसभावादि का भी परिग्रह कर लेता है।

कुन्तक का वक्रोक्तिसम्प्रदाय भी ऐतिहासिक तथा तार्किक दृष्टि से अलंकार का ही सम्प्रदाय है। उन्होने अलकारतन्त्रप्रजापति भामह की वक्रोक्ति को ही व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इतिहास की दृष्टि से कुन्तक अलंकारसम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह के अनुयायी हैं। कुन्तक ने अपनी षड्विध वक्रता में वामन-सम्मत समस्त गुणचक्र को तथा ध्वनिवाद-सम्मत व्यंग्यत्रयी को समेट लिया है। उनकी यह वक्रोक्ति अलकार्य नहीं अपितु अलंकार है, और अलकार्य रसादि नही अपितु शब्दार्थ हैं। इस प्रकार भामहादि के अलकार, वामन के गुण तथा कुन्तक की वक्रोक्ति सभी अलकार हैं। इनके अनुसार अलंकार्य तो शब्दार्थ हैं जो काव्य-शरीर हैं। अलंकार्य के सम्प्रदायो की स्थिति इससे भिन्न है। इनमें से सभी शब्दार्थ और उनके गुण तथा अलकार की चर्चा करते हैं पर इनके अनुसार अलकार्य शब्दार्थ नहीं है अपितु रस या व्यग्यत्रयी है। ये आचार्य रस को अलकार के चरणो में न बाध कर गुण तथा अलकार का स्वरूपनिरूपण रस को दृष्टि मे रखकर करते हैं। रसोत्कर्षकता ही गुण और अलंकार का सामान्य स्वरूप बन जाता है। रसोन्मुखी दृष्टि के नाते गुण हो या अलकार दोनों ही, तरतम से ही सही, उपस्कारक हैं, अलकार हैं, अत. ध्वनिवाद को मानकर गुण तथा अलंकार में किसी प्रकार का मौलिक अन्तर सभव नहीं है। उसकी दृष्टि तो व्यग्यत्रयी पर है अन्य बाह्य तत्त्वों पर नही। ध्वनिवादी का अलकार्य पर यह आग्रह आत्मोन्मुखी या अन्तर्मुखी चेतना है और अलंकार पर आग्रह बहिर्मुखी

में स्थिति ही कान्ति नामक अर्थ-गुण है। रस शब्द से वामन को शृङ्गार आदि सभी रस अभिप्रेत हैं। वामन के ३, २, १४ सूत्र पर वृत्ति है—दीप्ता रसाः शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः। इस वृत्ति के व्याख्यान में कामधेनु-टीकाकार ने सभी रसों के उदाहरण दिए हैं। स्वयं वामन ने केवल संयोग शृङ्गार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया था।

१. सौन्दर्यमलङ्कारः। —का० सू० वृ० १, १, २०।

चेतना है। यही कारण है कि अन्तिम मत के आचार्य शब्दार्थ को शरीर और उसी को आत्मा मान बैठते है। पर ध्वनिवादी, नचिकेता की भांति, शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा नही मान सकता। वह तो श्वेतकेतु है जिसे तत्वमसि के उपदेश का अधिकार है जिसमें 'तत्' रस है और 'त्वम्' मानव के शाश्वत मनोभाव हैं जिनकी तदात्मना (रसरूप में) निष्पत्ति साहित्यिक का उपनिषद् है। अस्तु, निष्कर्ष यह है कि साहित्यालोचन के विभिन्न सिद्धान्तों के विकास पर इस देश के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव पड़ा है। ६ सम्प्रदायों में अलकार-सम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय तथा वक्रोक्तिसम्प्रदाय साहित्यालोचक की बहिर्मुखी चेतना को परिलक्षित करते है। सभी सहयात्री हैं क्योकि सभी शब्दार्थ से अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं। इन सभी को अलकार का सम्प्रदाय कहा जा सकता है क्योंकि इसी मे आत्मस्थानीय तत्वो का अन्तर्भाव ये सभी सम्प्रदाय मानते हैं। रस, ध्वनि तथा औचित्य के सम्प्रदाय अलकार्य के सम्प्रदाय हैं। शब्दार्थ से ये अपनी यात्रा अवश्य प्रारम्भ करते है किन्तु अपनी यात्रा समाप्त नही करते है, वे रसादि को विश्रान्तिस्थान मानते हैं। अलकार्य को ये अलकार नही बनाते अपितु अन्तिम को ही प्रथम के अधीन या अपेक्ष मानते है, इस प्रकार रस, ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त अलकार्य के सम्प्रदाय है। रुय्यक ने भामह से लेकर महिमभट्ट तक साहित्यालोचन के इतिहास पर जो अपने विचार व्यक्त किए हैं वे उपर्युक्त निष्कर्ष के पोषक हैं।

इन दो सम्प्रदायो के आचार्यों की अलंकार, गुण, रस, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि आदि काव्यतत्त्वों के स्वरूप और साहित्यशास्त्र में इन काव्यतत्त्वो के सम्बन्ध में मान्यताएं स्वभावतः भिन्न है। प्रस्तुत पृष्ठो में यद्यपि अलकार-स्वरूप का उन्मीलन ही प्राकरणिक विषय है किन्तु अलकारों का गुण आदि अन्य साहित्य के तत्त्वो से सम्बन्ध का विवेचन तथा प्राचीन और अर्वाचीन आलकारिको के अनुसार उनकी सीमा या वृत्त का निर्देश भी यथास्थान किया गया है। रुय्यक ध्वनिवादी हैं। उनका सिद्धान्तपक्ष आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त है। ध्वनिवाद की प्रमुख स्थापना वस्तु, अलकार तथा रस की व्यग्यत्रयी है जिसमे प्रधानता रस की है। इस व्यंग्यत्रयी के अवबोध या अनुभूति का माध्यम व्यजना व्यापार है।

ध्वनि काव्य की आत्मा है, वही काव्य का जीवातु है, वह उपस्कार्य है, अलकार्य है; गुण और अलकारों की भाति उपस्कारक नही है। अभिधा, लक्षणा या तात्पर्या के माध्यम से उसकी संवित्ति सम्भव नहीं है। इन सभी से

परे व्यंजना की स्वीकृति आवश्यक है। वही द्वार है, वही माध्यम या व्यापार है जो ध्वनितत्त्व की अनुभूति में हमारी सहायता कर सकता है। यह है सिद्धान्तपक्ष। काव्यालोचन की यह स्थापना नवम शती की है। इसके पूर्व भी काव्य थे, सहृदय थे, काव्यास्वाद होता था और उसका शास्त्रीय विवेचन भी। कालिदास की कविता सुनकर आनन्दवर्धन को जितना आनन्द मिला होगा उससे कम भामह या वामन को नही। इन सभी ने उस काव्यसौन्दर्य की व्याख्या शास्त्रीय शब्दों में करनी चाही थी। काव्य की उत्कृष्टता, सौन्दर्य या उसके पान में तो किसी भी आचार्य की दृष्टि से आच नही आ पाती। आप चाहे ध्वनिवाद मानें या अलंकारवादी बन जाए, 'य कौमारहर स एव हि वर·—' सुनकर बारबार आपका मन हरण होता ही रहेगा। भेद केवल इतना है कि जिसे ध्वनिवादी ध्वनिसौन्दर्य कहेगा उसे अलकारवादी अलकार या गुण की स्वरूपसीमा मे बाँधना चाहेगा। रुय्यक ने अलकारसर्वस्व की भूमिका मे ध्वनिस्थापनाओ के प्रति पूर्वाचार्यों के सम्भावित दृष्टिकोण का अध्ययन किया है। ध्वनिस्थापना के बाद जिन्होने ध्वनिवाद का अनुगमन नही किया है उनमें राजानक कुन्तक तथा महिमभट्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक अपनी वक्रोक्तिसीमा मे ध्वनि के लावण्य का सग्रह या समाहार करना चाहते थे और अनुमितिवादी महिम अनुमानप्रक्रिया के आधार पर उस सौन्दर्य को तार्किक चिन्तन की बेडी मे जकड़ना चाहते थे। पर ध्वनि का न तो वक्रोक्तिप्रकारो में अन्तर्भाव सभव है और न महामति महिम का साहस इसका खण्डन कर काव्यसौन्दर्य को तार्किक प्रक्रिया में बाध सकता है। सर्वस्व की इसी स्थापना का विवेचन इस अध्याय का प्रतिपाद्य है जिसे अलकार-सम्प्रदाय तथा अलंकार्यसम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार जानना आवश्यक है।

अलंकारसम्प्रदाय के आद्य आचार्य भामह (षष्ठशतक का मध्य भाग)

साहित्यालोचन का प्रथम आचार्य भामह को माना जाता है। रुय्यक न केवल इनका **चिरन्तन**[1] अलकारकार की श्रेणी में प्रथम परिगणन करते हैं अपितु **अलंकारतन्त्रप्रजापति**[2] कह कर अलकारमीमासा का आद्य आचार्य भी घोषित करते हैं। इनके पूर्व भरत ने नाट्यकला का अध्ययन विस्तार से किया था। उनके अनुसार काव्यकला नाट्यकला का ही अग है। जिन चार अलकारो

---

१. अ० स० पृ० ३।
२. व्य० वि० व्या० पृ० १८।

का उन्होंने निरूपण किया है उन्हें वे नाट्यसंश्रय कहते हैं। रस का विवेचन भी उन्होंने नाट्यशास्त्र की दृष्टि से किया था। कालान्तर में अवश्य वही रस काव्य की आत्मा भी बन गया। भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की दृष्टि से अलकार को, उसकी प्राणभूत वक्रोक्ति को, काव्य का सर्वस्व मान कर, काव्यालोचन का एक नवीन शास्त्र के रूप मे प्रारम्भ किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि नाट्यशास्त्र का रचनाकाल भामह के काव्यालकार से पूर्व का है किन्तु अलकार या गुण के विवेचन में भामह ने सर्वथा स्वतंत्र परम्परा का अनुगमन किया है[1]। भामह के अनुसार गुण तीन हैं जबकि भरत

१. देखिए--कम्पारेटिव एस्थेटिक्स, खण्ड १, पृ० ३९२ तथा ३९४-९५। भामह वक्रोक्ति का निर्वचन नहीं करते हैं। उनका प्रतिपादन यह मानकर चलता है कि वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्व से आलंकारिक परिचित हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि भामह वक्रोक्ति-कल्पना के उद्भावक आचार्य नहीं हैं। भरत के 'लक्षण' का स्वरूपनिरूपण करते हुए अभिनव ने 'एवं कविव्यापारबलाद् यदर्थजातं लौकिकात् स्वभावात् भिद्यमानं तदेव लक्षणमित्युक्तम्'(अभि० भा०हि० भाग पृ० ३२१)यह निर्गलितार्थ परिभाषा देते हुए इसी प्रसंग में भामह की 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है, यह भी सच है कि अनेक 'लक्षण' बाद में अलंकार बन गए अतः डा०पाण्डेय का अभिमत है कि भरत के लक्षण को ही भामह 'वक्रोक्ति कहते हैं—It is this very Lakṣana which is spoken of as Vakrokti by Bhāmaha in his Kāvyālaṅkāra.

—कम्पारेटेव एस्थेटिक्स, खण्ड ३, पृ० ३९९।

उनके इस मत से सर्वथा सहमत हो पाना कठिन है। भरत की रससम्बन्धी मान्यताओं को छोड़ भी दें पर गुण और अलंकार के सम्बन्ध में भी, जैसाकि डा०पाण्डेय भी स्वयं स्वीकार करते हैं, भामह को भरत का ज्ञापक नहीं मिला है। यदि भामह को भरत के लक्षण को ही वक्रोक्ति कहना अभीष्ट होता तो जहां अन्य अनेक आचार्यों के नाम से या उनके मत का 'अन्यै.' आदि से उल्लेख किया है वहाँ नाट्यशास्त्र के लेखक का उल्लेख न करना यही प्रमाणित करता है कि भामह की परम्परा भरत की परम्परा से भिन्न है। मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वक्रोक्ति और लक्षण मे सादृश्य या साम्य नहीं है, है इसीलिए वक्रोक्ति को लक्षण का नामान्तर मान लेना उचित नही है क्योंकि जहां कहीं साम्य

ने दस गुणों का निरूपण किया था। इनका स्वरूप भी दोनों आचार्यों की दृष्टि मे भिन्न है। भरत ने चार अलकारों का वर्णन किया है पर भामह 'इति वाचामलंकारा. पचैवान्यैरुदाहृता' द्वारा अलकारपचक की परम्परा का निबन्धन करते हैं। इनके ग्रंथ का नाम काव्यालकार है जो काव्य में अलकार के महत्त्व का समर्थ सूचक है। भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनेकधा उल्लेख किया है पर उनमे किसी की भी कृति आज उपलब्ध नही है। सभव है कि रुय्यक के समय तक भी वे कृतिया उपलब्ध न रही हो अन्यथा भामह से ही क्यो, इनसे पूर्ववर्ती किसी आचार्य से भी रुय्यक अपनी भूमिका प्रारम्भ कर सकते थे। भामह के अनुसार जडबुद्धि भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन कर सकता है किन्तु काव्य तो प्रतिभा का ही विधान है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

—भामहालकार, १।५।

और काव्य केवल शास्त्र से ही भिन्न नही है अपितु वार्ता से भी उसका छत्तीस का सम्बन्ध है। सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी नीड की ओर जा रहे है, इस तरह के वाक्य वार्ता मात्र हैं। उन्हे काव्य की श्रेणी मे नही रखा जा सकता है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

—भामहालकार, २।८४।

लोक और शास्त्र से काव्य का यह भेद शब्दार्थ की वक्रोक्ति पर आश्रित है जिसके बिना वाणी में चारुता नही आपाती। इसीलिए वक्रोक्ति वाणी की अलकृति है[1], उत्तम शृगार है, इसके विना काव्य की कोटि सभव नही है।

होता है वहां मूल में भेद होना स्वाभाविक है—यत्र किंचित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः।

१. न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः॥

—भामहालंकार, १।३६।

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते॥

—वही, ५।६६।

भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण माने हैं पर गुण भी उनकी दृष्टि से उतने महत्त्वपूर्ण नही हैं जितनी की वक्रोक्ति[1]। यही शब्द और अर्थ के अलकारों का, जो समान रूप से भामह को अभीष्ट[2] है, जीवनाधार है। इसी का समग्र काव्यजगत में साम्राज्य है। स्वभावत भामह ने वक्रोक्ति के विधान का आग्रह वक्रवाक् कवि (वक्रवाचा कवीनाम्) से किया है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

—भामहालकार २।८५।

इसके विना न तो अलकार सभव है क्योकि अर्थ में 'विभा' का आधान करने वाली समस्त विधा वक्रोक्ति है, और न काव्य की कोटि सभव है। भले ही प्रकृत कितना भी कान्त क्यो न हो, वनितामुख की भाति, भूषा के विना, रूपकादि की रूपणा के विना उसमे विभा नही आ पाती[3]। कान्ति में 'आभा' का विधान ही कविप्रतिभा का काम है। यही अलकृति है जो प्रकृतिमनोहर या स्वभावसुन्दर को भी सुवर्णालकार की तरह अपनी श्री से पोषित करती है[4]। विदग्धमण्डना नारी की भांति अलकारविधि से अलकृत कविवाक् विभा-सम्पन्न बन जाती है[5]। इस प्रकार भामह के अनुसार अलकार और इसकी प्राणभूत वक्रोक्ति ही काव्यसौन्दर्य का सर्वस्व है। स्वभावत. वे रसभावादि को भी अलकारो को ही श्रणी मे अन्तर्भूत करते है। उन्होंने 'युक्त लोकस्वभावेन

---

१ अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥ —वहीं, १।३४।

२ रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्॥ —वही, १।१४।

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥ —वही, १।१५।

३. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ —वही, १।१३।

४. इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।
अस्यां सुवर्णालंकारः पुष्णाति नितरां श्रियम्॥ —वहीं, ६।३०।

५. अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमण्डना।
—वहीं, ३।५८।

रसैश्च सकलैः पृथक्'(१।२१) द्वारा काव्य में रस-योग का आग्रह किया है,[1] ठीक उसी प्रकार जैसे कि भरत ने नाट्यरस की अनिवार्यता तथा महत्त्व का सस्तव किया है पर भामह ने 'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा' (३।६) से रसों को रसवत् तथा भावों को प्रेयोऽलकार की अलकारसीमा मे बाध दिया है। यही नहीं, रसवत् काव्य की उन्होने कपित्थ आम्र तक से समता देकर[2] यह सिद्ध कर दिया है कि वे इसकी अपेक्षा वक्रोक्ति को कही अधिक महत्त्व देते हैं।

दण्डी (सप्तमशतक)

काव्यालोचकों मे दण्डी का स्थान अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है[3]। गुण, रस, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि अनेक तत्त्वो के सम्बन्ध में भामह और दण्डी मे परस्पर उल्लेखनीय मतभेद है। और यह भी सच है कि भाषा तथा चिन्तन दोनो ही दृष्टियों से इन दोनो के ग्रन्थ एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हैं[4]। भामह नाट्यशास्त्र से भिन्न परम्परा के आचार्य है पर दण्डी पर इस परम्परा का पर्याप्त प्रभाव है। त्रिविधगुणवादी भामह के विपरीत, भरत की भाति, दण्डी दशगुण मानते है। उन्होने वैदर्भी और गौडी मार्गों में परस्पर सूक्ष्म भेद तथा स्फुट अन्तर[5] का प्रतिपादन किया है, जबकि भामह इन दोनो में कोई भेद मानना

---

१. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ —वही, ५।३।

२. अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्य कपित्थमाम्रं च केषाञ्चित् सदृशं यथा॥ —वही, ५।६२।

३. रुय्यक ने दण्डी का सर्वस्व में तो अनेकधा उल्लेख किया ही है साहित्य-मीमांसा में इनका अनेकधा अनुसरण किया है। सर्वस्व की भूमिका में रुय्यक के 'भामहोद्भटप्रभृतयः' के प्रभृति पद से जयरथ दण्डी का ही ग्रहण करते हैं—
प्रभृतिना दण्ड्यादयः। —वि० पृ० ३।

४. देखिए—काणे— (i) Relative Position of Bhāmaha and Daṇḍin. पृ० ८६-१२५ (ii) Parallel passagees from Bhamaha and Daṇḍin. —काव्यादर्श (मद्रास)

५. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥ —काव्यादर्श १।४०।

मूर्खता या अमेधा (मूर्ख) का गतानुगतिक न्याय मानते थे[1]। दण्डी का गुणों के प्रति आग्रह प्रसिद्ध है। समाधि को वे काव्यसर्वस्व (१।१००) कहते हैं। इनके अनुसार काव्य का प्रधान आकर्षण मनोहर रीति है[2]। माधुर्य की मधुरता से, उनके अनुसार, मधु से मधुकर की भाति सहृदय झूम उठता है—

येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः। १।५१।

अस्तु, आश्चर्य नही यदि दण्डी को इतिहासकार रीतिवाद का उन्नायक मानें। भामह की अपेक्षा दण्डी ने रस का महत्त्व भी अधिक स्वीकार किया है। काव्यालकार मे इसके लिए स्थान नगण्य-सा है। भामह महाकाव्य के रसयुक्त होने की चर्चा करते है किन्तु सरल होने पर भी वक्रोक्तिहीन रचना को काव्य मानने के लिए प्रस्तुत नही है। दण्डी ने न केवल माधुर्य का स्वरूप रसवत्ता मे माना है अपितु वे वस्तु में भी रसस्थिति स्वीकार करते हैं[3]। हाँ यह अवश्य है कि अलकारसम्प्रदाय के ये दोनो आचार्य रस को अलंकाररूप में ही मानने को बाध्य हैं। स्वभावतः दण्डी ने भी रसभावादि का अन्तर्भाव रसवत्प्रेय आदि अलकारो में ही किया है[4]। रसादि का स्मरण अलंकार रूप में ही हुआ है[5]।

वक्रोक्ति की दृष्टि से देखिए। भामह काव्य तथा अलकार का प्राण वक्रोक्ति को मानते हैं अतः हेतु, सूक्ष्म तथा लेश जैसे को वे अलकार नही मानते[6] थे पर दण्डी ने इन्हे 'वाचामुत्तमभूषणम्'[7] मानकर इनकी अलंकारता स्वीकार की है[8]। वक्रोक्ति दण्डी के अनुसार वाङ्मय का एक प्रकार है[9] जब कि इसके स्वभावोक्ति-प्रकार[10] का शास्त्र और काव्य में समानरूप से साम्राज्य

---

१ गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥ —भामहालकार, १।३२।

२ वाचां विचित्रमार्गाणाम्। —काव्यादर्श, १।९।

३. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। —वही, १।१५।

४. काव्यादर्श, २।२७५।

५. अलंकारतया स्मृतम्।

६. भामहालंकार, २।८६।

७. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। —काव्यादर्श, २।२३५।

८. अलंकारतयोद्दिष्टम्। —वही, २।२३६।

९. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। —वही, २।३६३।

१०. वहीं।

है[1]। यही स्वभावोक्ति या जाति काव्य की आद्य अलंकृति है[2] क्योंकि लोकयात्रानुवर्तन ही कान्त या सौन्दर्य है[3]। और फिर भले ही सारे अलकार अर्थ में रस का अभिषेक करते हो पर अग्राम्यता (जिसे प्रभा टीका के शब्दो में विदग्ध-जनव्यवहार कहेंगे) जो वस्तुतः रचनाशैली के लिए एक अस्पष्ट नाम है, काव्य-सौन्दर्य का भूयोभार बहन करती है[4]। गुण, रस, वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में भामह-दण्डी का यह परस्पर मतभेद दोनो की भिन्न परम्परा का प्रमाण है, काव्यालोचन के विकास का सूचक है किन्तु नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तन का आधार प्रस्तुत नही करता है। भले ही भामह की अपेक्षा दण्डी का झुकाव रस की ओर अधिक है, स्वभावोक्ति भी उन्हे ईप्सित है और माधुर्य का आस्वाद भी उन्हे अधिक रुचिकर लगता है किन्तु हैं वे भी काव्यालोचन की बहिर्मुखी चेतना की परिधि मे। चाहे मार्ग हो और चाहे शोभाकर धर्म अलकार[5], कोई भी ध्वनिकोटि सा अलकार्य नही है। अलकार्य तो दण्डी के भी अनुसार शब्दार्थ ही है। अस्तु, गुण और अलकार का भेद मानकर दण्डी को रीतिवाद का आचार्य मान लेना मोहमात्र है। वामन में तो गुणालकार में कुछ भेद है, किन्तु दण्डी के अनुसार इन दोनो मे भेद बता पाना भी संभव नही है क्योकि स्वभाव तथा कार्य की दृष्टि से दोनो ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व है। अभिनव का भी इस सम्बन्ध मे यही अभिमत है—

> दण्डिनापि काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते इति ब्रुवता गुणमध्य एव तत्र प्रसादादीनभिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसम्भवीति सूचितं भवति ... —अभि० भा० (द्वितीय भाग), पृ० २६५।

---

१. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्। —वही, २।१३।

२. स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। —वही, २।२८।

३. कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः। —वही, २।८८।

४. कामं सर्वोऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवेन भारं वहति भूयसा॥ —वही, १।६२।

५. दण्डी ने अलंकार की परिभाषा यह दी है—
काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —वही, २।१।
यही परिभाषा अग्निपुराण में भी अक्षरशः उपलब्ध होती है। यदि पुराण के इस अंश को परवर्ती न माने तो यही निष्कर्ष संभव है कि काव्य में यह परिभाषा पुराण से ली गई थी।

अस्तु, भामह की भांति दण्डी के अनुसार भी काव्य की अमरता या कल्पान्तर-स्थायिता सदलंकारता में ही है—

काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति। —काव्यादर्श, १।१९।

वामन (आठवीं शती)

वामन और उद्भट समकालिक थे अतः कतिपय इतिहासकार जैसे कि डा० काणे, उद्भट की चर्चा पहले करते है। इतिहास की दृष्टि से वामन की पूर्ववर्तिता भले ही विवाद का विषय हो किन्तु काव्यस्वरूप के स्वाभाविक और यौक्तिक विकास को दृष्टि में रखकर, दण्डी के अनन्तर, अलकारसम्प्रदाय के आचार्यों में काव्यालंकारसूत्र तथा उस पर वृत्ति के रचयिता वामन का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। यही वह प्रथम आलकारिक है जो काव्य की आत्मा का स्पष्ट विवेचन करता है। इनसे पूर्व के किसी भी आचार्य ने जयरथ के शब्दो मे उपस्कार्य आत्मा का अभ्युपगम नही किया था[1]—

× × × × तदुपस्कार्यः पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः। वामनेन तु तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्तः। —वि० पृ० ८।

भरत की भाति वामन शब्दार्थ के दस गुण मानते हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति। इन गुणो के कारण पदरचना मे एक विशेषता आ जाती है[2]। यही विशिष्ट पद-रचना रीति[3] है जो काव्य की आत्मा है[4]। अब इस गुणात्मा रीति का अलकार, वक्रोक्ति, रस आदि से सम्बन्ध देखिए। रीतिवादी वामन के अनुसार गुण तथा

---

१. रुय्यक के 'काव्यात्मत्वेनोक्तः' पर जयरथ की ही भांति, श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी मत है कि वामन से पूर्ववर्ती आलंकारिक जीवितांश (आत्मा) पर विचार से विमुख थे जबकि वामन जीवितांश पर विचार करने वाले प्रथम आचार्यों में से हैं—

काव्ये जीवितांशविचारविमुखानामलंकारमात्ररसिकत्वादुत्तानदृशां मतमुपन्यस्य जीवितांशविचारपराणां मतानि यथावदुपन्यस्यति ॥

—सञ्जी० पृ० ६।

२. विशेषो गुणात्मा। —का० अ० सू० १।२।८।

३. विशिष्टा पदरचना रीतिः। —का० अ० सू० १।२।७।

४. रीतिरात्मा काव्यस्य। —का० अ० सू० १।२।६।

अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ काव्य[1] है और काव्य की उपादेयता अलकार के कारण है[2]। अलकारविधान का अर्थ एक तो अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक। प्रथम अर्थ में दोष का परिहाण विवक्षित है तो दूसरे अर्थ में गुण तथा अलकार के आदान का भावात्मक विधान अभिप्रेत है[3]। वामन की परिभाषा में अलकार शब्द सौन्दर्य का पर्याय है (अत. इस दृष्टि से दण्डी की परिभाषा से वामन की परिभाषा भिन्न नही है[4]) स्वभावत. उसमे गुण तथा अलकार दोनो का ही समावेश होता है। अलङ्कृति या सौन्दर्य के भावप्रत्ययार्थ मे अलंकार शब्द गुण का विशेषत तथा उपमादि का सामान्यतः वाचक है। करणव्युत्पत्ति (अलङ्क्रियतेऽनेन) से अलकार शब्द उपमादि का वाचक है। यद्यपि गुण तथा अलकार दोनों ही सौन्दर्य-सृष्टि के माध्यम हैं पर यौवन की भाति[5] गुण अन्तरग, नित्य[6] तथा शोभा के उत्पादक[7] धर्म है अर्थात् केवल उनकी स्थिति से सौन्दर्योत्पाद सम्भव है। पर अलकार अनित्य, बाह्य तथा अतिशायी धर्म है[8],

१. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
—का० अ० सू० १।१ पर वृत्ति।

२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। —वही, १।१।

३. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। —वही, १।१।३।
वृत्ति—स खलु अलंकारो दोषहानात् गुणालंकारादानाच्च संपाः कवेः।

४. दण्डी ने अलकार को काव्यशोभाकर बताकर सौन्दर्य का पर्याय बताया है। वामन का गुणालंकारविभाग दण्डी से प्रभावित है। हां इतना अवश्य है कि दण्डी के विचारों को विशदता और स्पष्टता वामन ने ही दी। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—कन्सेप्ट ऑफ रीति एण्ड गुण, पृ० ५६-५८।

५. इस सम्बन्ध में वामन का यह श्लोक उल्लेख्य है—
युवतेरिव रूपमंग काव्य स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
—का० अ० सू० ३।२ पर उद्धृत।

६. पूर्वे नित्याः।—वही, ३।१।३।
वृत्ति—गुणाः नित्यास्तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।

७. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। —वही, ३।१।१।

८. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। —वही, ३।१।२।

केवल उनके रहने से सौन्दर्योत्पाद सम्भव नहीं है[1] अतः वामन के अनुसार सौन्दर्यविधान की दृष्टि से गुण की अपेक्षा अलकार की कोटि हीन होगई है। शास्त्रीय शब्दावली के घटाटोप को छोड कर साधारण शब्दो मे यही कहा जा सकता है कि यदि गुण बन्ध (पदरचना), अनुक्रम-रचना या व्यवस्था का सौन्दर्य है तो अलकार उक्तिवैचित्र्य या शब्दार्थप्रसाधन का। पहला वस्तुगत या विषयगत शैली का पर्याय है तो दूसरा विधानप्रकार का। काव्य एक चित्र है, उसमें रीति रेखाए है[2], अलकार रग है जो रेखासौन्दर्य को उभार देता है। गुण यौवन हैं, अलकार कुसुम और कुकुम। कुसुम मुरझाते हैं, कुकुम धुल जाता है और यौवन भी तो चला गया तो लौटता नही—यौवनमनिर्वात यातन्तु। भले ही एक बहिरग है दूसरा अन्तरग पर आत्मा कोई नही। आखिरकार वामन भी तो, व्यापक अर्थ में ही सही, अलकार के आचार्य है, अलकार्य के नही। गुणालकार मे तारतम्य है, रूपभेद है, स्थितिभेद है पर परिणामभेद नही है। दोनो ही सौन्दर्य के साधन हैं—अलकार्य सौन्दर्य का साधन नही होता, वह साध्य है। अस्तु. वामन का सम्प्रदाय भी अलकारसम्प्रदाय ही है। उनके दश गुणो में तीन गुणो, माधुर्य, कान्ति तथा अर्थव्यक्ति का प्रमुख रूप से उल्लेख आवश्यक है। माधुर्य का स्वरूप है—

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। —वही, ३।२।१०।

वृत्ति— उक्तेर्वैचित्र्यं यत् तत् माधुर्यम्।

भामह की वक्रोक्ति का स्वरूप भी यही है, कुन्तक ने इसी रूप में इसकी व्याख्या भी की है। कान्ति गुण के स्वरूप में शृगार आदि रसो का अन्तर्निवेश है—

दीप्तरसत्वं कान्तिः।[3] —का० अ० सू० ३।२।१४।

इस प्रकार माधुर्य गुण में भामह की वक्रोक्ति का और कान्ति गुण में रस का अन्तर्भाव वामन को विवक्षित है। अर्थव्यक्ति का लक्षण है—

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। —वही, ३।२।१३।

---

१. कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्।
ओजःप्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।
—वही, ३।१।१ की वृत्ति।

२. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम्।
—का० अ० सू० वृ०।

३. वृत्ति— दीप्ताः रसाः शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः।

स्वभावोक्ति तथा भाविकालंकार में वस्तुस्वभाव की स्फुटता स्वरूपनिर्वाहक लक्षण है। स्वभावोक्ति में वस्तु के सूक्ष्मस्वभाव का स्फुट निबन्धन होता है तथा भाविक में अतीत और अनागत वस्तुओं की साक्षात्त्वेन प्रतीति या प्रत्यक्षायमाणत्व के लिए वस्तुस्वभाव की स्फुटता आवश्यक है। इसप्रकार अर्थव्यक्ति एक ऐसा गुण है जो अलकारविधान का अपरिहार्य सोपान है। इन गुणो के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वामन वक्रोक्ति, रस तथा कतिपय अलकारों के सौन्दर्य को गुणात्मा रीति में अन्तर्भूत करते है।

उद्भट (नवम शतक का मध्यभाग)

कुमारसम्भव काव्य, भामहविवरण तथा काव्यालकारसग्रह[1] में केवल अन्तिम दो कृति ही प्राप्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के नाट्यशास्त्र पर भी इन्होने टीका लिखी थी[2], इसप्रकार आलकारिक रूप में न केवल अलकार-सम्प्रदाय के आद्य आचार्य से अपितु नाट्यशास्त्र की परम्परा से भी इनका सम्बन्ध था। परिणामत जहा एक ओर इन्होने काव्यस्वरूप नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के अनुसार स्वीकार किया[2] है वहा दूसरी ओर रसादि को, भामह की भाति, रसवदादि की शृखला में बांध कर[3] अलकारसम्प्रदाय की मान्यता का पुन स्थापन किया है। उद्भट तक अलकारसम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण चिन्तन गुणालकारविभाग[4] था, जिसका दिशानिर्देश दण्डी ने किया था तथा स्फुट प्रतिपादन वामन ने। गुण को यौवन और शौर्य की भांति तथा अलकार को कटककुण्डलादि की भाति बताकर गुणवादी आचार्य गुण की स्थिति समवायवृत्ति से तथा अलकार की स्थिति सयोगवृत्ति से सिद्ध करना चाहते थे। ऊपर

---

१. इस कृति का उल्लेख चार रूपों में किया जाता है—
   (क) अलंकारसारसंग्रह : काणे तथा उपाध्याय।
   (ख) काव्यालंकारसार : शंकरन्।
   (ग) काव्यालंकारसारसंग्रह : पोद्दार, बनहट्टी तथा गायकवाड संस्करण।
   (घ) काव्यालंकारसंग्रह : डा० दे।

२. Some Aspects of Literary Criticism, पृ० ३०।

३. Comparative Aesthetics, पृ० ४०६।

४. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्। —का० सू० ४।४।
   स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥
   रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
   यत् काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयस्वदुदाहृतम्॥ —का० अ० सं० ४।२।

हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नही है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि गुण शब्द तथा अर्थ के नित्य और स्थिर उपस्कारक है किन्तु अलकार अस्थिर और आरादुपकारक हैं। किन्तु अन्ततः कोई भेद नही है क्योकि दोनो का अलकार्य शब्दार्थ है तथा दोनो ही आपेक्षिक महत्त्व को छोड कर समान रूप से अलकार हैं, सौन्दर्य के साधन हैं[1]। इसी दृष्टि से उद्भट ने गुणालकार के दण्डी-वामन-सम्मत भेद को केवल प्राचीनता का अन्धानुकरण मात्र मानकर, समवाय और सयोग वृत्ति पर आधृत भेद को गड्डरिका-प्रवाह कहा है क्योकि ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलकार समान रूप से शब्दार्थ में समवाय वृत्ति से रहते हैं—

एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः।

—का० प्र० अष्टमोल्लास।

उद्भट के अनुसार गुण तथा अलकार में जो कुछ भेद है वह केवल विषय अथवा आश्रय की दृष्टि से है। गुण सघटना (रचना या रीति) पर आश्रित हैं तो अलकार शब्दार्थ पर। एक सघटन के धर्म है तो दूसरे शब्दार्थ के—

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टेः।[2]

——अ० स० पृ० ६।

अस्तु, अलकार-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य उद्भट की दृष्टि मे, जिसका रुय्यक ने विशेषतः अनुसरण किया है, गुण तथा अलकार समानरूप से सौन्दर्यहेतु हैं।

---

१. तद् गुणालंकाराणां तुल्यत्ववादिन एवोद्भटाः। —वि० पृ० ६।

२. गुणालकारविभाग के सम्बन्ध में रुय्यक द्वारा उद्भट के मत का यह विवेचन अभिनव के लोचन तथा बाद में अविकल रूप में, विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण में भी प्राप्त होता है—

(क) संघटनायाः धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः।

(ख) चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणां चाश्रयभेदव्यपदेशः। संघटनाश्रयाः गुणाः। शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकाराः। —प्रतापरुद्र० पृ० ५५७।

उपर्युक्त अंश पर रत्नापण टीका भी द्रष्टव्य है।

दोनों की ही एक कोटि है। अत: उनमें से गुण (या गुणात्मा रीति) को उपस्कार्य तथा उपमादि को उपस्कारक मानना तर्कहीन है। फिर जब दोनो ही एक कोटि के है तो इनमे परस्पर उपस्कार्योपस्कारकभाव माना ही नही जा सकता है (कुसुम कभी कुसुम का प्रसाधन नही बनता है)। और यदि उपस्कार्य मान भी लें तो क्यों न अलकार को उपस्कार्य और गुण को उपस्कारक मान लिया जाए—

अभिन्नकक्षयाणां ह्युपस्कार्योपस्कारकत्वस्यानुपपत्तेः। तथात्वे चालकाराणामपि गुणोपस्कार्यत्वं प्रसज्यते समानन्यायत्वात्।

—वि० पृ० ६।

आचार्य चक्रवर्ती गुण को अलकार की अपेक्षा हीन सिद्ध करने तक को प्रस्तुत हैं। उनका कहना है कि रीति अनुप्रास-स्थानीय है। अलकारो में अनुप्रास का स्थान ऊँचा नही है। वह अर्थालकार तो है ही नहीं शब्दालकार से भी गया बीता है, केवल वर्णालकार है, उसीके समकक्ष वामन की रीतिया है—

शब्दालंकारेभ्योऽपि यो बाह्यो वर्णालंकारोऽनुप्रासस्तत्समकक्षका एता रीतियो यतो द्वयोरपि वर्णधर्मता। —सजी० पृ० १०।

स्वभावत हम यह निष्कर्ष प्रस्तुत करने को बाध्य है कि वामन का रीतिवाद अलकार्य का सम्प्रदाय न होकर अलकार का सम्प्रदाय है तथा गुण का उन्नयन करने पर भी रीतिवाद अलकारवाद की मौलिक मान्यताओ से अधिक दूर नही है।

रुद्रट

उद्भट के बाद और रुद्रट के पूर्व तक काव्यालोचन पर नाट्यशास्त्र की परम्परा का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था इसका एक परिणाम यह हुआ कि काव्य और नाटक का भेद समाप्त हो चुका था केवल इतना अन्तर अवश्य शेष रह गया था जो उसका मौलिक अन्तर है कि एक श्रव्य है तो दूसरा दृश्य। इसी के रस का विवेचन विशेषरूप से काव्यालोचन का भी विषय बन गया था यही कारण है कि यद्यपि रुद्रट ने अलकारो का प्रधान रूप से विवेचन किया है पर प्रासंगिक रूप से साहित्यशास्त्र के अन्य अगों की और विशेषतः रस-विषय की चर्चा की है। इस समय ध्वनिसम्प्रदाय का भी उन्मीलन हो रहा था किन्तु रुद्रट स्वयं अलंकारसम्प्रदाय के आचार्य है, इसलिए नही क्योकि इनके ग्रन्थ का नाम

काव्यालंकार है या अलंकारों पर अधिक लिखा है अथवा वैज्ञानिक वर्गीकरण की प्रथम आधारशिला प्रस्तुत की है अपितु इसलिए कि वे अलकारविधा में रस-सौन्दर्य का भी समावेश करते हैं, भले ही वे रसयुक्त काव्य के निर्माण का कितना भी उपदेश दें[1] या नवीन रस (प्रेयस्)[2] की विवेचना करें। स्पष्ट है कि इन्हें समन्वयवादी आचार्य, जैसा कि डा० शंकरन् का कथन है[3], मानने का प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि रुद्रट के काव्य का परम सार अलकार है[4]।

रुद्रट के बाद ध्वनिसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। स्वभावत: परवर्ती ध्वनिविरोधी अलकारवादी आचार्यो ने ध्वनि का खण्डन या अपने प्रस्थान में अन्तर्भाव जानबूझकर किया है। इससे पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थिति इससे भिन्न है। उन्हे ध्वनिप्रस्थान से परिचय न था। रुय्यक ने ध्वनिपूर्वकाल के अलकारवादी आचार्यो के मत का उल्लेख 'तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्' के रूप में कि व्यंग्यत्रयी का अन्तर्भाव चिरन्तन अलंकारवादियो को अलकारपक्ष में अभिमत था। उनकी भूमिका का प्रारम्भ इसी निष्कर्ष से होता है—

इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।

प्रतीयमानवस्तु, अलकार तथा रस अर्थात् व्यग्यत्रयी के इस 'अलकारपक्षनिक्षेप' की समासत· व्याख्या अप्रासगिक न होगी।

अनेक अलकार, जिनमें प्रमुख रूप से पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, लाटानुप्रास (चक्रवर्ती के अनुसार) तथा विशेषोक्ति (समुद्रबन्ध तथा आनन्दवर्धन) के अवान्तर भेद का परिग्रह कर सकते हैं[5], गम्यमान मान वस्तु को गर्भित किए रहते हैं। यह प्रतीयमान वस्तु

१. तस्मात् तत् कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। —वही, १२।२।

२. स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्। —वही, ५७।१७।

३. Some Aspects of Literary criticism, पृ० ३४।

४. सारं समाहितमनाः परमाददानः।

—काव्यालंकार (रुद्रट) १२।३६।

परमुत्कृष्टं सारमलंकारानाददानो गृह्णन्। —नमिसाधु की टीका।

५. रुय्यक के 'पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ' (अ० स० पृ० ३-४) के आदि पद पर तीनों टीकाकारों

वाच्यार्थ या वाच्यालंकार की विच्छित्ति का उपस्करण करने के नाते, वाच्योपस्कारकता के कारण, अलंकार-सौन्दर्य की सीमा में ही आ जाती है। जयरथ के अनुसार वाच्योपस्कारकता ही अलंकारत्व है या अलंकार का आत्मभूत जीवातु है। स्वभावतः प्रतीयमान की विच्छित्ति को अलकारस्वरूप से पृथक् नही किया जा सकता। रुय्यक का यह अनुशीलन चिरन्तन आचार्य भामहादि के मत का है। इनके अनन्तर ध्वनिविरोधी आचार्यों में कुन्तक तथा महिम उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने ध्वनिस्थापना के बाद उसका अन्तर्भाव वक्रोक्ति तथा अनुमिति में जानबूझकर किया था और रुद्रट तक के आचार्यों ने अनजाने। पहले हम भामह, दण्डी, वामन, उद्भट तथा रुद्रट के अनुसार ध्वनितत्त्व के अलकारविभाग में अन्तर्भाव पर विचार करेंगे बाद में कुन्तक तथा महिम के मत का विश्लेषण करेंगे। ध्वनि या व्यग्यार्थ तीन प्रकार का है—वस्तु रस तथा अलकार। प्रायः सभी अलकारों की अनुभूति अभिधाव्यापार पर आश्रित है। अभिधा शब्द की प्रथमशक्ति है जो साक्षात् सकेतित अर्थ का अवगम कराती है। भाषा का प्रमुख प्रयोजन विचार का सप्रेषण या विनिमय है। अलकृत अर्थ उक्तिवैशिष्ट्य है जो प्रभावोत्पादन, स्पष्टता तथा रामणीयक से चमत्कार या विच्छित्ति की सृष्टि करता है इसीलिए विच्छित्ति को ही अलकार की परिभाषा भी मान सकते है—

अलकारो हि विच्छित्तिः।

प्रतीयमान वस्तु उपर्युक्त अलंकारो में किसप्रकार अन्तर्भूत है? अभिधेय केवल साक्षात् सकेतित अर्थ है। दूसरे अर्थ के अवबोध या वाच्यार्थ के साथ द्वितीयार्थ को सम्बद्ध बनाने की अभिधा में शक्ति नही। व्यजना इन आचार्यों को मान्य नही है। स्वभावतः यह कहना होगा कि लाक्षणिक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रतीयमान अर्थ का अवबोध होता है, जो अन्ततः काव्यार्थ का उपस्करण करता है।

लोक तथा साहित्य में अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं चाहे वह रूढ़ि के

की व्याख्या भिन्न हैं। वे हैं—

(क) आदिशब्दात् लाटानुप्रासपरिग्रहः। —संजी०।

(ख) आदिशब्दः प्रकारे तेनाभिष्टविध्याभासाक्षेपादेग्रहणम्। —वि० पृ० ६।

(ग) आदिग्रहणाद् विशेषोक्तौ। —समुद्र० पृ० ५।

कारण हों या किसी प्रयोजन को लेकर, जिनमें मुख्यार्थ अनुपपन्न होता है, वाच्यार्थ की वाक्यार्थ से सगति नही बैठती। इस अनुपपत्ति या असगति का समाधान करने के लिए विभिन्न सम्बन्धो के आधार पर वाच्यार्थ से सम्बन्ध होने पर भी वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यही लक्षणा का स्वरूप है[1]। कवि की यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति लोक की भांति प्रयोग-परम्परा (रूढि) के कारण तो होती ही है पर मेरी दृष्टि में अभिव्यक्ति को सामर्थ्य और सौन्दर्य प्रदान करने के लिए, अतिशय की प्रभावात्मक प्रतीति के हेतु कवि विशेषत. लक्षणाभगी का सहारा लेता है। छोटे कवि के लाक्षणिक प्रयोग कविपरम्परा की पिटी हुई रथ्या मे चलते रहते हैं किन्तु महाकवि, चाहें वे आज के हो या प्राचीन, नित नवीन लाक्षणिक प्रयोगो को सदा माध्यम अपनाते रहे है। आधुनिक साहित्य मे इसीने प्रयोगवाद और प्रतीकयोजना जैसे बहुत कुछ नवीन माध्यम को जन्म दिया है। योतो कुशल कवि अभिधा के माध्यम से—प्रमुख शब्दशक्ति के सहारे—सारे भाव और वस्तु का अभिधान कर सकता है पर अभिधेय अभिव्यक्ति की सीमाए भी है। अभिधा के तल पर कवि जब किसी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य नही ला पाता तो लक्षणा की ऊर्ध्वगति से रमणीय या चमत्कारी अर्थ की अभिव्यक्ति सभव हो जाती है। यही कारण है कि अनेकधा कवि जानबूझकर अर्थ पैदा करता है। यह असगति नवीन अर्थ की वर्षा करती है। यही स्थिति लक्षणा की है। उदाहरण लीजिए—गाव नदी में बसा है, चन्द्रमुखी की मुखसुधा को पान कर नयनचकोर नही अघाते; प्रियतमा ने अपनी दुग्धकुल्या दृष्टि से प्रियतम को स्नान कराया। इन सभी प्रयोगो मे अभिधेयार्थ की दृष्टि से असगति स्पष्ट है। किन्तु अभिधा को छोड़ कर लक्षणा के स्तर पर इन प्रयोगों का अभिव्यक्तिसौन्दर्य स्पष्ट है। अनेक अलकार कवि-प्रतिभा द्वारा प्रसूत इन्ही लाक्षणिक प्रयोगो के विभिन्न नाम है। कुछ अलकारों की चर्चा के पूर्व लक्षणा की द्विविध भगी की चर्चा कर लेना आवश्यक है। दो उदाहरण लीजिए। एक है 'कुन्ता. प्रविशन्ति' या भाले घुस रहे हैं। दूसरा है 'गगाया घोष.' या गगा में अहीरो का गाव बसा है। न तो भाले प्रवेश कर सकते हैं और न गगा में गाव बस सकता है अत यहाँ मुख्यार्थ असगत है, अनुपपन्न है या बाधित है। प्रथम प्रयोग में लक्षणा के सहारे भाले वाले

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥

—का० प्र० २।९ ।

(कुन्तिनः) इस अर्थ का अवबोध होता है या दूसरे शब्दों में वाच्यार्थ संगत बनने के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लेता है। इसे 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' कहा जाएगा। दूसरे उदाहरण (गगाया घोषः) मे अहीरो का गाव गगातट पर है इस अर्थ को बताने के लिए गगा ने अपना अर्थ छोड़ दिया है या यो कहिए कि दूसरे अर्थ को सगत बनाने के लिए वाच्यार्थ अपने अर्थ का समर्पण कर देता है। इसे 'परार्थं स्वसमर्पणम्' कहा जाएगा। इन्ही दो माध्यम के आधार पर रुय्यक के अनुसार हमें प्राचीन आचार्यों के इस मन्तव्य का अनुशीलन करना पडेगा कि किस प्रकार अनेक अलकारों मे प्रतीयमान अर्थ का अवबोध सम्भव हो पाता है। प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण का अध्ययन करने के बाद ही सिद्धान्तपक्ष के अनुसार उनका खण्डन उचित होगा।

पर्यायोक्त

गम्य होने पर भी जब किसी बात को भंग्यन्तर से अभिधा से कह दिया जाए तो पर्यायोक्त अलकार कहलाता है[1]। अगर कही कारण का वर्णन अभीष्ट है पर उसकी जगह कार्य का वर्णन हो तो वही कारण के वर्णन की भगी (प्रकार) बन जाती है। उदाहरण लीजिए—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मंजर्यो यस्य सैनिकैः ॥

इस पद्य में स्वर्ग की विजय का वर्णन अभीष्ट है पर अभिधान हुआ है सैनिको द्वारा पारिजात की मजरी के मर्दन का। पर गम्य अर्थ स्वर्ग विजय (कारण) कार्य (मंजरीमर्दन) से सम्बद्ध होने के नाते अभिधानविधा में आ जाता है। कार्यरूप अर्थ अपनी सिद्धि के लिए कारण की अपेक्षा करता है। अत. यहा परार्थ स्वसमर्पण है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

सामान्यविशेषभाव आदि के आधार पर जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत का

---

१. गम्यस्यापि भंग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।

—अ० स० पृ० १४१ तथा देखिए वृत्ति ।

उद्भट का पर्यायोक्तलक्षण प्रतीयमान वस्तु के गर्भीकार की अस्पष्ट किन्तु समर्थ सूचना है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥

प्रत्यायन होता है उसे आलंकारिक अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मानते हैं[1]। कवि 'प्रहस्त' के विनाश का वर्णन करते हुए लिखता है—

नियतिगृहिणी ने अपने प्रिय पथिक काल के लिए ऐसी कोई चीज नहीं जिसे पाथेय रूप में न बनाया हो[2]। वर्णन तो यहां एक विशेष राक्षस (प्रहस्त) के विनाश का प्रस्तुत है किन्तु कवि एक सामान्य सिद्धान्त की चर्चा कर देता है। पाठक स्वभावत इस सामान्य के अभिधान से, प्रसंग की सहायता लेकर, विशेष अर्थ को भी समझ लेता है। अभिधेय अर्थ की प्रासंगिकता प्रतीयमान की गर्भित अभिव्यक्ति में है। यहा भी स्वसिद्धि के लिए परार्थ के प्रति अभिधेय का आत्मसमर्पण है।

समासोक्ति

रजनी के प्रारम्भ का वर्णन पाणिनि के शब्दो मे देखिए—'राग' भरे चन्द्र ने चपल 'तारक' वाली रजनी का मुख यो पकड़ा कि तिमिरवसन खिसक जाने पर भी 'राग' के कारण वह जान ही न पाई।[3] इस प्रकार के काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या भामहादि आचार्यों ने इसमे समासोक्ति अलकार मानकर की है। भामह ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

> यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणैः।
> सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥
>
> —भामहालंकार, २।७६।

आगे चल कर रुय्यक ने इसी का सूत्रण करते हुए लिखा है—

> विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

विशेषणसाम्य (इसमे कार्य तथा लिंग का साम्य भी सगृहीत है) से जहाँ अप्रस्तुत गम्य हो उसे समासोक्ति कहेगे। ऊपर के उदाहरण में राग भरे, चपल तारक वाली आदि ऐसे विशेषण है, तथा इस प्रकार के कार्य का वर्णन है जो पाठक को नायक-नायिक के व्यवहार (अप्रस्तुत वृत्तान्त) का अनुभव कराए

---

१ अ० स० पृ० १३२-३३।

२ अ० स० पृ० १३३।

३ उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥
—अ० स० पृ० १०६।

बिना विश्रान्त नही होता। यह अप्रस्तुत अर्थ गम्य है पर है वह उक्ति की विधा में ही।

आक्षेपादि अलंकार

आक्षेपालकार को लीजिए। विशेषाभिधान की दृष्टि से जहाँ कहना चाहते हुए भी बात का प्रतिषेध-सा (निषेधाभास) किया जाता है उसे आक्षेपालकार कहते हैं। यह निषेध कही आगे कही जाने वाली बात का होता है और कही पहले कही हुई बात (उक्त) का।[1]

रुय्यक के अनुसार आक्षेप के दो भेद है। एक में निषेधाभास विधि का और दूसरे में विध्याभास निषेध का आक्षेप कर लेता है। प्रकृतार्थ मे निषेध या विधि रूप अर्थ अनुपपन्न होता है अत· आक्षेपलभ्य द्वितीय अर्थ में प्रथमार्थ (अभिधेय) का आत्मसमर्पण मानना होगा। इस प्रकार अक्षेपालकार को 'परार्थे स्वसमर्पणम्' की भगी में रखना पडेगा। प्रवास के लिए उत्सुक पथिक से प्रणयिनी कहती है—

क्या कहू ? अच्छा कहती हू; अथवा कहने से क्या लाभ; तथापि कहना तो है ही; कह ही न दू, अथवा क्या तुम से कह नही दिया ?[2] यहाँ मालूम तो पड़ता है कि कथन का प्रतिषेध है पर यह प्रतिषेध अनुपपन्न है, स्वार्थ मे विश्रान्त नही है फलत. वाच्यार्थ 'मैं तुम्हारे विरह मे मर जाऊगी, अथवा मर रही हू, मर ही गई हू' इस प्रतीयमान अर्थ मे पर्यवसित होता है। प्रतिषेधाभास के भणितिसौन्दर्य में विधिसौन्दर्य भी समाहित है।

---

१. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषय. स आक्षेपो द्विधा मतः॥ —भामहालकार, २।६८।
भामह के लक्षण से वामन का आक्षेपलक्षण भिन्न है। अन्तिम के अनुसार उपमान का आक्षेप (उपमानस्याक्षेप:—का०अ० सू० ४-३-१७) आक्षेपालंकार है। रुय्यक ने भामह का अनुसरण किया है वामन का नहीं। वामन का आक्षेप वस्तुतः अर्वाचीन आलंकारिकों का प्रतीप अलंकार है।

२. किं भणिमो भण्णइ किन्ति अध किं वा इमेण भणिएण।
भण्णिहिसि तहवि अहवा भणामि किं वाम भणिओसि॥
—वि० पु० ४-५।

व्याजस्तुति में स्तुति या निन्दा के अभिधान से निन्दा तथा स्तुति की प्रतीति हो जाती है।

आज के प्रभु वस्तुतः प्रभु हैं, पुराने प्रभुओ की भी कोई प्रभुता थी ? ये ही प्रभु तो दोष को गुण और गुण को दोष बना पाते हैं पुरानो मे कहाँ इस प्रकार का सामर्थ्य था।[1]

यहाँ वैसे तो अर्वाचीन प्रभुओ की स्तुति है पर है वह अनुपपन्न अतः निन्दा में पर्यवसित है। इसीप्रकार पुराने प्रभुओं की निन्दा की अर्थ-विश्रान्ति स्तुति मे होती है। निन्दा या स्तुति की यह प्रतीयमानता प्राचीन आचार्यों के अनुसार वस्तुतः व्याजस्तुति (वाच्यअलंकार) की ही कुक्षि में अन्तर्निहित है।

इसी प्रकार जब कवि उपमेय को ही उपमान बना लेता हैं तब उपमेयान्तर के विरह की प्रतीति उपमेयोपमा[2] में होती है। जब उपमेय और उपमान एक ही होता है अर्थात् अनन्वय मे जब द्वितीय सदृश के व्यवच्छेद की प्रतीति होती है तो प्राचीन आचार्यों के अनुसार यह प्रतीति या गम्यार्थ अलकार की ही परिधि मे अग है इससे व्यतिरिक्त नही है। इस प्रकार प्राचीन आलकारिको के पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति आदि के लक्षण तथा उदाहरण के विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट है कि भामहादि प्रतीयमान अर्थ की अनुभूति करते थे और उन्होने उसे अलकार-परिभाषा मे समाविष्ट करने का प्रयास किया था।

रुद्रट ने जिस भावालकार का निरूपण किया है उसकी भी यही स्थिति है। रुद्रट के अनुसार वस्तु दो प्रकार की है—गुणीभूत तथा अगुणीभूत। दोनों प्रकार की वस्तु अलकाररूप है और इसप्रकार वाच्योपस्कारक होती है। गुणीभूत वस्तु 'स्वसिद्धये पराक्षेप' के द्वारा वाच्य की उत्कर्षक होती है और अगुणीभूत वस्तु परार्थ के प्रति स्वसमर्पण के द्वारा। इसी दृष्टिकोण को लेकर रुद्रट ने भावालकार को दो प्रकार का बनाया है। कुछ टीकाकारो ने भावालकार वाच्य तथा प्रतीयमान के रूप में दो प्रकार का होता है अर्थात् जहाँ निर्वेदादि भाव वाच्य होते हैं वहाँ तो भावालकार व्यग्य या प्रतीयमान होता है, यह व्याख्या की है। पर यह रुद्रट के मन्तव्य से भिन्न है—उनके ग्रथ के

---

१. इहिए पहुणो पहुणो पहुत्तणं किं चिरन्तनपहूण।
गुणदोसा दोसगुणा एहिं कआ णहु कआ तेहिं॥ —वि० पृ० ५।

२. देखिए अन्तिम अध्याय।

प्रतिपादन से असंगत है।[1] भाव का अर्थ है वह जिससे अभिप्राय का निश्चय हो।[2] प्रतीयमान वस्तु का प्राधान्य होने के नाते वह वाच्योपस्कारक नही हो सकती और रुद्रट अन्ततः भावालकार को वाच्योपस्कारक ही मानते हैं। गुणीभूत वस्तु या भावालकार के प्रथम भेद में कार्य द्वारा कारण का आक्षेप होता है और दूसरे में अभिधेयार्थ अर्थान्तर की प्रतीति करा देता है। प्रथम भावालकार का लक्षण है--

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥[3]

यदि किसी अनैकान्तिक कारण के द्वारा उत्पन्न कार्य अपने सम्बन्धी के अभिप्राय की प्रतीति कराता है, तथा अपने में और उस कारण में कार्यकारणभाव सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह भावालकार होता है। जैसे—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

—का० अ० पृ० ८३।

अशोक पुष्प की नवीन मञ्जरी को हाथ में लिए हुए ग्रामयुवक को देखकर तरुणकामिनी की मुखकान्ति अत्यन्त फीकी पड जाती है। यहा कार्य या विकार है मुखमालिन्य, उससे तरुणी का मनोभाव कि मैने अशोक के लता-भवन में भेट करने का इस ग्रामयुवक से सकेत किया था पर अनेक कार्यों में फस जाने से मैं वहा न जा सकी फलत. मुझे मिलनसुख से वंचित रहना पडा, व्यक्त हो जाता है। इसी मुखमालिन्य विकार (कार्य) से यह भी प्रतीत हो जाता है कि इस कार्य का हाथ मे ली हुई अशोक पुष्प की नवीन मजरी-रूप

---

१. यत्त्वन्यैर्भावैर्निर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमानत्वेन द्विविधो भावालकारो व्याख्यातस्तदुरसूत्रमेव। रुद्रटेन तथात्वेन तस्याप्रतिपादनाद्।

—वि० पृ० ६।

२. भवत्यस्मादभिप्रायनिश्चयः . . . ।   —नमिसाधु, पृ० ८३।

३. नमिसाधु की टीका यहां उल्लेख्य है—
यस्य विकारवतो येनाप्रतिबद्धेनानैकान्तिकेन हेतुना विकारः कार्यं प्रभवन्नुत्पद्यमानस्तस्यविकारवतः सम्बन्धिनमभिप्राय प्रतिपत्तुर्गमयति, तथा स एव विकारस्तयोर्विकारहेतुविकारयोः प्रतिबन्धं च कार्यकारणभावं गमयति, असावेवरूपो भावनामकालकारो भण्यते।

—नमिसाधु टीका, का० अ० पृ० ८२-८३।

कारण के साथ कार्यकारण सम्बन्ध है। पर यह कारण है अनैकान्तिक क्योंकि नवमञ्जरी को हाथ में देखकर सदा मुखमालिन्य नहीं होता। दूसरा भावालंकार वहाँ होता है जहाँ एक वाक्य वाच्यार्थ को कहने के साथ अपने से भिन्न अर्थान्तर की प्रतीति कराता है।[1] जैसे—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥—का० अ० ७।४१।

अयि मूढ पथिक। तुम यहाँ रहने के लिये भला जगह किससे माँग रहे हो। मैं तो अबला ठहरी—तरुणी और एकाकिनी। इस घर का स्वामी भी विदेश चला गया है। मेरी सास का तो हाल ही न पूछो वह अन्धी भी है और बहिरी भी।

यहा पर वाच्यार्थ वासनिषेधपरक है पर तरुणी प्रमदा का उपर्युक्त कथन रहने का आमन्त्रण-सा देता है। अस्तु, वाच्यनिषेध से भिन्न विधिरूप अर्थान्तर की प्रतीति होने के नाते, यहाँ भावालंकार है। पहले उदाहरण में मुखमालिन्य-रूप वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आश्रय लिया गया था, और इस उदाहरण मे विधिरूप अर्थान्तर के प्रति निषेधरूप अर्थ स्वार्थ का समर्पण कर देता है। इस प्रकार एक जगह तो 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' है और दूसरी जगह 'परार्थे स्वसमर्पणम्'।

आचार्य आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त अलकारों मे से कतिपय के अतिरिक्त विशेषोक्ति[2] और संकर का संग्रह भी किया है। पर्यायोक्तवर्ग के (पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय) अलकारों मे प्रतीयमान अर्थ वस्तुरूप होता है। विशेषोक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है। समग्र कारणो के रहते हुए कार्य का अनुत्पन्न रहना विशेषोक्ति है—

कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। —अ० स० पृ० १६०।

१. अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्य सोऽपरो भावः ॥ —वही, ७।४०।

२. ससुद्बन्ध भी रुय्यक के आदि पद से इसी का ग्रहण, ध्वनिकार के अनुसार, करते हैं।

समग्र कारण के रहते हुए कार्य या फल उत्पन्न नहीं होता यह उक्ति विशेषार्थ की अभिव्यक्ति या भामह के शब्दों मे विशेषप्रथन[1] के लिए होती है। इसके तीन भेद हैं उक्तनिमित्ता, अनुक्तचिन्त्यनिमित्ता तथा अनुक्ताचिन्त्य-निमित्ता। इनमें से प्रथम तथा अन्तिम भेदो मे व्यंग्य का सद्भाव ही नही होता। द्वितीयभेद अनुक्तचिन्त्यनिमित्ता में अवश्य व्यग्य की प्रतीति होती है। प्रियतमा से विदा लेकर प्रस्थान करने वाला पथिक मार्ग में रात आने पर सो जाता है। प्रभात हो चुका है। उस पथिक को उसके साथी पुकार लगाते हैं पर उसे देखिए—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥

गुहार लग चुकी है, पथिक हाँ भी कह चुका है, निद्रा भी नही है, आगे जाना भी चाहता है किन्तु शैथिल्य नही छोड पा रहा है। सब कारण उपस्थित है किन्तु सकोचशैथिल्य-रूपी कार्य उत्पन्न नही हुआ। पाठक प्रकरण की सहायता से प्रतीति कर लेता है कि पथिक का प्रियतमा से स्वप्नसमागम हुआ होगा। यह निमित्त (कारण) अनुक्त है पर अचिन्त्य नही है, क्योकि उसकी सहज ही प्रतीति हो जाती है। इन सभी अलकारो मे उनके उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इनमें व्यग्य की प्रतीति अवश्य होती है पर वह प्रधान नही होता, वाच्य के साथ अनुगत होता है, वाच्योपस्कारक होता है, स्वभावत. प्रधानतया प्रतीति वाच्यार्थ की होती है, व्यग्यविशेष का आक्षेप करने के बाद भी वाच्यार्थ ही चारु होता है। उत्कर्ष वाच्य की चारुता मे ही रहता है, व्यग्यार्थ की चारुता मे नही।

अभीतक हम प्रतीयमान वस्तु को गर्भित करने वाले अलकारों की चिरन्तन आचार्यों के अनुसार चर्चा कर रहे थे। प्रतीयमान अलकार भी इन

---

१. भामह का लक्षण—
एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता॥
मम्मट तथा विश्वनाथ ने 'कार्य' के स्थान पर 'फल' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु अर्थ में कोई अंतर नहीं आता। उनके लक्षण हैं—
विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। —का० प्र० १०।१०८।
सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः। —सा० द० १०।६७।

आचार्यों को वाच्यालंकार के रूप मे ही अभीष्ट था। सादृश्याश्रय सभी अलंकारों में उपमातत्त्व रहता है।[१] भामह 'अन्तर्गतोपमाधर्मा:' शब्दों से दीपक का निरूपण करते थे, अपह्नुति में वे अन्तर्गतोपमा[३] से परिचित थे; दण्डी ने रूपक को 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' कहा था, रुद्रट ने अलंकारों को औपम्य के अंतर्गत वर्गीकृत किया था।[४] इस प्रकार अलकारान्तर की प्रतीयमानता से परिचय इन सभी आलकारिको को था। आनन्दवर्धन ने भट्टोद्भट के मत का उल्लेख करते हुए इनके मत का यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

> अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽप्यन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथाच सन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितम् —ध्वन्या० पृ० १९१।

पर इन सभी अलकारो को वे वाच्योपस्कारक मानते थे।[५] स्वभावत प्रतीयमान अलकार का गर्भीकार भी वाच्यालकार की ही कोटि में होता था।[६]

वस्तुध्वनि तथा अलकारध्वनि को वाच्यालकार की सीमा में बाधना उतना आश्चर्यजनक नही लगता जितना कि रसध्वनि को जो सदा ध्वनि ही है। पर प्राचीन आलकारिक समग्र काव्यसौन्दर्य की व्याख्या अलकार द्वारा ही करना चाहते थे। अत रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास के निबन्धन मे उन्होने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलकारो का निरूपण किया है।[७]

---

१. देखिए अंतिम अध्याय।

२ भामहालकार, १।१४।

३. अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा। —वही, ३।२२।

४. काव्यालंकार—८। २-६।

५. रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। —अ० स० पृ० ६-७।

६. अलंकारस्यापि प्रतीयमानस्य वाच्योपस्कारकत्वं प्रतिपादयति। —वि० पृ० ७।

७. इनके लक्षण, उदाहरण और विश्लेषण के लिए देखिए— अ० स० पृ० २३२, २३८ तथा उनपर टीका, तथा वि० पृ० ८।

इस प्रकार पर्यायोक्त आदि में प्रतीयमान वस्तु, रूपकादि मे प्रतीयमान अलंकार तथा रसवदादि में रस का अन्तर्भाव[1] करने वाले प्राचीन आलकारिक अलकार को ही काव्य में प्रधान मानते थे—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।

—अ० स० पृ० ६ ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिविषयक विप्रतिपत्तियो को तीन कोटि में बाटा[2] है—अभाववाद, भाक्तवाद तथा अनिर्वर्णनीयतावाद । ध्वनिविरोधी इन तीन पक्षो में से प्रथम अभाववादी पक्ष के भी तीन विकल्प ध्वनिकार ने प्रस्तुत किए हैं । प्रथम विकल्प के अनुसार काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। शब्द-गत चारुता के हेतु अनुप्रासादि शब्दालकार है और अर्थगत के उपमादि अल-कार। वर्णसघटना की चारुता माधुर्य गुण आदि से व्याख्यात होती है। इस प्रकार गुण और अलकार से भिन्न शब्दार्थशरीर काव्य का दूसरा कोई चारुता-हेतु नही माना जा सकता । वैदर्भी आदि रीतिया तथा नागरिका आदि वृत्तिया गुण और अलकार के अतिरिक्त नही है । फिर इन सबसे परे ध्वनि के लिए क्या स्थान है ?[3] शब्दार्थौ काव्यम् के प्रसिद्ध मार्ग को छोड कर ध्वनि का आतान-वितान करना, उसे काव्य बताना, ग्राह्य नही हो सकता, यह दूसरा विकल्प है । तीसरे विकल्प के अनुसार यदि ध्वनि कोई शोभाकारी तत्त्व है तो उसका गुण, अलकार आदि में ही अन्तर्भाव करना होगा । यदि ध्वनि इन्ही में से किसी एक का नाम मान लिया जाता है तब तो नाम बदलने भर का पाण्डित्य है और यदि ध्वनि अप्रदर्शित कोई प्रकारविशेष हो तब भी ध्वनि का नाम

१. पर्यायोक्तादौ वस्तु, रूपकादावलंकारः रसवदादौ रसः ।
तदेवं चिरन्तनैः प्रतीयमानस्यालकारान्तर्भावा एव तावदुक्तः ।

—वि० पृ० ८

२. तस्याभावं जगदुरपरे, भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम् ॥ —ध्वन्या० १।१

३. तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् । तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशितास्ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।

—ध्वन्या १।१ पर वृत्ति

लेकर नर्तन करने लग जाना समीचीन नही है क्योकि वाग्विकल्प अनन्त हैं उनमें से किसी एक प्रकारविशेष का प्रकाशन कोई बड़ी बात नही हैं। भामह से लेकर सदा एक न एक नवीन अलकार का आविर्भाव होता ही चला आ रहा है। यह अभाववाद की विकल्पत्रयी है।[1] ये तीनो ही पक्ष काव्य की परिभाषा **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** मानकर चले है। अलकार और गुण इनके अनुसार काव्य के कामनीयक की व्याख्या करने मे समर्थ है अत. ध्वनि को चारुताहेतु मानने पर भी उसे गुणालकार से भिन्न नही माना जा सकता है और जैसा कि कुछ अलकारो के विश्लेषण से स्पष्ट है प्रतीयमानता का सौन्दर्य वाच्यालकार के सौन्दर्य मे समाहित है। एकावलीकार के शब्दो मे अलकारवादी का तर्क इस प्रकार है—

अथ लब्धसत्ताक एव ध्वनिस्तथापि यदि न करोति काव्यस्य कामनीयकम् तर्हि किमनेन अजागलस्तनायमानेन। उतस्वित् करोति, तर्हि गुणालकारान्तर्भूत एव। तथाविधस्य च नामान्तरकरणनैपुण्यं कियन्नाम। अत्रानुमानमपि। ध्वनिर्गुणालकारेभ्यो न व्यतिरिच्यते चारुताहेतुत्वात् यदेभ्यो व्यतिरिच्यते न तच्चारुताहेतु। अविमृष्टविधेयांशादिदोषवत्, चारुताहेतुश्च ध्वनिः। ततो न व्यतिरिच्यते तेभ्य इति। —एका० पृ० २७-२८।

---

१. अभिनवगुप्त के लोचन का प्रकृतांश यहाँ अविकल रूप से उद्धृत कर देना आवश्यक है—

तत्र अभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः (अ) शब्दार्थगुणालंकाराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वात् लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः। (ब) यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः। (स) अथ शोभाकारी भवति तर्हि अस्मदुक्त एव गुणेऽलंकारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्। अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलंकारेषु वा नान्तर्भाव तथापि किञ्चिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणम्, उपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसख्यत्वात्। तथापि गुणालकारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालंकारत्वेनेष्टे तत्प्रपंचदिक्प्रदर्शनं तु अन्यैरलंकारकारैः कृतम्। तद्यथा 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्षयन्ते। तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। —लोचन, पृ० १४-१५।

पर्यायोक्त आदि जिन अलकारों में गम्यार्थ निहित है उसका ग्रहण रुय्यक के अनुसार प्राचीन आचार्य 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' तथा 'परार्थं स्वसमर्पणम्' की द्विविध भगी से करते थे । ध्वन्यालोककार ने 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' द्वारा उनके इस मत को भक्तिवादी माना है।[1] भक्ति शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन ने लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों के लिए किया है । अभिनवगुप्त की व्याख्या (लोचन) के अनुसार भक्ति शब्द की त्रिविध व्युत्पत्ति[2] लक्षणा के तीन बीज मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध तथा प्रयोजन का ग्रहण करा सकती है । ध्वनिवादी का व्यजक शब्द अलकारवादी का लाक्षणिक शब्द है, व्यग्यार्थ लक्ष्यार्थ है तथा व्यजना व्यापार उनके लिए लक्षणा व्यापार है । भामहोद्भट के मत का यह विश्लेषण रुय्यक और आनन्दवर्धन के अनुसार प्रस्तुत किया गया है ।

ध्वनिकार से पूर्व के आचार्य भले ही ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य आदि शब्दों से ध्वनितत्त्व की चर्चा न करते हो पर विभिन्न अलकारो के निरूपण में ध्वन्यालोक द्वारा विवेचित गुणीभूतव्यग्य के अनेक भेदो का प्रकारान्तर से उन्होने निरूपण किया था, इतना तो निर्विवाद है । पर्यायोक्त आदि की कुक्षि मे वे व्यग्य वस्तु को डालना चाहते थे क्योंकि ध्वन्यर्थ की अनुभूति तो वास्तविक है, आदिकवि वाल्मीकि के काव्य से लेकर आजतक के काव्य में उसका साम्राज्य परिलक्षित होता चला आ रहा है । इस अनुभवसिद्ध अर्थ का अपलाप अलकारवादी साहित्यसमीक्षक भी न कर सकते थे । हाँ, यह अवश्य है कि न तो उन्होने ध्वनिशब्द[3] के द्वारा इस तत्त्व को हृदयंगम किया था और

---

१. आनन्दवर्धन का यह मत लोचन के अनुसार अन्य आलंकारिकों के निम्नलिखित विश्लेषण पर आश्रित है—
भामहेनोक्तम्— शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः (काव्यालंकार,१।९) इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्चेति। वामनोऽपि सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति।
—लोचन, पृ० ३२ ।

२. (अ) मुख्यस्य चार्थस्य भंगो भक्तिः।
(ब) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः ।
(स) भक्तिः प्रतिपाद्यते सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः ।

३. देखिए—रसग० (निर्णयसागर) पृ० ११४-१९ ।

न आत्मा के रूप में उसे पहिचान पाए थे। चार्वाक की भाँति वे इसे शब्दार्थ-शरीर से अपृथग्भूत ही मानते थे—

वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे— —लोचन पृ० ४५।

किन्तु काव्य का शरीर शब्दार्थ है, इसमें शरीर शब्द का उपादान ही इस ओर संकेत है कि इसकी अनुप्राणक आत्मा इनसे परे है, वह आत्मा ध्वनि है। शब्द, अर्थ अपने को गुणीभूत करके जहाँ प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वही काव्य ध्वनिकाव्य है। उपमा आदि अर्थालकार तथा अनुप्रासादि शब्दालकार केवल वाच्य और वाचक की चारुता के हेतु है। अलकार का अलकारत्व भी तभी सार्थक है जब वह वाच्यवाचक के उपस्करण द्वारा काव्यात्मा का उपस्करण करे। इस दृष्टि से लौकिकालकार और काव्यालकार मे भेद भी है। हारादि का अलकार्य के साथ केवल सयोग सम्बन्ध होता है, स्वभावत लौकिकालकार अलकार्यपरतन्त्र नही होते। उनका यथारुचि विन्यास और सन्यास सम्भव है। उससे शरीर या आत्मा को कोई क्षति नही पहुँचती। किन्तु काव्यालकार का शब्दार्थ से सयोग सम्बन्ध नही है, शब्दार्थ की भणितिभगी शब्दार्थ के साथ समवेत है, सयुक्त नहीं। अलकार इसप्रकार अयुतसिद्ध हैं।[२] रुय्यक का कहना है कि लौकिकालकार और काव्यालकार का वैधर्म्य अन्तिम का सनातन अलकार्य-पारतन्त्र्य[३] सूचित करता है। उद्भट के काव्यालकारसारसग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि अलकार का सम्यक् स्वरूप-निर्धारण अलकार्यपरतन्त्रता द्वारा ही किया जा सकता है। अलकार्यपारतन्त्र्य के विना स्वयं मे काव्यालकार अनलकार हैं—

---

१. शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यमिति यदुक्तम् तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना भाव्यमेव। —लोचन पृ० ४३।

२. वि० पृ० २०।

३. लौकिकालंकारवैधर्म्येण काव्यालंकाराणामलंकार्यपारतन्त्र्यध्वननार्थम्। —अ० स० पृ० २०।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की व्याख्या इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—
लौकिकालकारवन्न काव्यालंकाराणामलकार्यपृथग्भावेनाप्यवस्थानसम्भवः अपितु नियमेन काव्यपारतन्त्र्यमेव। —संजी० पृ० २८-२९।

अलंकारस्य खलु अलकार्यपरतन्त्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति स्वात्मनि अवस्थितस्य तस्यानलंकारत्वात्, समुद्गकस्थित-हारकेयूरपारिहार्यावलकारवत् । —लघुवृत्ति, पृ० २ ।

इस प्रकार अलकार (और गुण) सदा वाच्य और वाचक पर आश्रित है या यों कहिए कि अभिधा पर जब कि ध्वनि वाच्यवाचकभाव से व्यतिरिक्त व्यग्य-व्यजकभाव पर आश्रित है अत अन्तिम का प्रथम में अन्तर्भाव सभव नहीं है—

गुणालंकाराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात् अस्य च तदन्यव्यंग्यव्यंजक-भावसारत्वात् नास्य तेष्वन्तर्भावः । —लोचन[1], पृ० १०६ ।

ध्वनिवादी रुय्यक ने व्यंग्यार्थ को जीवित माना है जो कभी भी अलकार नहीं बन सकता। अलकार सदा उपस्कारक रहते हैं तथा रसादि प्रधान होने के नाते उपस्कार्य—

तस्माद् विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालंकार-कृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् ।[2]

—अ० स० पृ० १३-१४ ।

जयरथ का कथन है कि मुख्य वृत्ति से अलकार का व्यपदेश तभी कर सकते है जब वे रसादिरूप व्यग्य अर्थ का उपस्करण करें क्योकि वही अलकार्य रूप में प्रतिष्ठित है। जहा स्फुट व्यग्यार्थ न रहने के नाते अलकार केवल शब्दार्थ-मात्रनिबन्धन होते है वहा केवल उनका उक्तिवैचित्र्य के रूप में उपयोग है, क्योंकि जैसा कि लोचनकार का कहना है उपमा आदि भले ही वाच्यार्थ का उपस्करण करें किन्तु उनका अलकारत्व इसी बात में है कि वे वाच्यार्थ को अभिव्यक्ति का समर्थ माध्यम बना सकें। कटक, केयूर आदि लौकिकालकार का शरीर से सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वे अन्तत. उपस्करण आत्मा का ही करते हैं। अचेतन शव को कितना भी भूषण से लाद दें पर आत्मा के अभाव मे भूषण निर्भूषण ही हैं। 'मैं अलकृत हू' इस प्रकार के प्रयोग भी यही सूचित करते हैं कि अलकार्य परमार्थतः 'अहम्' या आत्मा है, शरीर नही। इसप्रकार अलकार वाच्यवाचक में चारुता का आधान अवश्य करते हैं पर उनका उद्देश्य तभी

---

१. .. **वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषयः ..** —ध्वन्या० १।१३ पर वृत्ति ।

२. देखिए—इस पर वि० पृ० १३-१४ ।

सफल है जब वे रसादि को अलंकृत करें।[1] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुतः ध्वनि का अन्तर्भाव किसी भी प्रकार वाच्यवाचक की विधा में सभव नहीं है। पर्यायोक्त आदि अलकारों मे जो वस्तु प्रतीत होती है या दीपक, अपह्नुति आदि में उपमा का जो गर्भीकार है केवल उसमे ध्वनि का प्रत्याख्यान सम्भव नही है। इन सब में प्रतीयमान की प्रतीति वाच्य के अनुगत रूप में होती है जबकि ध्वनि का वास्तविक स्वरूप है कि वह वाच्य से सदा अतिशायी होता है। वाच्यवाचक के सौन्दर्य का विनियोग ध्वनिसौन्दर्य में है। व्यग्यव्यजकभाव पर आश्रित ध्वनि को वाच्यवाचकभाव की सीमा में कैसे लाया जा सकता है ? पुनश्च ध्वनि महाविषय है, अगी है, अलकार तदपेक्षया अल्पविषय और अग हैं। जहा कही भी ध्वनि की प्राधान्येन प्रतीति होती है वहा प्रतीयमान वस्तु और प्रतीयमान अलकार ही मानना होगा ; उन्हे वाच्यालकार मे कदापि नही रखा जा सकता और जहातक रसादि का सम्बन्ध है उनका अलकारचारुत्व में परिग्रह सुतरा सदोष है[2]। प्रतीयमान को हम दो प्रकार का मान सकते हैं— लौकिक तथा काव्यव्यापारमात्रवेद्य। लौकिक प्रतीयमान जिसे वस्तु तथा अलकार का नाम दिया जाता है कदाचित् स्वशब्दवाच्य हो भी सकता है किन्तु रस को स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नही कहा जा सकता। वह लौकिक-व्यवहार से नही अपितु केवल काव्यव्यापार से सवेद्य है। अभिनव के इस सुन्दर विश्लेषण का (जिसका प्रतान परवर्ती अनेक आचार्यों ने किया है) अविकल उल्लेख करना समीचीन होगा—

तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते। स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधिः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत् इदानीं त्वनलंकाररूप एव, अन्यत्र गुणीभावाभावात् स पूर्वं प्रत्यभिज्ञानबलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयाऽऽत्मेति। —लोचन पृ० ५०-५२।

१. देखिए—लोचन पृ० १६७-६८।

२. अ० स० पृ० १४।

इसप्रकार स्पष्ट है कि ध्वनि ही काव्यात्मा है। यही सहृदयावर्जक सिद्धान्त है।

तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः। —अ० स० पृ० १३।

ध्वनिसिद्धान्त की इस स्थापना के अनन्तर हमारे सामने दो प्रश्न शेष हैं। क्या व्यंग्यार्थप्रतीति के लिए व्यंजना मानना आवश्यक है? और दूसरा प्रश्न है कि इस सिद्धान्त में अलंकार के लिए क्या स्थान है? जयरथ ने ध्वनि, प्रकरण के अनुसार व्यंजनाव्यापार, के विरुद्ध विप्रतिपत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्हें बारह प्रकार का बताया है—

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा
अर्थापत्तिः क्वचित् तन्त्रं समासोक्त्याद्यलङ्कृतिः।
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥[1]

— वि० पृ० ११।

इनका विश्लेषण इस प्रकार सम्भव है—

(१) तात्पर्य—मीमांसक। (२) अभिधा—प्राचीन-मीमांसक। (३-४) जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था लक्षणा। (५-६) द्विविध अनुमान[2]—लिंग को देखकर लिंगी तथा लिंगी को देखकर लिंग का। उदाहरणतः कोकिलस्वर को सुनकर कोकिल का अनुमान तथा कोकिल को देखकर उसके स्वर का। (७) अर्थापत्ति—अनुमानवाद का ही प्रकारान्तर जो सभवत उद्भट को अभीष्ट हो। (८) तन्त्र—वक्ता के इच्छानुकूल विभिन्न अर्थ। (९) समासोक्ति आदि—प्राचीन आलंकारिक। (१०) रसकार्यता—रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध मे उत्पत्तिवादी आचार्यों का मत जिसकी चर्चा अभिनवभारतीकार ने की है। (११) भोग—भट्टनायक का मत। (१२) व्यापारान्तरबाधनम्—वी० राघवन के अनुसार यह मत कुन्तक की वक्रोक्ति मे सम्बद्ध है। वक्रोक्ति अलंकारपक्ष में ही अन्तर्भूत है अतः कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इस मत को अनिर्वाच्यवाद माना है[3]। इनमे से अनेक मतों पर आनन्दवर्धन ने विचार किया है। इनके अतिरिक्त अखण्डतार्थतावादी

१. इस के लेखक का अभीतक पता नहीं चल सका है।

२. निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि द्विविध अनुमान से लेखक का क्या तात्पर्य था।

३. Bhoja's Sriṅgāraprakāśa, pp. 149-50.

वैयाकरणों आदि अनेक आचार्यों के मत का विश्लेषण काव्यप्रकाशकार ने पंचम उल्लास में किया है। इन सभी मतो की चर्चा केवल अनुवाद होगा अतः हम अत्यन्त संक्षेप मे केवल भट्टनायक, कुन्तक तथा महिम के मतो की (जिनके मत का उल्लेख तथा खण्डन रुय्यक ने किया है) चर्चा करेंगे क्योंकि ध्वनिस्थापना के बाद ध्वनिविरोधी आचार्यों मे ये ही तीन अग्रणी है।

साधारणीकरण और रसास्वाद के सम्बन्ध में भरतसूत्र के व्याख्याता भट्टनायक का मत एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिनिधि होने के नाते साहित्य-शास्त्र मे आदरणीय रहा है। भट्टनायक व्यापारप्राधान्यवादी है। इनके अनुसार काव्य का वेद और इतिहास से भेद व्यापार की प्रधानता से ही किया जा सकता है। वेदादि में जहा शब्द की प्रधानता होती है और इतिहास मे अर्थतत्त्व की, वहा काव्य में दोनो गौण होते है और रसचर्वणारूप भोग व्यापार प्रधान होता है।[1] वैसे काव्य मे तीन अश होते है अभिधा, भावना तथा भोग।[2] व्यजनाव्यापार को एक अतिरिक्त भेद प्रौढोक्ति से (क्योंकि वस्तुत. उसका लक्षण करना ही सभव नही है) मान भी ले तब भी उसे रसचर्वणारूप भोग व्यापार नही माना जा सकता है, जो काव्य में प्रधान होता है।

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यंजनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्यांशत्वं न रूपता॥

—वि० पृ० १०।

अभिधा से शब्दालकार तथा अर्थालकार का सौन्दर्यबोध होता है। भावना से शृगारादि रसो के अर्थ का भावन होता है।[3] भोग व्यापार इन दोनो से परे है, वह रसचर्वणारूप है, तथा सहृदय मे वासनारूप से रहता है। काव्यभोग से व्याप्त सिद्धिमान् सहृदय को परब्रह्म के आस्वाद के समान रसानुभूति होना

१. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत॥ —वि० पृ० १०।

२. 'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च' इति काव्य तावत् त्र्यंशं तेनोक्तम्। —वि० पृ० ११।

३. अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः।
भावानाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः॥

—वि० पृ० ११ पर उद्धृत।

इसी का स्वरूप है स्वभावतः वह प्रधानतया विश्रान्तिस्थान है[1]—

तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः इति तृतीयोंऽशः सहृदयगत-स्तदंशद्वयचर्वणात्मा 'दृश्यमानाथवा मोक्षे यात्वंगत्वमियं स्फुटम्' इत्युक्त्या परब्रह्मास्वादसविधवर्ती विश्रान्तिधामतयाभ्युपगतः। —वि० पृ० ११।

यह है भट्टनायक का मत। वस्तुत. यह अपने मत को अधिक वैज्ञानिक रूप न दे पाए थे। अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोग नामक व्यापार का कोई शास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक आधार नही है। भावनाव्यापार का कार्य साधारणी-करण या भावना है किन्तु इतने के लिए अतिरिक्त व्यापार मानने की आवश्यकता नही है। वस्तुत· सहृदय की कल्पना-क्रिया द्वारा, उसकी अनन्त वासनाओ के प्रबोध द्वारा ही भावन की व्याख्या संभव है। भोग रसानुभूति की व्याख्या के लिए प्रकल्पित है किन्तु हम ये दोनो कार्य व्यजना से ले सकते है। व्यजना आज की शब्दावली में बौद्धिक (भावना) तथा वासनामय आनन्द (रसानुभूति) दोनों का आस्वाद कराती है। इस प्रकार व्यंजना को मान लेने पर भावना और भोग दो गौरवग्रस्त व्यापार मानने की आवश्यकता नही है।

कुन्तक का वक्रोक्तिसम्प्रदाय अलंकारसम्प्रदाय का रूपान्तर तथा उसके पुनरुत्थान का प्रयास है। हा यह अवश्य है कि प्राचीन आलकारिकों की भाति वक्रोक्तिजीविकार अलकार को ही सब कुछ मान कर नही चले हैं। अलकार का अतिचार वे अनुचित मानते हैं।[2] वक्रोक्तिसम्प्रदाय का जन्म आलंकारिक सम्प्रदाय की ओर से ध्वनिसिद्धान्त को प्रत्युत्तर देने के लिए भी हुआ जान पडता है। इसका ही फल है कि ध्वनिसम्प्रदाय द्वारा जिस आत्मपरक काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या हो चुकी थी उसकी पुन· वस्तुपरक व्याख्या करनी पडी। काव्यात्मवादियों के विरुद्ध देहात्मवादी का यह विफल विद्रोह था। कुन्तक ने ध्वनि के समस्त भेदों का समावेश वक्रोक्तिभेदो में किया है। रुय्यक ने इस ओर सकेत करते हुए लिखा है—

उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृतः।

—अ० स० पृ० १०।

---

१. तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतया स्वीकृतः। —अ० स० पृ० ११।

२. इस सम्बन्ध में व० जी० ३।१, ३,४० कारिकाओं पर वृत्ति द्रष्टव्य है।

उदाहरण के लिए कुन्तक की वर्णविन्यासवक्रता ध्वनिवादी की वर्णध्वनि है। पदपूर्वार्धवक्रता के आठ भेद ध्वनिभेदो के ही रूपान्तर हैं। इसके अनेक उदाहरण वे ही हैं जो ध्वनिकार ने दिए थे। रूढिवैचित्र्यवक्रता के कुन्तक के उदाहरण वे ही हैं जो आनन्दवर्धन के अर्थान्तरसक्रमितवाच्य के हैं। इसीप्रकार पदपरार्धवक्रता के आठ भेदो, प्रत्यय, काल, कारक, वचन आदि में ध्वनि के भेदों का ही समावेश है। वस्तुवक्रता में वस्तुध्वनि का, वाक्यवक्रता में अलंकारध्वनि का, प्रबन्धवक्रता में प्रबन्धध्वनि का कुन्तक ने समावेश किया है। इस प्रकार ध्वनिभेदो का पूर्णत समाहार करने पर भी कुन्तक व्यजना व्यापार नहीं मानते। उनकी वक्रोक्ति में 'उक्ति' शब्द ही इस बात का सकेत है कि किस प्रकार वे व्यग्य को भणिति या अभिधान का रूप देना चाहते है, यही कारण है कि वे व्यग्यार्थ को काव्यजीवित न मान कर उक्तिवैचित्र्य को काव्य का जीवातु मानते हैं—

उक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्। —अ० स० पृ० १०।

उनके जितने वक्रोक्तिभेद ध्वनिरूप है उनके लिए व्यजना न मानना ही इस दर्शन की सबसे बडी भूल है। लक्षणा के द्वारा उनकी व्याख्या संभव नही है, यह ध्वनिवादी बहुत सुस्थिर रूप में सिद्ध कर चुके है, किन्तु वक्रोक्तिजीवितकार ध्वनिरूप वक्रोक्तिप्रकारो की व्याख्या लक्षणा के द्वारा ही करना चाहते है। साहित्यशास्त्र की प्रगति के प्रतिमुख प्रत्यावर्तन का यह सिद्धान्त स्वभावत परवर्ती साहित्यसमीक्षको को ग्राह्य नही हो पाया।

ध्वनिप्रस्थान का सबसे कट्टर विरोधी महिमभट्ट है। उन्होंने काव्य के सौन्दर्यबोध की व्याख्या अनुमितिवाद के आधार पर की है। जो कुछ व्यंग्य है वह अनुमेयमात्र है, अनुमान द्वारा उसकी प्रतिपत्ति सभव है[1] उसके लिए व्यजना को अतिरिक्त व्यापार मानने की आवश्यकता नही है। शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा है अत शब्द का स्वार्थ के अभिधान के अतिरिक्त दूसरा

---

१. वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥
एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य।
यदुक्तं त्रिरूपाल्लिंगात् परार्थानुमानम् इति केवलं संज्ञाभेदः।
—व्य० वि० पृ० १०५।

व्यापार नही माना जा सकता ।[1] व्यग्यार्थप्रतीति की व्याख्या अनुमान द्वारा करनी चाहिए क्योकि वाच्यार्थ में सर्वत्र लिगलिगिभाव सम्बन्ध है । वाच्यार्थ लिंग है और व्यग्यार्थ लिंगी । पहला गमक है और दूसरा गम्य ।

इस मत का रुय्यक ने बडी युक्ति के साथ खण्डन किया है ।[2] लिंग और लिंगी में दो प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है—तादात्म्य और तदुत्पत्ति । इन सम्बन्धो के निश्चय पर ही साध्य की सिद्धि अवलम्बित है, नहीं तो व्यभिचार होने के नाते साध्य की सिद्धि हो ही नही सकती है । तादात्म्य सम्बन्ध का उदाहरण कृतकत्व और अनित्यत्व है जो कृतक—उत्पन्न—है वह अनित्य है । तदुत्पत्ति का उदाहरण धूम और बह्नि हैं । बह्नि से ही धूम उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नही । वाच्यार्थ और प्रतीयमान न तो तदात्मा हैं और न इनमें उत्पादक और उत्पाद्य का ही सम्बन्ध है । उदाहरण लीजिए—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतट निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेय तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

यहाँ वाच्यार्थ है कि तुम्हारे शरीर की स्थिति से स्पष्ट है कि तुम बावली नहाने गई थी उस अधम के पास नही । किंतु व्यग्यार्थ है कि तुम अवश्य उसके पास रमण-हेतु गई थी । यहाँ वाच्यार्थ विधिरूप (बाउली नहाने गई थी) से निषेधात्मक व्यग्यार्थ (बाउली नहाने नही गई थी) की प्रतीति होती है, तथा निषेधात्मक वाच्यार्थ (उसके पास नही गई थी) से विधिरूप व्यग्यार्थ (अवश्य गई थी) प्रतीत होता है । इनमे तादात्म्य सम्बन्ध नही हैं । दोनो ही अर्थ परस्पर भिन्न हैं—विरोधी है, अभावरूप अर्थ भावात्मक नही हो सकता है और न भावात्मक अभावात्मक हो सकता है । 'निःशेषच्युतचन्दन' आदि पदों से (ध्वन्यर्थ का) अनुमान भी नही हो सकता है क्योंकि ये समग्र विशेषण व्यभिचरित हैं । स्नान करने से भी चन्दनच्यवन आदि सुतरा सम्भव है, वह अनुमान के लिए निश्चयात्मक नही होता वस्तुत वह प्राय. अनैकान्तिक होता है । इसप्रकार के हेतु से साध्य की सिद्धि मानना महामति महिम से ही सम्भव है ।

१. शब्दः पुनरनुपादेय एव । तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् —वहीं पृ० १३-१४ ।

२. देखिए—अ० स० पृ० १५-१६, तथा वि० पृ० १५-१६ ।

ध्वनि को अनुमेय मानना सौन्दर्यानुभूति की कोरी तार्किक व्याख्या है। व्यंग्यार्थ-प्रतीति, विशेषतः रसानुभूति का सम्बन्ध सहृदय की सहृदयता से है, उसके दिमाग से नही। रसध्वनि के उपासक आनन्दवर्धन ने अलकारनिबन्धन को काव्य की अन्तिम कोटि में रखा है। उनका अलकार पर विचार प्रधानतया रस के साथ उसके सम्बन्ध-निर्धारण पर आश्रित है; रस अंगी है और अलकार उसके अग हैं।[1] उन्हें रसाक्षिप्त, अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य तथा सुश्लिष्ट होना आवश्यक है।[2] यमक जैसे शब्दालकारो के विधान में चूकि प्रतिभाशील कवि को भी यत्न करना पडता है अतः इन्हे रस का अग मानना आनन्द को अभिमन नही है। उन्होने वैसे तो अलकारो की उपमा कटक आदि से दी है पर रसाभिव्यक्ति के लिए वे उन्हे बहिरग न मानकर अन्तरग मानते हैं—

तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ —ध्वन्या०।

इस प्रकार वाच्यालकार, आनन्द के अनुसार, अगी रस के चारुता हेतु हैं।[3] ये चारुता-हेतु नियत नही अपितु अनन्त है अस्तु अलकार को भी नियत कर सकना सभव नही है—

अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः।

—ध्वन्या० ३।३७ पर वृत्ति।

ध्वन्यालोककार तथा लोचनकार ने रस के साथ सम्बन्धनिर्धारण करने के साथ यह बात स्पष्ट कर दी थी कि अलकारो का अनावश्यक, अनवसर, अविवेकपूर्ण तथा अनुचित उपयोग अलकारत्व के लिए घातक है। अलकारो का विवेकपूर्ण निवेश ही उन्हे सार्थक बना सकता है[4]। शृगाररस के प्रकरण मे इस समीक्षापूर्वक विनिवेश की उन्होने विस्तृत चर्चा की है।[5] उनके इसी मत को सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय क्षेमेन्द्र को प्राप्त है। इन्होने

---

१. अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्। —ध्वन्या० २।६।

२. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ —ध्वन्या० २।१६।

३. अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्यादंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते।
—ध्वन्या० २।१७।

४. ध्वन्यात्मभूते शृगारे समीक्ष्य विनिवेशतः।
रूपकादिरलकारवर्ग एति यथार्थताम्॥ —ध्वन्या० २। ७।

५. वहीं, २।१८-१९।

अलंकार का अलंकारत्व तभी माना है जबकि उनका उचित स्थान पर विन्यास हो—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः —औ० वि० च० ६ ।

इस प्रकार, रसप्रकरण में आनन्द के समीक्षापूर्वक विनिवेश की व्यापक व्याख्या क्षेमेन्द्र ने की है ।

अलकारसम्बन्धी ध्वनिसिद्धान्त की इस मान्यता का पूर्णतः प्रतिषेध कोई भी परवर्ती आचार्य न कर सका । हा यह अवश्य है कि अलकार की स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना अवश्य की गई । रस का अग बनकर ही सर्वत्र अलकार का विधान हो यह आवश्यक नही है । अनेकधा कवि की दृष्टि का केन्द्रबिन्दु अलकारनिष्पादन भी हो सकता है । अस्तु, अलकारत्व को सदा रसाक्षेपितया बताना उसकी स्वतन्त्र सत्ता का हनन होगा । कुन्तक का स्थान इस विचार के उन्नयन और अलकार की परिभाषा का मार्गनिर्देश करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । कुन्तक काव्य का स्वरूप ही सालकार शब्दार्थ मानते है ।[1] उनकी काव्य की द्वितीय तथा तृतीय परिभाषाओं को यदि एक साथ पढे तो उनकी काव्यपरिभाषा होगी—सालकारौ शब्दार्थौ काव्यम् । वक्रोक्ति उनके अनुसार अलकार है और अलकार्य है शब्दार्थ । इसी वक्रोक्ति या 'वैदग्ध्यभगीभणिति' के विचित्र मार्ग में समग्र अलकारो का समावेश है । रस आदि की प्रधानता यदि सुकुमार मार्ग मे है तो अलकार की विचित्रमार्ग में । वस्तुतः अलकार का भ्राजिष्णु सौन्दर्य शब्दार्थ (अलकार्य) को भी अपनी शोभा मे लीन कर लेता है—

स्वशोभातिशयान्तःस्थम् —व० जी० ।

अलकारविधान का उद्देश्य भी अलौकिक अत चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि है । अलकार और अलकार्य का भेद भी कुन्तक केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही उत्पन्न मानते है । अलकार वस्तुतः शब्दार्थ से व्यतिरिक्त नही माने जा सकते । वे नान्तरीयक हैं, तदात्मा हैं । स्पष्ट है कि कुन्तक के मत से हम कटक, केयूर के समान अलकार को बाह्य नही मान सकते । सभी अलकारो को बाह्य न मान लिया जाए इस दृष्टि से भोजराज ने भी अलकार को त्रिविध कोटि में बाटा था बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर । बाह्य हैं वस्त्रमाल्य आदि,

१. सालंकारस्य काव्यत्वमिति स्थितिः । —व० जी० ।

२. शृंगारप्रकाश ।

आभ्यन्तर हैं दन्तपरिकर्म, नखच्छेद तथा अलककल्पना आदि और बाह्याभ्यान्तर हैं स्नानधूपादि। उनकी दृष्टि से शब्दालकार बाह्य, अर्थालकार आन्तर तथा उभयालकार बाह्याभ्यन्तर हैं।

कुन्तक ने अलकारो को अभिधान का प्रकारविशेष या भणितिभगी का भेद माना है। उनके मत में इतिवृत्त या वस्तु के वर्णन मे काव्य का अधिवास नही रहता। अभिधानप्रकार में वैचित्र्य होना आवश्यक है, यह वैचित्र्य भी कविप्रतिभा के उल्लास या उल्लेख का फल होना चाहिए। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार अलकार बनने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—कविप्रतिभा का व्यापार तथा तज्जन्य विच्छित्ति। कविप्रतिभा का उल्लास निरवधि है तो स्वभावत. अलकार भी नि सीम है। महिमभट्ट का अलकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण वक्रोक्तिजीवितकार तथा ध्वनिवादी के मत से मिलता-जुलता है। अलकार को वे वाच्यरूप, अभिधेय या कुन्तक के शब्दो में अभिधानप्रकारविशेष मानते हैं, अलकार इस प्रकार महिम की दृष्टि से विचित्रभगीभणिति हैं—

अलंकाराणां चाभिधेयात्मत्वमुपगत तेषां भगीभणितिरूपत्वात्।

—व्य० वि०।

महाकवीनां या विचित्रा भगीभणितयोऽलकारसज्ञाः ..

—व्य० वि० (काशी), पृ० २७३।

तथा भंगीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात्। —वही, पृ० ८७।

इसप्रकार अलकार कुन्तक और महिम की शब्दावली में विच्छित्ति और वैचित्र्य का वाचक बन जाता है। कुन्तक तो केवल अलंकारनिबन्धन का अतिचार ही अनभीप्ट समझते है पर महिम का कहना है कि काव्यक्रिया का प्रयोजन अर्थ में अतिशय सौन्दर्य की साधना है। उसके लिए अलकारनिष्पादन साध्य नही अपितु साधनमात्र है अत कवि को रसाभिनिवेशी होना चाहिए अलकार तो नान्तरीयकतया उसमे आ ही जाएगे—

किंच सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेर्नतु अलकारनिष्पत्तये, तेषां नान्तरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः भंगीभणितिभेदानामेवालकारत्वोपगमात्।

न चालंकारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धय ॥

महिम का यह मत रसध्वनिवादी तथा कुन्तक की मान्यता का समर्थन तथा समन्वय है। काव्य में भाव के अतिरिक्त शैली का महत्त्व है। काव्य न तो इतिवृत्त है और न वेद या पुराण। स्वभावत अर्थ मे उत्कर्षापकर्ष के द्वारा

आस्वाद का अनुभव कराने के लिए अलंकार की साधना और उपासना आवश्यक है—

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥

—व्य० वि० २।१४ ।

आनन्द, कुन्तक तथा महिम के अलकार सम्बन्धी मतो की ही पुनरुक्ति परवर्ती आलकारिको ने की है । रुय्यक ने सर्वस्व मे अलकार की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नही दी है पर व्यक्तिविवेक के व्याख्यान मे तथा विभिन्न अलकारो के निरूपण से यह स्पष्ट है कि ध्वनिवादी मान्यताओ के निर्वाह के साथ अलकारत्व की दृष्टि से वे महिम तथा कुन्तक के अनुयायी है । ध्वनिवाद की मान्यता के अनुसार अलकारनिबन्धन को वे भिन्न काव्य मानते है । ध्वनिवादी ने चित्रकाव्य की काव्यता वस्तुत उपचार से ही मानी थी, उसका निरूपण भी विशद रूप मे किसी आचार्य ने नही किया था । रुय्यक ने इसी चित्रकाव्य का निरूपण अपने सर्वस्व का प्रतिपाद्य बनाया है । अलकार उनकी दृष्टि से शब्द और अर्थ पर आश्रित है, उसी शब्दार्थ की विच्छित्ति, जिसे जयरथ के शब्दो मे वाच्यवाचकरामणीयक कह सकते हैं, अलकार है । यह विच्छित्ति कविप्रतिभा के उल्लास से सम्पन्न होती है—

तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलकारः। विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात् कविप्रतिभोल्लासस्य चानन्त्यादनन्तत्व भजमाना न परिच्छेत्तुं शक्यते ।

—व्य० वि० व्या० (काशी) पृ० ३०३ ।

कविप्रतिभा का जिसे कविकौशल, कविव्यापार चाहे जो भी कहें, पारस स्पर्श पाकर शब्दार्थ में सौन्दर्य की अनुभूति होती है । कविप्रतिभाकृत वैचित्र्य, विच्छित्ति, चित्रता, चारुता या सहृदयहृदयहारिता का जहा अभाव होता है, वहाँ अलकार या उसके भेद को नही माना जा सकता । सन्देह और भ्रान्ति का वस्तुगत सौन्दर्य अलकार नही है अपितु उसे कविप्रतिभा से उत्थापित होना चाहिए ।[1] रुय्यक ने अलकार का यही रूप अपनाकर कविप्रतिभोत्थापित

---

१. सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत् । एवं स्थाणुर्वा स्यात् पुरुषो वा स्यादिति संशयेऽपि बोद्धव्यम् । —अ० स० पृ० ५८ ।

विच्छित्ति के विश्लेषण के आधार पर अलंकार, उनके भेद तथा उनके वर्गीकरण का वैज्ञानिक और गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। रुय्यक के टीकाकारों मे समुद्रबन्ध अलकार-लक्षणो का उल्लेख दण्डिसम्मत करते हैं।[1] किन्तु चक्रवर्ती अनेकधा घोषित करते हैं—

अलंकारो हि विच्छित्ति —संजी० पृ० ३०।

यतो वैचित्र्यमलकारः अतो वैचित्र्यवदेव कवेः सरम्भगोचर।

—सं० प्र० (भाग २), पृ० २३८।

अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, अनुमान तथा भाविकालकार पर रुय्यक ने कविप्रतिभानिर्वर्तिता की जो टिप्पणी दी है उसका विशद निरूपण चक्रवर्ती ने अपने व्याख्यान मे किया है। रुय्यक का मत है कि वस्तुसन्निवेशी धर्मों के उपनिबन्धन में अलकारत्व का अधिवास रहता है न कि तार्किक प्रक्रिया या शुष्क कार्यकारण-भाव के उपनिबन्ध में। स्वभावोक्ति के सम्बन्ध मे ग्रन्थकार का कथन है कि सूक्ष्म धर्मों का वर्णन ही स्वभावोक्ति मानी जा सकती है। सूक्ष्म की व्याख्या उन्होंने 'कवित्वमात्रस्य गम्यः' की है। इस प्रकार रुय्यक कवित्वमात्रगम्य वस्तु तथा चित्तवृत्ति अथवा भाव के वर्णन मे अलकारत्व का प्रतिष्ठान मानते है। भाविकालकार के प्रसग मे इन्ही मन्तव्यो के आधार पर श्रीविद्याचक्रवर्ती का कहना है—

ये हि कविना प्रतिभया समर्प्यन्ते मुखादौ चन्द्रत्वकमलत्वादयो धर्मास्तेषामेवालंकारत्व न तु परमार्थतः सन्निविष्टानां हिमांशुलावण्यादीनाम्।

—सजी० पृ० २०२।

आचार्य जयरथ ने रुय्यक की कविप्रतिभानिर्वर्तित विच्छित्ति या अलकारत्व की परिभाषा स्वीकार कर, ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए प्राय प्रत्येक अलकार पर इस दृष्टि से अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके विभिन्न विचारो का स्पष्टीकरण चतुर्थ अध्याय मे अलकारनिरूपण के समय यथास्थान किया गया है। यहाँ हम केवल उनका सूत्रात्मक आकलन कर सकते हैं जो प्रायः उन्ही के शब्दों मे होगा। यह आकलन अलंकारत्व, अलकार के प्रभेद आदि के निर्णायक विभिन्न मानदण्ड सूचित करता है।

---

१. (क) अलकारशब्दस्य काव्यगतशोभातिशयहेतुभूतधर्मवाचकतया।

—समुद्र पृ० ३।

(ख) काव्यशोभाकरत्वेनालंकारत्वसम्भवात्। —वहीं, पृ० १६३।

वाच्यालकार वाच्यार्थ का उपस्करण करते हैं, यही उपस्करण उनका स्वरूप है, यह स्वसवेदन-सिद्ध प्रतीयमान से व्यतिरिक्त है —

प्रतीयमानमिति। वाच्यव्यतिरिक्तत्वेन स्वसंवेदनसिद्धम्। × × वाच्योपस्कारकत्वं अलंकाराणामात्मभूतम्। —वि० पृ० ३।

वाच्यार्थ का तात्पर्य पदार्थ से नही अपितु वाक्यार्थ से है, स्वभावतः अलंकार-प्रतीति आमुख मे नही अपितु पर्यवसान में होने वाली प्रतीति पर अवलम्बित है। **यस्माद् वाक्यार्थ एव प्ररूढोऽलंकाराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम्। वाक्यार्थस्य च पदार्थान्वयवेलातोऽन्यैव प्रतिपत्तिः**—यदि इस सिद्धान्त को न माना जाए तो व्याजस्तुति के पर्यवसान मे होनेवाली स्तुति को अलकारपर्यवसायी न माना जा सकेगा। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि वाच्यवाचक-विशेष के सद्भाव या असद्भाव को लेकर अलकार-विशेष का भाव या अभाव नही माना जा सकता है। जहाँ तक इसके ध्वनि से भेद का प्रश्न है यह कहना पर्याप्त होगा कि ध्वनि का अवगम वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद वक्ता तथा वाच्य की पर्यालोचना से होता है जब कि वाच्यालकारप्रतीति अनुपपन्न वाक्यार्थ की उपपत्ति के साथ हो जाती है।[२] प्रकृतार्थ का उपरजन ही अलकारविधायक कवि का उद्देश्य होता है, यदि इस उपरजन के लिए प्रकृतार्थ का वाक्यार्थ सदिग्ध है तो अलकार हो ही नही सकता। इस प्रकार अस्फुटालकार मानना (जैसा कि मम्मट का प्रतिपादन है) असगत है क्योकि अलकारता पर्यवसित वाक्यार्थ में होती है सदिग्ध में नही। इस आधार पर पुनरुक्तवदाभास को अर्थालकार ही माना जा सकता है, शब्दालकार नही, क्योकि भले ही प्रारभ मे शब्दपौनरुक्त्य प्रतीत होता है पर उसकी पर्यवसान मे प्रतीति न होने से वह अर्थालकार है। विरोधाभास मे इसी प्रकार भले ही पदार्थान्वयवेला में विरोध हो पर विश्रान्ति उसकी समाधान में होती है अत वह विरोध नही अपितु विरोधाभास है। इस प्रकार अलकारता का सौन्दर्य पर्यवसित वाक्यार्थ की विच्छित्ति मे है, हाँ यह अवश्य है कि उसमें आमुख का सौन्दर्य भी गर्भित रहता है इसीलिए अलकार अलौकिक चारुता है। इस अलौकिकता की सिद्धि का हेतु है कविप्रतिभा। अलकारत्व की प्रतिष्ठा के लिए वाच्य कविप्रतिभानिर्वर्तित होना आवश्यक है। इस सिद्धान्त की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती

१. वि० पृ० ७०।

२. वि० पृ० २६।

है अभावात्मक तत्त्व के निर्देश द्वारा और भावात्मक विधा से। आरोप, भ्रान्ति सन्देह, अनेकधा उल्लेख, उत्प्रेक्षण, विरूपत्व तथा स्वभाववर्णन आदि यदि वास्तविक हैं तो उन्हे अलकार नही माना जा सकता है क्योंकि यह निर्विवाद है कि अलकार वस्तुमात्र नही है—

वस्तु च नालकार इत्यविवादः[१] । —वि० पृ० २०८ ।

शुक्तिका पर रजत का आरोप, स्थाणु को देखकर पुरुष की भ्रान्ति तथा इन दोनों का सन्देह, किसी व्यक्तिविशेष का अनेक रूपो मे वस्तुसत् उल्लेख, 'गोमयाद् वृश्चिको जात' का विरूपत्व या 'गतोऽस्तमर्के भातीन्दु.' का वास्तव वर्णन अलकार नही है।[२] इसी आधार पर जयरथ ने रुय्यक के विनोक्ति (विनयेन विना, पृ० १०६), विषम (अरण्यानी क्वेयम्, पृ० १६५), अधिक (दोर्दण्डाञ्चित, पृ० १७०) तथा विशेष (प्रासादे सा, पृ० १७२) के उदाहरणो की आलोचना की है।[३] अत. स्वारसिक धर्म या वस्तु के वर्णन में अलकार नही माना जा सकता; यह कविप्रतिभानिर्वर्तितत्व की अभावात्मक व्याख्या है। अलकारसौन्दर्य स्वारसिक न होकर कविप्रतिभानिर्वर्तित या उत्पादित होता है क्योंकि कवि जानबूझकर भ्रम, सन्देह, अनेकधा उल्लेख, सभावना तथा विरोध की सृष्टि करता है। कोई भी लौकिक पुरुष जानबूझकर शुक्तिका में रजत का आरोप नहीं करता, रज्जु को सर्प समझ कर डरने नही लग जाता और न पुरुष को स्थाणु समझकर भ्रान्ति मे पडता है पर कवि जानबूझकर मुख में चन्द्र का आरोप, सन्देह या उत्प्रेक्षण करता है। यही स्वारसिक प्रतीति और उत्पादित

---

१. इस सिद्धान्त का उल्लेख जयरथ ने विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा किया है जैसे कि —

(अ) न च यथासम्भवविनोपनिबन्धमात्रेणालंकारत्वं वक्तुं युक्तम्।
—वि० पृ० १८।

(ब) नहि वस्तुमात्रवर्णने कविकौशलं किञ्चित्। —वि० पृ० २२९।

(स) 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इति नीत्या वस्त्वतिशयदायिनां धर्माणामलंकारत्वात् कथं वस्तुमात्रस्यैवालकारत्वं स्यात्।
—वि० पृ० २२३।

२. देखिए वि० पृ० ४४, ५८।

३. देखिए—प्रथमाध्याय में विमर्शिनी—एक आलोचनात्मक व्याख्या।

प्रतीति का अन्तर है । भ्रान्ति के सम्बन्ध में जयरथ का कथन देखिए—

स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्रान्त्या अतएव शुक्तिकायामिव रजतारोपो न मुखे चन्द्रारोप तस्य स्वरसतः एवोत्थानेन भ्रमरूपत्वात् अतएव तत्रारोपविषयस्यारोप्यमाणेनाच्छादितत्वेन प्रतीतिः । इह पुनर्जानान एव कश्चित् चन्द्रविविक्तं मुखं तत्र प्रयोजनपरतया चन्द्रार्थमारोपयति ।[1] —वि० पृ० ४४ ।

इसप्रकार कविप्रतिभा द्वारा सृष्ट विच्छित्ति स्वारसिक, वास्तव या वस्तुसंभविनी न होकर आहार्य या उत्पादित होती है इसीलिए जयरथ ने उसकी अलौकिक, प्रौढोक्तिनिर्मित तथा असम्भवनीय[2] के रूप में व्याख्या भी, रुय्यक के अनुसार, की है । इस प्रकार अलकारप्रतीति आहार्य है, लोकोत्तर है अतः सुन्दर है । यह प्रतीति कथमपि भ्रान्त, सन्दिग्ध या विरोधभरी नही हो सकती, भले ही प्रतिपादन या शैली मे कितना भी भ्रम हो । जयरथ के शब्दो मे—

नेयं भ्रान्ता प्रतिपत्तिः प्रतिपादनभ्रमोऽयम् ।

इस आहार्य-प्रतीति के सौन्दर्य या विच्छित्ति-विशेष के विभिन्न प्रकार अलकार है । इन्हे न तो रसचर्वणा का प्रत्यूहकारी होना चाहिए और न केवल दोषाभाव रूप[3] क्योंकि ये सभी सौन्दर्य की अनुभूति के माध्यम है, जो भावात्मक है अभावात्मक नही । प्रतीतिभेद या फलभेद अलकारभेद का नियामक है[4] तथा कवि की विवक्षा उसके शाब्दत्व तथा आर्थत्व का । एक प्रकार की प्रतीति रहने पर उसके विभिन्न विच्छित्तिविशेष एक ही अलकार के भेद होगे इसी आधार पर जयरथ समुच्चितोपमा आदि को उपमा का, शोभाकर के विशेष तथा अभेद अलकारो को तथा वामन की विशेषोक्ति को रूपक का ही प्रभेद मानते हैं । इसी सिद्धान्त के अनुसार वे तुल्ययोगिता तथा दीपक को पृथग् अलकार मानने को प्रस्तुत नही हैं और न प्रतिभा तथा अनुषग अलकार को निदर्शनादि से भिन्न मानने का समर्थन कर सकते हैं ।

कविप्रतिभा द्वारा निर्वर्तित इसी लोकोत्तर शब्दार्थसौन्दर्य मे रहने वाली ध्वनि काव्यात्मा है । आत्मा व्यापक है, विभु है, वह मानव के शरीर में भी

---

१. कविप्रतिभानिर्वर्तिता की आवश्यकता के लिए देखिए—
वि० पृ० ४८,७१-१६५ ।

२. वि० पृ० १६३, १६४, तथा २१६ ।

३. देखिए—वि० पृ० १८७-१८८ ।

४. फलभेदश्चालंकारभेदनिमित्तमित्यविवादः ।

रहती है और घट-पट में भी। चेतन पुरुष के शरीर में रहने वाली आत्मा को ही हम जीव कहते हैं, देह और शरीर के ही सम्बन्ध से उसका देही तथा शरीरी कहकर परिचय देते हैं। घटपटादि में व्याप्त आत्मत्व को देही और शरीरी नही कहते। इसीप्रकार रमणीय वाच्यवाचक मे व्याप्त ध्वनि ही काव्यात्मा है। अस्तु, न केवल अलकार को सप्राणता के लिए रसध्वनि की अपेक्षा है अपितु रसध्वनि को भी वाच्यवाचकरामणीयकरूपी शरीर को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना अपेक्षित है। अलंकृत अथवा चारु शब्दार्थ ही वस्तुत: काव्यात्मा का अवच्छेदक हो सकता है। अलकार और अलकार्य का यही सम्बन्ध है।

तृतीय अध्याय

अलंकारों का विकास तथा श्रेणीविभाग

विकास

अलंकार के स्वतन्त्र चिन्तन तथा विकास की दृष्टि से रुय्यक (बारहवीं शती) तक का समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद यो तो अलकारों की सख्या (१६वीं शती तक के प्रारम्भ तक) १६१ तक पहुच गई किन्तु सभी समीक्षक इस बात पर एक मत है कि इन नवीन अलकारो का आविर्भाव केवल अपनी-अपनी अलंकार-प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए अधिक हुआ था, इन नवीन आविष्कारों में चमत्कार अधिक नही था। वस्तुत: रुय्यक के तुरन्त बाद से अलकारो की सख्या बढाने की होड-सी लग गई थी। ध्वनि के अनन्त भेदोपभेद की होड मे सभवत अलकारवादी भी अपना भण्डार बढाते चले जा रहे थे। यही कारण है कि रुय्यक के बाद शोभाकर ने ही लगभग ३६ अलकार और बढा दिए थे जिनमें से प्राय: सभी का उल्लेख जयरथ ने अलकारोदाहरण मे किया है। जयदेव ने चन्द्रालोक में १०४ अलंकारों का निरूपण किया था। बाद में अप्पय्यदीक्षित ने इन्ही के साथ कुछ और अलकार बढ़ा दिए थे।[1] इस बाढ को रोकने में पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर तथा चित्रमीमासा-खण्डन मे एव विश्वेश्वर ने अलकारकौस्तुभ में स्तुत्य प्रयत्न किया है। जिस प्रकार रुय्यक से चिढनेवाले शोभाकर ने अलकारो को बढ़ाने की प्रवृत्ति पैदा कर दी थी उसी प्रकार दीक्षित से चिढनेवाले पण्डितराज ने अलकारो की बाढ़ को रोकना प्रारम्भ कर दिया था। अलकारशास्त्र के इतिहास की यह बड़ी आकर्षक कहानी है। इतिहास के एक मोड़ पर (जिसका समय १२वी

---

१. दीक्षित के नये अलंकार हैं—प्रस्तुतांकुर, अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रतिषेध और विधि। इनमें से अनेक अलकार ऐसे भी हैं जिनका भोज, शोभाकर आदि निरूपण कर चुके थे पर जिन्हें कालक्रम में छोड़ दिया गया था। अप्पय्यदीक्षित के अलंकारों में १० प्रमाणालंकार तथा ७ रसवदादि अलंकार भी नवीन रूप में थे।

शती है) दो अलंकारशास्त्रियों के परस्पर विरोध ने अलकारो में बाढ़ पैदा की थी तो दूसरे मोड़ पर (जिसका समय १८वी शती है) उसने बाढ को रोकने का कार्य किया है। परस्पर विरोध की इतिहास में इस पुनरावृत्ति ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही कार्य किए। इस प्रकरण में हमारा उद्देश्य केवल रुय्यक तक अलंकारो के विकास के इस क्रम को सक्षेप मे प्रस्तुत करना है ताकि रुय्यक के योगदान के साथ अलकारो के वर्गीकरण की पृष्ठभूमि भी दी जा सके।

भरत ने रूपको की भाषा पर प्रकाश डालते हुए चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक। इन चारो में केवल एक यमक शब्दालकार है शेष तीन अर्थालकार है। इन अलकारो के अतिरिक्त भरत ने काव्यबन्ध में ३६ लक्षणो के (जिन्हे वे १७वें अध्याय के अंत में काव्य का विभूषण [काव्यविभूषण] तथा भूषणसमित कहते हैं) उपयोग की भी बात कही है।[1] लक्षण का पर्याय विभूषण है किन्तु वह अलंकारशास्त्र के अलकार का पर्याय नही है वह अलकार का भी अलकार्य है, वह काव्य-वपु है, वह अलकार की अपेक्षा अधिक व्यापक है, वह स्वत काव्य का विभूषण है जबकि अलकार काव्य में शोभातिशय के लिए प्रयुक्त होता है। तथापि इन लक्षणों में से अनेक अलंकार के रूप में निरूपित होने लगे थे। भरत के तीन लक्षण हेतु, लेश तथा आशीः भामह के समय तक अलकार-प्रक्रिया में परिग्रहीत होने लगे थे। स्वय भामह ने इनमें से प्रथम दो को अलकार मानने का स्पष्ट खण्डन किया है किन्तु अन्तिम के सम्बन्ध में केवल इतना भर कहा है कि कुछ लोग आशी. को भी अलकार मानते है, इसका उदाहरण भी दिया है अत. सभव है कि भामह को भी यह अलकार अभीष्ट रहा हो। दण्डी ने हेतु तथा लेश (सूक्ष्म नामक एक तीसरा अलकार भी इसमे सम्मिलित है) अलकारो को त्याज्य न मानकर वाणी का उत्तम भूषण बताया है।[4] इस प्रकार भरत के जिन लक्षणों को अलकार मानने में भामह हिचकते थे उन्ही की दण्डी के समय तक अलकार के रूप में सम्मानपूर्वक स्वीकृति हो गई थी। दण्डी

---

१. काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।—२६।१६६।

२. भामहालकार, २।८६।

३. वहीं, ३।५५-५६।

४. काव्यादर्श, २।२३५।

ने तो स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा भी की थी कि दूसरे शास्त्र (आगम) में जिन्हें सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग तथा लक्षण आदि के रूप में बताया गया है वे उन्हे अलकार के रूप में सर्वथा अभीष्ट है—

> यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
> व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥ —काव्यादर्श, २,३६६ ।

अस्तु, भरत ने न केवल चार अलकारो का निरुपण किया था (जिनमे से एक शब्दालकार तथा तीन अर्थालकार है) अपितु लक्षण के माध्यम से अनेक नवीन अलकारो के लिए मार्ग भी प्रशस्त कर दिया था। उपर्युक्त हेतु आदि तीन अलकारो के अतिरिक्त भरत के सशय, दृष्टान्त, निदर्शन, निरुक्त और अर्थापत्ति इन पाँच लक्षणो के स्वरूप मे ही भविष्य के पाच काव्यालकार (जिनके लगभग ये ही नाम है) अन्तर्निहित हैं। विभिन्न अलकारो के अतिरिक्त अलकार के भेदो का भी मूलारम्भ नाट्यशास्त्र से ही हो जाता है। भरत द्वारा उपमा के पाच भेदो प्रशसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा, किंचित् सदृशी उपमा[1] का तथा यमकालकार के दस भेदो का निरूपण, निश्चित ही, परवर्ती भेदोपभेद का या किसी भेद को स्वतन्त्र अलकार माने जाने का आधार बना था।

भरत के बाद भामह ने यमक (जिसके पाच भेद—आदियमक, मध्यान्तयमक, पादाभ्यास, आवली और समस्तपादयमक— उन्होने बताए हैं) के अतिरिक्त अनुप्रास नामक[2] एक शब्दालकार और बढाया। इसके दो भेद भी उन्होने दिए हैं। उन्होने स्वय इस बात का उल्लेख किया है कि ग्राम्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास दूसरे आचार्य मानते है।[3] इससे स्पष्ट है कि भरत के बाद और भामह से पूर्व इन दो अनुप्रासों का विकास हो चुका था, भामह ने कदाचित् उन्हें एक सामान्य वर्ग अनुप्रास के अतर्गत रखकर इन दोनो को उसी का भेद बताने का कार्य किया है। अस्तु, भामह के अनुसार शब्दालकार दो हैं अनुप्रास तथा यमक।

भामह के अर्थालंकारों की सख्या ३६ है। भट्टि ने भी लगभग इतने

---

१. ना० शा० १७।४० ।

२. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते । —भामहालंकार, २-५ ।

३. वहीं, ६-८ ।

ही अलकारों का स्पष्ट निर्देश किया है। भामह के ३६ अर्थालंकार निम्न-लिखित हैं—

रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, ससृष्टि, भाविकत्व, तथा आशी।

इन ३६ अलकारो के अतिरिक्त भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश की भी निषेधार्थ सूचना दी है। श्लिष्ट अलकार का प्रतिपादन करते हुए उन्होने श्लेष से इसका भेद बताकर श्लेषालकार का भी (श्लिष्ट अलकार से भिन्न रूप मे) समासत. उल्लेख किया है। उपर्युक्त ३६ अलकारो की सूची में यथा-सख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, भाविकत्व तथा आशी अलकार भी सम्मिलित हैं जिनके सम्बन्ध मे भामह ने यह साक्षात् सूचना दी है कि वे अलकार के रूप मे दूसरे आचार्यों को अभीष्ट रहे है। इन अलकारो का उद्भावक कोई दूसरा आचार्य था इसका सकेत तो हमें भामह से ही प्राप्त हो जाता है और इस आधार पर यह अनुमान भी स्वभावत· किया जा सकता है कि इन ५-६ अल-कारो तथा भरत द्वारा निर्दिष्ट अलकारो के अतिरिक्त और भी अनेक अलकार भामह से पूववर्ती आचार्यों द्वारा उद्भावित रहे होगे।

रूपक के दो भेद समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति; दीपक के तीन भेद आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक; उपमा के श्रौती, आर्थी (परोक्षत)[1] तथा प्रतिवस्तूपमा (जिसे परवर्ती अलकार मानते है) आदि भेद[2], आक्षेप के वक्ष्यमाणविषयक तथा उक्तविषक दो भेद, उदात्त के दो भेद (प्रथम भेद, जो दण्डी के अनुसार सशयमहत्त्व का होगा, भामह को सम्मत है। दूसरा नागरत्नादियुक्त भेद, जिसे दण्डी के शब्दो मे विभूतिमहत्त्व का कहा जा सकता है, दूसरे आचार्यों को सम्मत है); श्लिष्ट के तीन भेद (गुण-श्लिष्ट, क्रिया-

---

१. विना यथेवशब्दाभ्यां समासाभिहिता परा। वहीं, ३२, से भामह ने उपमा के श्रौती, आर्थी इन दो भेदों का ही परोक्षतः उल्लेख किया है।

२. भामह ने पूर्वाचार्यों द्वारा निश्चित उपमा के निन्दा, प्रशंसा आचिख्यासा तथा मालोपमा आदि का उल्लेखमात्र किया है। देखिए—वहीं, २।३७-३८।

श्लिष्ट तथा नामश्लिष्ट भी भेद के रूप में लिखे जा सकते हैं) सहोक्तिश्लिष्ट, उपमाश्लिष्ट तथा हेतु-श्लिष्ट का प्रतिपादन भामह ने किया है। इन भेदो का ग्रंथकार ने स्वयं उल्लेख किया है और उदाहरण दिए हैं। कुछेक अलंकारों के पूर्व-सम्मत भेदो का उन्होंने प्रत्याख्यान भी किया है जैसेकि उपमा के निन्दा, प्रशंसा तथा आचिख्यासा और मालोपमा आदि भेद। कतिपय अलकार ऐसे हैं जिनके एकाधिक उदाहरण दिए है अथवा अलकारलक्षण में आदि पद का सन्निवेश कर तदनुसार भेदो के अभीष्ट होने की सूचना दी है। जैसेकि अर्थान्तरन्यास में हि शब्द के प्रयोग (अथवा अप्रयोग) से भेद सम्भव हैं; रसवत् अलकार के लक्षण में शृगारादि पद के आदि शब्द से स्पष्टत· सकेतित है कि विभिन्न रसों के भेद भी भामह को अभीष्ट हैं; ससृष्टि अलकार विभिन्न अलकारो के सम्मिश्रण से हो सकता है इसकी सूचना भी भामह ने दो उदाहरण देकर दी है। वस्तुत. अलंकारो की तथा उनके भेदों की सख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति भामह की नही है। मुझे तो सन्देह होता है कि भामह ने अपने समय मे प्रचलित अनेक अलकारो को जो अधिक महत्त्व के नही थे, अनावश्यक समझकर छोड दिया होगा। वे स्वय स्वभावोक्ति अलकार का निरूपण करने के बाद द्वितीय अध्याय के अन्त मे कहते है कि अलकारों का निरूपण सक्षेप मे ही किया गया है क्योंकि विस्तार दिमागी थकावट ही पैदा करेगा। जिन अलकारो का सग्रह नही हुआ है उनकी भी तर्कना (पाठक को स्वयं) उनके द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से कर लेनी चाहिए—

समासेनोदितमिदं धीरवेदायैव विस्तर·।
असग्रहीतमप्यन्यदभ्यूह्यमनया दिशा॥
—भामहालकार, २।९५।

यही बात अलकारो के भेदोपभेद के सम्बन्ध मे भी चरितार्थ है। तभी तो ससृष्टि अलकार में विभिन्न अलकारो के समिश्र से होने वाले भेदो के प्रसग मे वे मानो थक कर कहते हैं कि मैं विज्ञो को कहातक अलकार (अथवा उनके भेद) बताऊँ?

अन्येषामपि कर्तव्या ससृष्टिरनया दिशा।
कियदुद्घट्टितज्ञेभ्यः शक्य कथयितु मया॥ —वही, ३।५२।

भामह के अलंकार-विवेचन मे वर्गीकरण का कोई प्रयास परिलक्षित नही होता है। दो शब्दालंकार तथा छत्तीस अर्थालंकार की जो सूची हमने ऊपर दी है उसी क्रम में भामह ने अलंकारों का निरूपण किया है। इस सूची पर आपाततः दृष्टिपात से यह स्पष्ट है कि उन्होने कोई भी विभाजन नही माना था।

उन्होने द्वितीय परिच्छेद के चतुर्थ श्लोक से अलंकारविवेचन प्रारम्भ किया है। दो शब्दालकार तथा रूपक से लेकर स्वभावोक्ति तक १२ अलकारों का विवेचन द्वितीय परिच्छेद में है।[1] तृतीय परिच्छेद के प्रारम्भ मे प्रेयः से लेकर भाविकत्व तक के २३ अलकारो का पहिले परिसख्यान किया गया है बाद में प्रत्येक के क्रमेण लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इसी परिच्छेद के अन्त में आशी का प्रतिपादन है किन्तु उल्लेखनीय यह है कि परिच्छेद के प्रारम्भ में अलकारो का नामोल्लेख करते समय भामह ने इसको सम्मिलित नही किया था। आशी अलकार को वे एकदम अलग रखते है। इसका कारण यह हो सकता है कि आशी को उन्होने आधे मन से अलकार माना है, हाँ दूसरे आचार्य अवश्य उसे अलकार के रूप में मानते थे।[2] अस्तु, भरत से लेकर भामह के समय तक विकसित तथा कतिपय स्वय उद्भावित अलकारो का भामह ने अपने काव्यालकार में सग्रह किया है। इन अलकारो के अतिरिक्त भी भामह के समय कुछ दूसरे अलंकार और उनके भेद प्रचलित थे जिनमें से अनेक भामह को मान्य नही थे, इनमे से कतिपय का उन्होने प्रत्याख्यान-पूर्वक उल्लेख किया है और कदाचित् कतिपय अलकार उन्होने छोड भी दिए है, क्योकि अलकार का अनावश्यक विस्तार उन्हे अभीष्ट नही था। अलकार के वर्गीकरण के लिए उन्होने कोई प्रयत्न नही किया है, हाँ, शब्दालकार का पहिले और अर्थालकार का बाद में निरूपण है, दो परिच्छेदो में समग्र अलकारचक्र को बाटने (रूपक से स्वभावोक्ति तक द्वितीय परिच्छेद मे तथा प्रेय से लेकर भाविकत्व तक तथा आशी. का तृतीय परिच्छेद मे निरूपण करने से) उनका क्या उद्देश्य था यह भले ही स्पष्ट न हो सके पर इससे अलकारो के वर्गीकरण मे कोई सहायता नही मिलती है, यह नितान्त निश्चित है। भामह द्वारा द्वितीय परिच्छेद में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा का इस रूप में उल्लेख कि ये पाँच अलकार ही दूसरे आचार्यों द्वारा

---

१. आक्षेप से लेकर अतिशयोक्ति तक ६ अलकारों का पहले सख्यान हुआ है बाद में निरूपण (२-८७)। यथासंख्य और उत्प्रेक्षा (जिसे मेधावी नामक आचार्य 'संख्यान' कहते हैं) का एक साथ निर्देश है बाद में प्रत्येक का निरूपण और अन्त में स्वभावोक्ति है। कुछ आधुनिक लेखक इस प्रकार नामोल्लेख को वर्गों में विभाजन मानते हैं किन्तु मुझे यह अशुद्ध प्रतीत होता है।

२. आशीरपि च केषांचिदलकारतया मता।

—वहीं, ३।३।५५।

उदाहृत हैं,[1] तथा आक्षेप से लेकर अतिशयोक्ति तक ६ अलंकारों का पहिले नामतः उल्लेख, इसीप्रकार यथासंख्य और उत्प्रेक्षा इन दो अलंकारों का उल्लेख तथा तृतीय परिच्छेद में प्रेय से लेकर भाविकत्व तक तेईस अलकारो का पहिले उल्लेख (परिगणन) और बाद में निरूपण, अलकारो को वर्गों में विभाजित करने के लिए किया गया है अत भामह के अनुसार चार वर्ग है, यह विवेचन मुझे मान्य नही है क्योंकि तथाकथित प्रथम वर्ग (अनुप्रास से उपमा तक) शब्दालकार तथा अर्थालकारो को एक साथ मिला देने से नितान्त सदोष हो जाएगा। पुनश्च भामह स्वय कहते है कि ये पाँच अलकार दूसरे आचार्यों ने 'उदाहृत' किए है। स्पष्ट है कि वे उन्हें एक वर्ग में नही रखना चाहते है। आक्षेप से लेकर अतिशयोक्ति तक के अलकार भी वर्ग में अवस्थित नही है, उन्हे यथासख्य तथा उत्प्रेक्षा के सम्बन्ध में दूसरे आचार्यों की मान्यता के उल्लेख से पृथक् करने के लिए ही एक साथ कर दिया गया है। यथासख्य और उत्प्रेक्षा का एक साथ उल्लेख है पर अतिशयोक्ति को एकदम अलग रखा गया है स्वभावत इन तीनो अलकारो को मिला कर एक वर्ग की कल्पना करना व्यर्थ होगा। प्रेय से लेकर आशी: तक का जो लोग चतुर्थ वर्ग बनाना चाहेगे उनसे यह पूछा जा सकता है कि भामह ने स्वय आशी को २३ अलकारो की गणना से पृथक् रखा है फिर उसे इनके साथ रखने की स्वयम्भू कल्पना क्यो कर रहे है ? वस्तुत भामह ने अपनी सुविधा के अनुसार अलकारो का पहले परिगणन कर दिया है, उस परिगणना मे वर्गीकरण की उद्भावना अनुचित होगी।

दण्डी ने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में अलकार का लक्षण प्रस्तुत करने तथा पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदर्शित अलकार-विकल्पो के बीज का प्रतिसस्कार उनके ग्रथ का उद्देश्य है यह स्पष्ट करने के बाद ३५ अर्थालकारो का परिगणन किया है। उनकी सूची क्रमानुसार निम्नलिखित है—

स्वभावोक्ति (स्वभावाख्यान), उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (लव), क्रम, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष विशेषोक्ति (विशेष), तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशसा (अप्रस्तुतस्तोत्र), व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, ससृष्टि तथा भाविक।

दण्डी के इन अलकारो मे भामह के यथासख्य, उपमारूपक, उपमेयोपमा,

---

१. वहीं, २।४।

ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव ये ६ अलंकार नही है। भामह द्वारा प्रत्याख्यात हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के संग्रह के अतिरिक्त काव्यादर्श में आवृत्ति तथा क्रम के नाम से दो नवीन अलकारो की उद्भावना भी है। दण्डी की एक उल्लेखनीय विशेषता अनेक अलकारो के भेद का प्रस्ताव है। भामह अलकार और उनके भेद बढ़ाने से दूर रहना चाहते थे पर दण्डी ने अलंकार की संख्या को न सही उनके भेदो की सख्या को बहुत अधिक बढाया है। उनके द्वारा प्रवर्तित अनेक अलकार-भेद कालान्तर मे या तो स्वतंत्र अलकार बन गए अथवा परवर्ती आचार्यों के भेदो में अन्तर्भूत हो गए हैं। अनेक भेद ऐसे भी हैं जिनका बाद में समादर नही हुआ है। दण्डी द्वारा वर्णित अलकार-भेदों (जिनकी संख्या प्रत्येक अलकार के सामने दी गई है) की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

स्वभावोक्ति ४—जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य का स्वभावाख्यान।

उपमा ३३—धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असंभावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, (दो प्रकार की) वाक्यार्थोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा तथा हेतूपमा।

रूपक १९—असमस्त०, समस्त०, समस्तव्यस्त०, अवयव०, अवयवि०, एकाग०, युक्त०, अयुक्त०, विषम०, सविशेषण०, विरुद्ध०, हेतु०, श्लिष्ट०, उपमा०, व्यतिरेक०, आक्षेप०, समाधान०, रूपक०, तत्त्वापह्नव०।

दीपक ११—जाति०, क्रिया०, गुण०, द्रव्य०, आदि०, मध्य०, अन्त०, माला०, विरुद्धार्थ०, एकार्थ०, श्लिष्टार्थ०।

आवृत्ति ३—अर्थावृत्ति, पदावृत्ति, उभयावृत्ति।

आक्षेप २४—वृत्त०, वर्तमान०, भविष्यद्० धर्म०, धर्मि०, कारण, कार्य०, अनुज्ञा०, प्रभुत्व०, अनादर०, आशीर्वचन० परुष०, साचिव्य०, यत्न०, परवश०, उपाय०, रोष०, मूर्च्छा०, अनुक्रोश०, श्लिष्ट०, अनुशय०, संशय०, अर्थान्तर०, हेतु०।

अर्थान्तरन्यास ८—विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त, विपर्यय।

व्यतिरेक ६—एक०, उभय०, सश्लेष०, साक्षेप०, सहेतु०, सादृश्य०, प्रतीयमानसादृश्य०, सदृश०, सजाति०।

समासोक्ति ३—तुल्याकार-विशेषणा, भिन्नाभिन्न-विशेषणा, अपूर्व।

अतिशयोक्ति २—सशय०, निर्णय०, (आश्रयाधिक्य० टीका के अनुसार अतिशयोक्ति का एक और भेद है)।

उत्प्रेक्षा २—चेतनगत०, अचेतनगत०।

हेतु०—कारक० (भावसाधक तथा अभावसाधक), विकार्य०, प्राप्य०, ज्ञापक०, अभाव०, (प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव के रूप मे ४ प्रकार के अभावहेतु के उदाहरण दण्डी ने दिए है), अभावाभाव०, चित्र० (इसके दूरकार्य, तत्सहज, कार्यानन्तरज, अयुक्तकार्य, युक्तकार्य आदि भेद है)।

सूक्ष्म २—इङ्गितलक्ष्य, आकारलक्ष्य।

लेश ४—अनिष्टसभावनारूप, लज्जारूप, स्तुतिरूप, निन्दारूप (व्याज-स्तुति, व्याजनिन्दा)।

प्रेयः २—वक्तृवोद्धव्य-प्रीति, वक्तृप्रीति।

रसवत् ८—शृङ्गार, रौद्र, वीर, करुण, वीभत्स, हास्य, अद्भुत, भयानक इन आठ रसो के उदाहरण।

उदात्त २—आशयमहत्त्व, विभूति-महत्त्व।

अपह्नुति ३—विषय०, स्वरूप०, उपमा०।

श्लिष्ट ९—अभिन्नपद, भिन्नपद, अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय, विरुद्धक्रिय, अनियमवान्, नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी, विरोधी।

विशेषोक्ति ५—गुण, जाति, क्रिया तथा द्रव्य के वैकल्य में चार प्रकार की विशेषोक्ति तथा हेतुविशेषोक्ति।

तुल्ययोगिता २—स्तुतिरूप, निन्दारूप।

विरोध—६ प्रकार के उदाहरण। भेदो का नाम नही दिया गया है।

व्याजस्तुति ३—शुद्ध, अर्थश्लेषमूल, शब्दश्लेषमूल।

निदर्शन २—सत्फल०, असत्फल०।

सहोक्ति २—गुण०, क्रिया०।

संकीर्ण या संसृष्टि २—अङ्गाङ्गिभाव से,समकक्षता से।

दण्डी ने अनन्वय और सन्देह का उपमा के भेदो में, उपमारूपक का रूपक के भेदो में, उत्प्रेक्षावयव का उत्प्रेक्षा के भेद मे, अन्तर्भाव माना है। भामह की प्रवृत्ति अलंकार और उनके भेद यथासंभव घटाने की है किन्तु दण्डी

ने भेदों को यथासंभव बढाया है; वे अलंकारों के अनन्त विस्तार का अपने ग्रंथ में समाहार करना चाहते थे ।[1] अर्थालंकारों का निरूपण करने के बाद दण्डी ने तृतीय परिच्छेद मे यमक के अनेक भेद[2] बताए हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र तथा प्रहेलिका को भी शब्दालंकारों में सम्मिलित किया है । भामह की भाँति दण्डी ने भी अलकारो को वर्गीकृत करने का प्रयास नही किया है यहाँ तक कि उन्होने शब्दालकार का निरूपण भी अर्थालकार के अनन्तर किया है जबकि शब्द की प्रतीति पूर्वभाविनी होती है अत शब्दालकार का विवेचन पहिले करना चाहिए था । तथापि एक बात अवश्य है कि दण्डी ने अलकारो का क्रम दो-तीन स्थानो पर अधिक युक्तिसगत रखा है । उदाहरण के लिए रूपक के पहिले उपमा को रखना निश्चित ही अधिक युक्तियुक्त क्रम है । दण्डी ने यह समझा भी था कि रूपक अन्ततः उपमा का ही विकास है[3] अत. उपमा को पहिले रखना ही उचित है ।

दण्डी के बाद उद्भट ने अलकारो की सख्या ४१ व्यवस्थित की है । उन्होने कतिपय अलकारो को लेकर उनका परिगणन (जिसे सस्कृत में उद्देश—नामत सकीर्तन—कहते हैं) ६ बार किया है । इन परिगणनो के आधार पर कुछ लोग इन्हे वर्ग मे विभाजन मानते हैं । प्रत्येक परिगणन के अन्त में उद्भट ने नियमत. यह कुछ अवश्य लिखा है कि दूसरे इन अलकारों को मानते हैं ।[4] अलकारो का नामसकीर्तन करने के बाद हर बार 'दूसरे (आचार्य) इन अलकारो को बताते हैं' इस तकियाकलाम का क्या मतलब है ? जो भी हो पर निश्चित ही अलकारो का इससे वर्गीकरण नही हुआ है, यह आपको नीचे की

---

१. पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या ।
सहत्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम् ॥ —काव्यादर्श, २।३६८ ।

२. देखिए—वहीं ३।१-७६ ।

३. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते । —वही, २।६६ ।

४ इनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है—

(क) इत्येत एवालङ्कारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः ।

(ख) अलंकारान् परे विदुः ।

(ग) अपरे त्रीनलङ्कारान् गिरामाहुरलङ्कृतौ ।

(घ) ...अलंकारान् परे विदुः ।

(ङ) .. जगदुरलङ्कारान् परे गिराम् ।

(च) ... अलङ्कारान्परे विदुः ।

क्रमानुसारी (६ वार परिगणन को वर्ग न रहकर उद्देश कहना हमें अभीष्ट है) तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

प्रथम उद्देश—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास), लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय उद्देश—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

तृतीय उद्देश—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

चतुर्थ उद्देश—प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

पचम उद्देश—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशसा, व्याजस्तुति, विदर्शना (निदर्शना के लिए), संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।

षष्ठ उद्देश—ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यहेतु (काव्य-लिंग), (काव्य-) दृष्टान्त।

उद्भट ने न केवल भामह-दण्डी के अनेक अलकारो को और उनके भेदो को व्यवस्थित रूप प्रदान किया अपितु पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास (वृत्त्यनुप्रास भी उद्भट द्वारा ही प्रतिपादित है पर उन्होने कदाचित् इसे स्वतन्त्र अलकार नही माना था), काव्यलिंग, दृष्टान्त, तथा संकर[1] इन अलकारों की उद्भावना भी की है। अनेक अलकारो के भेदो का परिष्कार कर उन्हे केवल व्यवस्थित रूप ही उद्भट ने नही दिया है अपितु उनके अपर भेदो की उद्भावना भी की है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय अलकार (अकारादिक क्रम से) अतिशयोक्ति, अनुप्रास, अप्रस्तुतप्रशसा, उपमा, विदर्शना, लाटानुप्रास, विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक है। वस्तुत अलकारविकास की दृष्टि से उद्भट की सबसे बडी विशेषता अलकार और उनके भेद को परिष्कृत रूप में परिभाषित करना है। उन्होंने भामह का प्रायेण अनुसरण किया है पर इनके यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव को तथा दण्डी के आवृत्ति, लेश तथा सूक्ष्म अलकारो को स्वीकार नही किया है।

वामन ने कुल ३१ अलकार माने है जिनकी निरूपण-क्रम के अनुसार

---

१. संकर का अन्तर्भाव दण्डी ने संसृष्टि के अन्तर्गत किया था।

सूची निम्नलिखित है—

शब्दालंकार—यमक, अनुप्रास ।

अर्थालंकार—उपमा[1], प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, समृष्टि (वामन के अनुसार उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव स्वतन्त्र अलकार न होकर समृष्टि के ही भेद है[2]) । इस सूची से यह स्पष्ट है कि वामन ने पर्यायोक्त, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म अलकारो का निरूपण छोड दिया है । अनेक अलकारो के लक्षण भामह पर आधारित है जैसेकि उपमा और विभावना के । साथ ही वामन ने भामह-सम्मत उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को भी (जिन्हे उद्भट ने भामह का प्राय. अनुसरण करने पर भी नही माना था) अपनी स्वीकृति प्रदान की है, यद्यपि यह अवश्य है कि वे इन्हे समृष्टि का भेद बताते है । वक्रोक्ति का अर्थालकार मे सन्निवेश, व्याजोक्ति का निरूपण तथा अनेक अलकारो के भेदो की नवीन उद्भावनाए वामन की अपनी देन है । शब्दालकारो का प्रथम विवेचन तथा प्रतिवस्तूपमा से लेकर समृष्टि तक के अलकारो को उपमा का प्रपञ्च बताने से इतना स्पष्ट है कि वामन एक तो शब्दालकार तथा अर्थालकार मे अलंकारो का विभाग प्रस्तुत करते हैं, तथा दूसरे वह औपम्य-तत्त्व के आधार पर शेष अलकारो को परोक्षत वर्गीकृत करते हैं । उपमा का ही प्रपञ्च बताने के कारण भी यह सम्भव है कि गुण के विवेचन में वामन कुछेक अलंकारो के स्वरूप का अन्तर्भाव कर चुके थे । उदाहरण के लिए उनके कान्तिनामक गुण में रसवत् के स्वरूप का अन्तर्भाव किया जा सकता है । इसीप्रकार प्रसादगुण की सीमा मे भाविक का अन्तर्भाव किया जा सकता । कदाचित् इसीलिए आगे चलकर रुय्यक ने प्रसाद गुण से भाविक अलकार का भेद बताना आवश्यक समझा था । अलकारविकास के प्रकरण मे एकबात लिखना अत्यन्त आवश्यक है कि अनेक अलकार नामत तो एक हैं पर लक्षण की दृष्टि से उनमे अन्तर नही

१. वामन ने यमक, अनुप्रास तथा उपमा का चतुर्थ अधिकरण के द्वितीय अध्याय में प्रतिपादन किया है और शेष अलंकार (जिन्हें वे उपमा का प्रपञ्च मानते हैं) तृतीय अध्याय में प्रतिपादित हैं ।

२. तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ । —वही, ४।३।३१ ।

है। उदाहरण के लिए वामन की विशेषोक्ति वस्तुत: रूपक (दृढारोप) है; आक्षेप के दो रूप (उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेधः) दूसरे आलकारिको के प्रतीप तथा समासोक्ति अलकारो के अनुकूल हैं। इसीप्रकार दण्डी का लेश अलकार मम्मट के व्याजोक्ति अलकार का स्वरूप है। भट्टिकाव्य तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण से हमे तीन और अलकारो की सूचना मिलती है। निपुण की भट्टिकाव्य से और उपन्यास की विष्णुधर्मोत्तरपुराण से तथा वार्ता नामक अलकार की इन दोनो से[1]। अस्तु, भामह से प्रारम्भ कर वामन के समय तक लगभग ५५ अलकारो की चर्चा हो चुकी थी। इनमें से वामन केवल ३१ अलकार मानते हैं और उद्भट ने ४१ अलकारो का विवेचन किया था।

रुद्रट ने व्याजश्लेष, अवसर, जाति, स्वभावोक्ति, हेतु, भावालंकार (दो भेद), मत, साम्य तथा पिहित इन नामो से नवीन अलकारो की उद्भावना की है। इनमे से प्रथम चार का स्वरूप पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित क्रमश. व्याजस्तुति, उदात्त (द्वितीय), स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति (चतुर्थ भेद) इन अलकारो से भिन्न नही है। रुद्रट के हेतु को तो मम्मट के अनुसार अलकार ही नही मानना चाहिए। भावालकार के दोनों भेद, जैसाकि रुय्यक ने अपनी सर्वस्वभूमिका में सकेत किया है, गुणीभूतव्यग्य के अन्तर्गत ही आएगें। मत, साम्य तथा पिहित की भी नवीनता बाद के अनेक आचार्यों को मान्य नही रही है।

रुद्रट ने वक्रोक्ति, अनप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्रालकार को शब्दालकार माना है तथा इनके अनेक भेदो का भी प्रतान किया है।[2] रुद्रट सर्वप्रथम आलकारिक है जिन्होने अलकारो का वर्गीकरण किया है, वह सदोष है या निर्दोष यह बात दूसरी है। इस वर्गीकरण की चर्चा हम इसी अध्याय में आगे चल कर करेंगे। रुद्रट के बाद ध्वनिकाल के प्रवर्तक का युग प्रारम्भ हो जाता है। रुय्यक से पूर्व भोज और मम्मट ये दो आलकारिक और है जिन्होने अलकारो के विकास में साक्षात् योग दिया था।

भोज द्वारा अलकारमीमासा एक नई परम्परा का प्रवर्तन करती है, इस नवीनता मे अनेक प्राचीन परम्पराओ का समाहार भी है और प्रातिस्विक उद्भावनाएँ भी हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण के द्वितीय परिच्छेद मे उन्होंने २४

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए—हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोइटिक्स, पृ० ७०, १४०-४१।

२. देखिए—का० अ० के द्वितीय अध्याय से पचम अध्याय तक।

शब्दालंकारों का अनेक भेदोपभेद के साथ वर्णन किया है जिनकी तालिका निम्नलिखित है—

जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति । तृतीय परिच्छेद मे भोज ने २४ अर्थालकारों का अनेक भेदोपभेद के साथ वर्णन किया है । इनकी सूची निम्नलिखित है—

जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव । इसीके चतुर्थ परिच्छेद मे २४ उभयालकारो की सूची इस प्रकार है—

उपमा, रूपक, साम्य, सशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशसा, तुल्ययोगिता, लेश (दूसरे आलकारिको के अनुसार व्याज-स्तुति), सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, संसृष्टि ।

भोज के बाद अलकारमीमासा के इतिहास में मम्मट-रुय्यक का युग आ जाता है । मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में ६ शब्दालकार वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, श्लेष, चित्र एव पुनरुक्तवदाभास का तथा दशम मे ६२ अर्थालकारो का निरूपण किया है। इसके बाद रुय्यक ने अलकारो के लक्षणनिरूपण, विकास, विभाग तथा वर्गीकरण मे अपना अप्रतिम योगदान दिया है । मम्मट-रुय्यक द्वारा अलकार के विकास या वर्गीकरण की चर्चा हम इस अध्याय और पूरे प्रबन्ध में यथास्थान करेंगे । मम्मट-रुय्यक से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अलकारविकास की इस सक्षिप्त चर्चा के बाद अब हम क्रमश अलकारो के शब्दार्थोभय-विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपण-क्रम की चर्चा श्रेणीविभाग के नाम से प्रधानशीर्षक के अन्तर्गत करेंगे ।

शब्दार्थोभय-विभाग

प्राचीनकाल से ही अलकारो को प्रधानतया शब्द तथा अर्थ के दो भागों मे विभाजित किया जाता रहा है । आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के तीन भेद है—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्र । रसादितात्पर्य से विहीन अलकार-काव्य, आनन्दवर्धन की काव्यश्रेणियों के अनुसार, चित्रकाव्य कहा जाएगा । उन्होने इसे दो भागो में रखा है शब्दचित्र तथा वाच्यचित्र । शब्दचित्र का काव्य

क्लिष्ट यमक आदि शब्दालकारो से तथा वाच्यचित्र का काव्य उत्प्रेक्षा आदि अलकारो से आभासित होता है। स्पष्ट है कि चित्र के समान (आलेख्य-प्रख्य) तीसरी कोटि का यह काव्य मुख्य नही है, काव्यानुकार है।[1] राजशेखर ने काव्य-मीमासा में अलकार के शब्दार्थविभाग को ही दृष्टि में रखकर काव्य-कवि के आख्यातकवि आदि आठ भेदो मे अलकारकवि के दो भेद किए हैं—शब्दा-लकारकवि तथा अर्थालकारकवि—

द्विधालंकारकविः शब्दार्थभेदेन। —काव्यमी० पृ० ४२।

भरत ने जिन अलकारो का उल्लेख किया है उनमे यमक शब्दालकार है और शेष तीन अर्थ के अलकार है। इसके बाद भामह तथा उद्भट ने भी अनुप्रास तथा लाटानुप्रास को शब्दालकारों में रखा तथा कुछ अर्थालकार भी अधिक बढाए। इनमे से किसी भी आचार्य ने न तो स्पष्टत. अलकारो के विभाग का उल्लेख किया है और न उनका आधार बताया है। भामह के पूर्ववर्ती कुछ आचार्य शब्दालकार को और कुछ अर्थालकार को अच्छा समझते थे। भामह को माघ की भाँति[2], दोनो ही समान रूप से अभीष्ट थे—

शब्दाभिधेयालकारभेदादिष्ट द्वयन्तु नः —काव्यालकार १,१,१४।

अग्निपुराण का लेखक भी शब्दालकार या अर्थालकार में से किसी एक को अधिक वरेण्य मानता उचित न समझता था। उसे दोनो ही समान रूप से सुन्दर लगते थे।

केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्।
वाचामलङ्क्रियां प्राहुस्तद् द्वयं नो मत मतम्॥

भामह ने काव्य की परिभाषा शब्द और अर्थ के साहित्य के रूप मे की थी—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।** इनके अनुसार अलकार शब्द और अर्थ के वक्रतापूर्ण सौन्दर्य पर निर्भर है। अस्तु अलकार की कल्पना भी इन्ही दो में सीमित रखी जा सकती है—**वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलकाराय कल्पते**—भामहा-लकार, ५,६६। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भामह अलकारो को शब्द तथा अर्थ इन दो भागो मे विभाजित करना उचित समझते थे, और दोनो ही उन्हें समान रूप में अभीष्ट थे। पर भामह और उद्भट ने कही भी इस विभाग का

१. चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥ —ध्वन्या० ३।४३।

२. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥— शिशुपालवध, २।८६।

आधार नही बताया है। दोनो ही आचार्य शब्द तथा अर्थ के अलकारों को एक साथ वर्गक्रम से लिखते जाते है। उनमें कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण का क्रम नहीं दिखाई देता। दण्डी ने गुण, दोष तथा अलकार तीनो के ही शब्दगत तथा अर्थगत होने का निर्देश किया है।

शब्दार्थालङ्क्रियाः चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।
गुणा दोषाश्च वाक्यानामिति सङ्क्षिप्य दर्शिताः ॥—काव्यादर्श, ३,१८६।

दण्डी ने शब्दालकारो का विशद विवेचन किया है, और इनका तृतीय परिच्छेद मे स्वतन्त्र रूप से वर्णन भी है। इस प्रकार भामह और उनके अनुयायी उद्भट को अलकारो का शब्दार्थ-विभाग तो ज्ञात है पर उन्होंने शब्दालंकार तथा अर्थालकार का पृथक् रूप मे वर्णन नही किया है, उन्हे एक साथ मिलाकर रखा गया है। दण्डी मे उनका पृथक् परिगणन है।

वामन के पूर्व तक गुणों का शब्दगत तथा अर्थगत विभाग विकसित न हो सका था। वामन ने सर्वप्रथम आश्रयाश्रयिभाववाद के आधार पर गुणो का शब्दगत तथा अर्थगत के रूप में विभाजन किया।[1] उन्होने अलंकारों को भी दो भागो मे बाटा है। 'आलकारिक' नामक चतुर्थ अधिकरण का प्रथम अध्याय केवल शब्दालकारो—यमक तथा अनुप्रास[2]—का प्रतिपादन करता है। दूसरा अध्याय अर्थालकारो का है।[3] वामन ने गुणो को शब्द तथा अर्थ का स्थिर करने के लिए आश्रयाश्रयिभाव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यद्यपि अलकारो के विभाग का भी यही आधार है, यह वामन ने स्पष्टतः कही नही लिखा है पर मेरा विचार है कि गुण हो या अलकार दोनो के लिए ही आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त वामन को समान रूप से अभिमत है। उनके अनुसार शब्दालकार 'वाचकद्वार' है और अर्थालंकार 'वाच्यद्वार'। जिस प्रकार पदगत ओज शब्द-गुण है उसी प्रकार अनेकार्थ पद यमक है जो शब्दालकार है। साम्य अर्थतत्त्व है उसके आधार पर उपमा की परिभाषा की गई है।[4] अतः अलकार को 'वाच्यद्वारक' कहा जा सकता है।

वामन के बाद अग्निपुराणकार, भोज तथा प्रकाशवर्ष ने शब्दगुण तथा

---

१. देखिए—Concept of Riti and Guṇa, पृ० ८४ तथा १०८।
२. तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ। —का० अ० सू० ४।१।
३. सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः। —वहीं, ४।२।
४. देखिए—का० अ० सू० ४।२।१।

अर्थगुण के अतिरिक्त जिनमें दोनों का सम्मिलन हो उन्हे उभयगुण की संज्ञा दी है। इधर रुद्रट, भोज, तिलक, मम्मट, रुय्यक आदि प्राचीन और विश्वनाथ जैसे अर्वाचीन आलंकारिकों ने अलकार का उभयभेद भी माना है। श्लेष अर्थालंकार है या शब्दालकार, यह विवाद युगो से चला आ रहा है। इस पर अपना मत प्रकट करते हुए रुद्रट ने श्लेष को उभयालकार मानना उचित समझा है—'श्लेषोऽर्थस्यापि'।[1] भोज ने उभयालकार का विवेचन करने के लिए एक स्वतन्त्र परिच्छेद ही लिखा है।[2] भोज का उभयालकार-विवेचन एक स्वतन्त्र परम्परा का अनुयायी है। उन्होने चौबीस उभयालकारो का समावेश किया है।[3] इनमे श्लेष और समृष्टि को छोडकर किसी भी दूसरे अलकार को किसी भी परिचित आलंकारिक ने उभयालकार नही माना है। भोज के अनुसार यदि किसी शब्द (जैसे कि 'इव' आदि) की सहायता से औपम्य या कोई दूसरा अर्थ मालूम देता है तो उन्हे उभयालकार माना जाएगा—

> शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
> विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालक्रियाः प्रियाः[4] ॥
>
> —स० क० ४,१।

भोज के समय तक इसप्रकार अलकारो का शब्द, अर्थ तथा उभय में विभाग किया जाता था। किन्तु अलंकारो के इस त्रिवर्ग में विभाजन का सिद्धान्त विकसित न हुआ था, यद्यपि वामन के शब्दगुण तथा अर्थगुण को निश्चित करने के आधार ने आश्रयाश्रयिभाव का संकेत अवश्य कर दिया था। रुय्यक के पिता राजानक तिलक ने, जिनका प्रभाव मम्मट और रुय्यक दोनो पर ही है, अन्वयव्यतिरेक तथा आश्रयाश्रयिभाव के मानदण्डों की चर्चा अपनी विवृति में की है। उन्होने उद्भट के पुनरुक्तवदाभास को उभयालकार की कोटि मे रखकर अलकार का त्रिरूप विभाजन भी प्रतिपादित किया है।[5] आगे

---

१. शब्दालंकार एवाय श्लेषो नत्वर्थालंकारोऽपीति तं प्रत्याह-श्लेषोऽर्थस्यापि।
—नमिसाधु, पृ० १५, काव्यालकार।

२. इदानीमुभयालंकारविवेचनाय परिच्छेदमारभते। —स० क० पृ० ३६८।

३. भोज के चौबीस उभयालंकारों के लिए देखिए —स० क० ४।२-४।

४. जगद्धर की इस पर टीका भी देखिए—पृ० ३११।

५. तत्र आद्यः (पुनरुक्तवदाभास.) उभयस्य शब्दस्यार्थस्य च।
ततस्त्रयः शब्दस्य। शेषास्त्वर्थस्यालंकाराः। —विवृति, पृ० १।

चलकर मम्मट ने भी अलकारों की इस त्रिविधता को स्वीकार किया था—

इति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलकाराः ।

—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ७६६ ।

काव्यप्रकाशकार ने उभयालंकारो का सामस्त्येन एक जगह प्रतिपादन नही किया है। और यह उनके लिए सभव भी नहीं था क्योंकि सभी अर्थालकार श्लेष के होने पर उभयालकार बन सकते हैं। उभयालकारो (जिनकी सख्या अधिक नही हो सकती)का भी समावेश, भट्टगोपाल के अनुसार, काव्यप्रकाश की प्रौढता का परिचायक है—

औभयिकानामप्राचुर्येऽपि तृतीयकोटिनिर्वाहः प्रौढत्वमिति ।

— सा० चू० (द्वितीय भाग), पृ० ४२६ ।

रुय्यक ने अलकारो का यह त्रिविध विभाजन अधिक स्पष्ट रूप से किया है। उन्होंने पौनरुक्त्य की तीन कोटिया मानी हैं—अर्थपौनरुक्त्य, शब्दपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य —

इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकारा ।

—अ० स० पृ० १६ ।

सर्वस्वकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पौनरुक्त्य का यह त्रैविध्य अलकारो का विभाग करने के लिए किया गया है—

आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचनं वक्ष्यमाणालंकाराणां कक्ष्याविभागघटनार्थम् ।

पुनरुक्तवदाभास अर्थपौनरुक्त्य पर, छेकानुप्रास तथा यमक शब्दपौनरुक्त्य पर, और लाटानुप्रास शब्द तथा अर्थ दोनो की ही पुनरुक्ति पर आधारित है।[१] अपने अन्तिम सूत्र में तथा उसकी विवृति में अलकारो के इस त्रिविध विभाजन को रुय्यक ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सूत्र : एवमेते शब्दार्थोभयालंकाराः संक्षेपतः सूत्रिताः ।

---

१. पुनरुक्तवदाभासमर्थपौनरुक्त्याश्रितम् । छेकानुप्रासादयस्त्रयः शब्दपौनरुक्त्याश्रयाः । लाटानुप्रासस्तूभयाश्रित इति पंच पौनरुक्त्याश्रिता अलंकाराः । —वि० पृ० ३० ।

वृत्ति : तत्र शब्दालंकारा यमकादयः। अर्थालंकाराः उपमादयः।
उभयालंकाराः लाटानुप्रासादयः।[1] —अ० स० पृ० २५६।

सर्वस्व से परवर्ती आलंकारिकों में विद्याधर तथा विद्यानाथ ने रुय्यक का पूर्णतः अनुसरण किया है। प्रतापरुद्रयशोभूषण का लेखक प्रारम्भ मे ही रुय्यक की भांति इस अलंकारत्रैविध्य का निर्देश कर देता है—

तत्र प्रथमं शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यमलंकाराणाम्।
—प्रतापरुद्र०, पृ० ३३७।

इस पर कुमारस्वामी की टीका रुय्यक के शब्दो का अनुवादमात्र है।[2] विद्याधर की ही भांति विद्यानाथ[3] ने भी अलकार के इस त्रिविध विभाग का अनुसरण किया है। इन दोनों के तथा रुय्यक के विवेचन में इस सम्बन्ध में इतना साम्य है कि कोई भी पाठक यह अनुभव किए विना नही रह सकता कि दोनो ही लेखको ने अलकारसर्वस्व के शब्दो का थोड़े बहुत अन्तर के साथ अनुवाद किया है।

वाग्भट ने उभयालकार का स्पष्ट निर्देश कही नही किया है। हेमचन्द्र ने पुनरुक्तवदाभास तथा अर्थान्तरन्यास को उभयालकार मानना अधिक तर्क-सगत समझते हुए भी उभयालकार की अलग कोटि नही मानी है। उनका कहना है कि जहा शब्दालकार तथा अर्थालकार दोनों होते हैं वहा उनमें से किसी एक का वैचित्र्य अधिक उत्कट रहता है अत. अलकारो का द्विविध विभाजन ही उचित है। यह निष्कर्ष हेमचन्द्र की निम्नाकित पक्तियो से निकलता है—

यद्यपि पुनरुक्तवदाभासार्थान्तरन्यासादयः केचिदुभयान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तत्र शब्दस्यार्थस्य वा वैचित्र्यमुत्कटमिति उभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव[4] शब्दालंकारत्वेन अर्थालंकारत्वेन चोक्ताः।
—काव्यानुशासन, पृ० ३५१।

---

१. अनुप्रासयमकादयः शब्दालंकाराः। उपमारूपकादयोऽर्थालंकाराः, लाटानुप्रासादयस्तूभयालंकाराः इति कथयाविभागः अनुसन्धेयः।
—सजी० पृ० २७।

२. रत्नापण, पृ० ३३७।

३. विशेषतः द्रष्टव्य—तरल, पृ० ११५।

४. काव्यमाला में प्रकाशित काव्यानुशासन का पाठ है—'उभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव शब्दालंकारत्वेन नार्थालंकारत्वेन चोक्ताः' जो आपाततः अशुद्ध है।

विश्वनाथ को यह त्रिविध विभाग अभिमत है। इसीलिए पुनरुक्तवदाभास तथा श्लेष को उभयालकार मानना उनकी दृष्टि से अधिक उचित है। अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ ने शब्दालकार तथा उभयालंकार का निरूपण नही किया है।[१] दीक्षित का कथन है कि शब्दचित्र रसहीन होता है अतः कविगण उसका आदर नही करते है, और उसमे चिन्तन का अश भी अधिक नही होता है, अर्थचित्र की मीमासा प्रसाद-सम्पन्न होती है साथ ही उसका विस्तार भी अधिक है अत: शब्दालकार या शब्दचित्र का निरूपण उन्होने छोड दिया है। पर चित्रकाव्य के त्रिविध या चतुर्विध विभाग[२] से स्पष्ट है कि उन्हे भी अलकार का त्रिविध विभाग अभीष्ट है।

अलकारविभाग का नियामक तत्त्व

किस अलकार को शब्द का और किसे अर्थ का माना जाए इस पर सभवत. सर्वप्रथम आलोचनात्मक विवेचन राजानक तिलक से प्रारम्भ होता है। गुणो को शब्द तथा अर्थ का स्थिर करने के लिए वामन ने भी एक सिद्धान्त का आश्रय लिया था किन्तु अलकारो के सम्बन्ध मे साक्षात् विचार न होने से वामन को अलकारविभाग के नियामक तत्त्व को स्थिर करने वाला नही माना जा सकता है। यद्यपि यह अवश्य है कि उनके गुण-विभाग के विवेचन से, जो स्वय अधिक विशद या स्पष्ट नही है, परवर्ती ग्रन्थकारो तथा टीकाकारो को सहायता अवश्य मिली होगी।

अलकारविभाग के दो सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। एक है आश्रयाश्रयिभाव तथा दूसरा है अन्वयव्यतिरेकभाव। इन दोनो सिद्धान्तो के उद्भावक आचार्य

---

१. अप्पय्यदीक्षित का कथन है—शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते। —चित्रमी० पृ० ५।

२. (अ) यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम्।

(ब) तत् त्रिविधं शब्दचित्रमर्थचित्रमुभयचित्रमिति। —वही।

(स) यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।

—रसग० पृ० १९।

उद्‌भट हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। समुद्रबन्ध के अनुसार उद्भट आदि प्राचीन आचार्य प्रथम सिद्धान्त के समर्थक थे।[1] अन्वयव्यतिरेकवाद न केवल इनके अनुसार युक्तिहीन ही है अपितु प्राचीन आचार्यों के मत के विपरीत भी है—

अन्वयव्यतिरेकपक्षे न केवलं युक्तिविरोधः उद्भटादिपूर्वाचार्यविरोधोऽपि।
—समुद्र० पृ० २२८।

रुय्यक की पक्ति—तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिः—अ०स० पृ० ५७, से भी यही सकेत मिलता है कि प्राचीन आचार्य, जिनमे उद्भट की निश्चित रूप में गणना है, आश्रयाश्रयिभाव के समर्थक थे। इस प्रकार परम्परा के अनुसार कम से कम उद्‌भट तो अवश्य ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादक या समर्थक थे किन्तु हमें प्रकाशित काव्यालकारसारसंग्रह में इस प्रकार का कोई स्पष्ट निर्देश नही मिलता है जिससे हम उद्भट को इस मत का उद्भावक आचार्य कह सकें। हाँ, तिलक को अवश्य इस मत का प्रमुख प्रतिपादक या उद्भावक आचार्य कहा जा सकता है। जो भी हो पर इतना निश्चित है कि मम्मट तथा रुय्यक दोनो ही उपर्युक्त सिद्धान्तों के निरूपण के लिए बहुत कुछ राजानक तिलक के अनुगृहीत हैं। जयरथ का कथन है कि तिलक ने अपनी काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका[2] में आश्रयाश्रयिभाव के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। आश्रयाश्रयिभाव शब्द न आने पर भी दो स्थलो मे इस सिद्धान्त का निरूपण हमें प्रकाशित पुस्तक मे मिलता है।[3] रुय्यक अपने पिता

---

१. काव्यप्रकाश के टीकाकार सारबोधिनीकार उद्भट को अन्वयव्यतिरेकवाद का समर्थक बताते हैं—

सरबोधिनीकारास्तु—उद्भटाचार्यमते अप्येवमिति दर्शयति योऽलंकार इति।
—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ७६८।

२. एतच्चोद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तम्। —वि० पृ० २५७।

३. प्रासंगिक उद्धरण निम्नलिखित हैं—

(अ) अत्र शब्दमुखेनार्थस्य विचित्रत्वेऽपि मुख्यतः कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्य शब्दस्य वैचित्र्यमिति शब्दालंकारत्वं युक्तम्। ग्रन्थगौरवभयात्तु न प्रतनुमः। किञ्चित्तु श्लेषस्थाने वक्ष्यामः।
—विवृति, पृ० ११।

राजानक तिलक के अनुयायी हैं अत यह कहना गलत न होगा कि आश्रया-श्रयिभाव के सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक रुय्यक तिलक का ऋणी है।

मम्मट अन्वयव्यतिरेकवाद के प्रमुख समर्थक आचार्य हैं। उनके अनुसार न केवल अलकार अपितु दोष तथा गुण के भी शब्दार्थोभय-विभाग का आधार अन्वयव्यतिरेकभाव है।

इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।[1] —का० प्र० (अनन्तशयनम्), पृ० २२८-२९।

राजानक तिलक की विवृति मे अन्वयव्यतिरेकभाव के लिए पर्याप्त निर्देश है। अत यह कहना (जैसा कि श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी अनुमान है) युक्तिसगत होगा कि मम्मट ने अपने सिद्धान्त का विकास राजानक तिलक के प्रतिपादन के आधार पर किया है। श्लेष के प्रसग मे इनका यह कथन तो अन्वयव्यतिरेक-वाद का स्पष्ट अभिधान-सा करता है—

काव्ये दोषगुणानां च शब्दार्थगततयान्वयव्यतिरेकाभ्यां विभागः क्रियते। न च भानुदीप्यमानादिशब्दसद्भावेऽलंकारोऽस्तेति शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽस्य शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। —विवृति, पृ० ४०।

काव्यप्रकाश के तथा विवृति[2] के ऊपर उद्धृत अश को एक साथ पढ़ने पर

(ख) एवं चेह चतुर्थं रूपकं श्लेषव्यतिरेकश्च यदुक्तं तस्योक्तनयेन शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। एवमादौ शब्दमूलालंकारो न शब्दस्यालंकार इतिचेत् उक्तमत्र वैचित्र्यमलंकार इति। यद्वैचित्र्यं तस्यालंकार इति यथोक्तमेव साधु। —वही, पृ० ४०।

१ श्रीविद्याचक्रवर्ती इस पर टीका करते हुए लिखते हैं—
इह हि न केवलम् अलंकाराणां यावता दोषादीनां सर्वेषामेव धर्माणां यो विभागः स तत्तच्छब्दार्थान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवस्थितिं लभते।
—स० प्र० (द्वितीय भाग), पृ० २२८-२९।

२. पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार सिद्ध करते हुए विवृतिकार का विवेचन भी उल्लेख्य है—
नागशितिकण्ठपर्यायोपादानेऽप्यलंकारो न हीयते इत्यर्थोऽलंकार्यः। कुञ्जरकालगलशब्दपर्यायोपादाने तु नालंकारो भवतीति शब्दोऽलंकार्य इत्युभयावलम्बनोऽयमलंकारः। —विवृति, पृ० ३।

इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि तिलक के शब्दो तक को मम्मट ने अपने सिद्धान्त के विकास में उधार लिया है । इस प्रकार विवृति में दोनों ही सिद्धान्तों का सूक्ष्म निर्देश है; यह कहना कठिन है कि राजानक तिलक किस मत को वरेण्य समझते थे । सिद्धान्त रूप में भले ही उन्हे आश्रयाश्रयिभाव अभीष्ट रहा हो पर उन्होने उदाहरणो मे अनेकत्र अन्वयव्यतिरेक का सहारा लिया है । हमे इस प्रसग मे यह न भूलना होगा कि तिलक दोनों ही सिद्धान्तों का मूलाधार यद्वैचित्र्यवाद मानते है । किसी कविता में शब्द या अर्थ के आश्रय से अथवा उसके अन्वय या व्यतिरेक से अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता है । निर्णय का आधार तो वैचित्र्य या चमत्कार की अनुभूति का केन्द्रबिन्दु ही होगा । जहाँ जिससे वैचित्र्य की अनुभूति होगी वहाँ उसीके अनुसार अलंकार होगा । इस अनुभूति के दो आधार हैं—सहृदय और कविविवक्षा । किसी भी काव्यमयी सृष्टि के अभिव्यजनापक्ष पर विचार करने पर इन दो को ओझल नही किया जा सकता है—कवि का कथ्य या उसकी विवक्षा और पाठक—सहृदय—की कविता के प्रति प्रतिक्रिया । ये दोनों ही परस्पर अविरोधी भाव से काव्य के भावपक्ष के ही क्यो शिल्पपक्ष के भी निर्णायक हैं । वस्तु, राजानक तिलक ने शब्द तथा अर्थ में अलकार के विभाग का आधार यद्वैचित्र्यवाद को माना है । जहाँ जिसका वैचित्र्य है वहाँ उसीके आधार (आश्रय) पर अलकार है । रससिद्ध कवि की वाणी मे यह वैचित्र्य एक विशिष्ट शब्द से इतना तद्रूप हो जाता है कि उस शब्द के रहने पर ही चमत्कार की अनुभूति होती है । यही कारण है कि राजानक तिलक ने यद्वैचित्र्यवाद को मानकर आश्रयाश्रयिभाव तथा अन्वयव्यतिरेकभाव दोनों से ही उसकी सगति बैठा ली थी । वैचित्र्य अलकार का पर्याय है वही अलकार के विभाग का भी नियामक है, अत राजानक तिलक का सिद्धान्त मूल के स्वरूप (परिभाषा) से ही अनुप्राणित है ।

अन्वयव्यतिरेकभाव

मम्मट के अनुसार अन्वयव्यतिरेकभाव अलकार के शाब्दत्व या आर्थत्व के निर्णय का आधार है । अन्वय का अर्थ है जिसके रहने पर जो रहे—**यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः** । व्यतिरेक उसे कहते हैं यदि कोई वस्तु किसी के न रहने पर न रहे—**यदभावे यदभावो व्यतिरेकः** । दण्डचक्र के रहने पर ही घडे की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं । इसप्रकार घटभाव दण्डचक्र के भाव पर अवलम्बित है । इसे अन्वयसम्बन्ध कहेगे । दण्डचक्र के अभाव में घट की उत्पत्ति

नहीं होती अतः दोनों में व्यतिरेकसम्बन्ध है। किसी शब्दविशेष के रहने पर अलंकारविशेष रहे और न रहने पर न रहे तो अन्वयव्यतिरेकभाव से नियन्त्रित होने के नाते उसे शब्दालंकार कहा जाएगा।[1] यदि शब्दपरिवर्तन कर देने पर भी अलकार रहे तो वह अर्थालकार होगा—

योऽलंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः।[2]

—का० प्र० पृ० ४२७।

आश्रयाश्रयिभाव का खण्डन करने वाले आचार्य तथा उनके अनुयायियो का कहना है कि यह एक अस्पष्ट सिद्धान्त है, इसका स्वरूप निश्चित नही है। ऐसे अलकार जो केवल शब्द या केवल अर्थ पर आश्रित हो कम मिलेंगे। फिर सभी शब्दालकारो का अर्थ से और सभी अर्थालकारो का शब्द से सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। शब्द के बिना अर्थ कैसे होगा अत आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर अलकारो का शब्दार्थ-विभाजन निश्चित नही किया जा सकता। इस सिद्धान्त को मानने से शब्दालकार अर्थालकार और अर्थालकार शब्दालकार बन सकते हैं। अत आश्रयाश्रयिवाद मानना उचित नही है। अन्वयव्यतिरेकवादी के अनुसार तो आश्रयाश्रयिभाव अन्ततः अन्वयव्यतिरेकभाव पर ही आधारित है—

योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायामन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्। —वही, पृ० ४२८।

अन्वयव्यतिरेकभाव की आलोचना

मम्मट ने अलकार का निर्णायक तत्त्व जानने के लिए तर्क-प्रणाली को अपनाया है पर अलकार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा मन की तार्किक

---

१. सति शब्दे शब्दालंकारोऽस्ति। असति नास्तीत्यादि भावाभावानुविधानम्।
—स० प्र० (द्वितीय भाग), पृ० ४२७।

२. काव्यानुशासन (नि० सा०), पृ० २२१ तथा का० प्र० (अनन्तशयनम्), पृ० ४२७ का पाठ निम्नलिखित है—'भावाभावावनुविधत्ते'। अत अन्वयव्यतिरेकवाद के अतिरिक्त भावाभाववाद भी इस सिद्धान्त को संज्ञा दी जा सकती है।

दशा से भिन्न होती है। उस समय मन चमत्कार की दशा से तर्क की दशा को प्राप्त नही होता और सहृदय पाठक अन्वयव्यतिरेक के बुद्धिव्यापार द्वारा तर्क का आश्रय नही लेता। अलकार यदि विच्छित्ति है, वैचित्र्य है तो अमुक अलकार किस पर आश्रित है यह ज्ञान अलकार से उत्पन्न सौन्दर्यबोध के साथ ही हो जाना स्वाभाविक है; उसके ज्ञान की भिन्न प्रक्रिया नही होती। इस प्रक्रिया को हम इसी सौन्दर्यबोध की प्रक्रिया का अंग मान सकते हैं। सौन्दर्य की प्रतीति के साथ सौन्दर्य का कारण भी जुडा रहता है। अतः अलकारबोध के साथ ही हमें अलकार के आश्रयतत्त्व का अथवा अमुक अलकार में किस तत्त्व की प्रधानता है इसका ज्ञान हो जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्वयव्यतिरेकभाव का खण्डन किया है। उनके अनुसार इससे आश्रय का ज्ञान नही हो सकता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है। और उस हेतु का अपने कार्य के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का। दण्डादि मे घट की सत्ता नही होती है किन्तु शब्द तथा अर्थ मे अलकार की सत्ता रहती है। अत अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह नही जाना जा सकता कि अमुक अलकार का आधार शब्द है अथवा नही—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु। ननु आश्रयत्वावगमः। स पुनस्तद्वृत्तिज्ञानत्वाधीनः। —रसग० पृ० ४०२।

अन्वयव्यतिरेकवाद की आलोचना करते हुए रुय्यक का कथन है कि अन्वय या व्यतिरेक—एक के रहने या न रहने पर किसी दूसरे का रहना या न रहना—अलकार की कार्यता का निश्चय कर सकता है अलकारत्व का उससे निश्चय नही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रौतोपमा मे इव शब्द का प्रयोग कारण है उपमा का श्रौत होना कार्य किन्तु यह अलकार (श्रौतोपमा) शब्दालकार माना जाए या अर्थालकार इसका निर्णय अन्वय-व्यतिरेक से नही करना चाहिए।[1] श्रौतोपमा की भाँति ही वाच्योत्प्रेक्षा भी है जिसमे इव का प्रयोग उत्प्रेक्षा को वाच्य अवश्य बनाता है किन्तु उसे अर्थालकार मानने का कारण तो उत्प्रेक्षा का अर्थ पर आश्रित होना ही है। अस्तु, अन्वयव्यतिरेक-भाव किसी अलकार-विशेष के साथ कारण-कार्य के सम्बन्ध का

---

१. **अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलंकारत्वे तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। —अ० स० पृ० २५६-५७।**

विवेचन अवश्य करता है किन्तु उसकी शब्द, अर्थ या उभय की अलंकारता का निर्णायक नहीं हो सकता है। सुवर्ण कुण्डल का उपादान कारण है। सुवर्ण कारण है और कुण्डल कार्य किन्तु उसे कान का आभूषण क्यों कहा जाता है इसका आधार कारण-कार्य का सम्बन्ध न होकर कर्ण के आश्रय से विच्छित्ति या चमत्कार उत्पन्न करना ही है। अतः जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डल की कार्यता का नियामक भले ही हो पर उसे कर्णालिकार कहे जाने का नियामक नही माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार श्रौतोपमा या वाच्योत्प्रेक्षा में इव शब्द तथा इसी प्रकार अन्य अनेक अलकारो मे सह, हि, आदि शब्दो का प्रयोग या अप्रयोग अलकार की कार्यता का प्रयोजक भले हो पर उस अलकार के शब्द या अर्थ के कहे जाने का प्रयोजक नही माना जा सकता है। अन्वयव्यतिरेक का सिद्धान्त कारण-कार्य के औपपत्तिक सम्बन्ध की विवेचना करता है किंतु वह काव्य मे प्रतीति या सौन्दर्यबोध की व्याख्या नही कर पाता है। साथ ही वह अलकार-विभाग का सारा श्रेय शब्दविशेष के प्रयोग या अप्रयोग पर छोड़ देता है। इस सिद्धान्त का युक्तिगम्य परिणाम यह होगा कि जहाँ कहीं किसी अलंकार में कोई शब्द या अभिव्यक्ति, जैसे कि इव, यथा, हि, विना, सह आदि आलकारिक शिल्प के आनुषङ्गिक तत्त्व होंगे, वे ही प्रधान बनकर अलकार के शाब्द या आर्थ होने के घटक तत्त्व बन जाएगे। यह तार्किक परिणाम कदाचित् मम्मट को भी स्वीकार न होगा।

परवर्ती अन्य आलकारिकों मे विद्याधर[1] तथा विद्यानाथ[2] आश्रयाश्रयिभाव को मानने के नाते ही पुनरुक्तवदाभास को अर्थालकार मानते हैं। अप्पय्यदीक्षित भी इसी सिद्धान्त के समर्थक है। इसीलिए वे सभंग तथा अभगश्लेष को अर्थालकार मानते हैं।

आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त

रुय्यक के अनुसार जो अलकार जिस पर आश्रित होता है वह उसका अलकार होता है—**योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः**। यदि अलकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालकार, अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और शब्द तथा अर्थ दोनो पर आश्रित है तो उभयालकार कहा जाएगा। लौकिक आभूषणों के

---

१. देखिए—प्रतापरुद्र० ३४३।

२. देखिए—एका० पृ० ४०१ टिप्पणी।

सम्बन्ध में भी यह बात चरितार्थ होती है।[1] कटक हाथ का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह हाथ पर आश्रित है। कुण्डल कानो का तथा नूपुर पैरों का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह कानो और पैरों में पहिना जाता है, उस पर आश्रित है। विमर्शिनी ने 'लोकवद्' की व्याख्या करते हुए यही मन्तव्य प्रकट किया है—

लोके हि योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः। —वि० पृ० २५७।

हाथ के सयोगमात्र से नूपुर हाथ का अलकार नही हो सकता और न पैर के सयोग से कटक या कुण्डल पैरों का। लौकिक आभूषणो तथा काव्यालकार का इस अश तक साम्य है। आश्रय का निश्चय शोभा, विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर होता है इसकी चर्चा हम अभी कर चुके है।

रुय्यक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्वय-व्यतिरेक केवल कार्यता के प्रयोजक हो सकते है शब्दादि की अलकारता का नियामक केवल आश्रयाश्रयिभाव ही है। अन्वय-व्यतिरेक को शब्दादि की अलकारता का प्रयोजक मानने से श्रौतोपमा आदि को भी शब्दालकार मानना पडेगा—

लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलंकारत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। —अ० स० पृ० २५६-५७।

राजानक जयरथ ने रुय्यक के उपर्युक्त मन्तव्य पर टीका करते हुए लिखा है कि यद्यपि शब्द, अर्थ तथा उभय के अलकार समान रूप से काव्य में शोभातिशय का आधान करते है किन्तु कोई अलकार शब्द अथवा अर्थ अथवा दोनों का क्यो माना जाता है इस प्रतिनियम का निर्णायक लोक की भाँति ही आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त है। लोक मे जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलकार कहलाता है जैसेकि कुण्डल आदि कर्ण आदि पर आश्रित होने से (न कि सुवर्ण से निर्मित होने के कारण) कर्ण का अलकार कहलाता है। इसी प्रकार अलकारशास्त्र में भी शब्द आदि पर अश्रित रहने वाला शब्दादि का अलंकार होता है[2]—

---

१. (क) अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः।
(ख) आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।
—अ० स० पृ० १२४।

२. वि० पृ० २५७।

लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णाकारवहेतुकत्वात्तदलंकारः। —वि० पृ० १२४।

आश्रयाश्रयिभाव का यह सिद्धान्त सौन्दर्यविधान के तत्त्व पर आश्रित है इसलिए जयरथ इसे उपस्कार्योपस्कारक भाव भी कहते है। यदि किसी अलकार द्वारा शब्द का उपस्करण होता है तो वह शब्दालकार, अर्थ का उपस्करण होता है तो अर्थालकार कहलाएगा—

आश्रयाश्रयिभावेनेति। उपस्कार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः। तेन योऽलंकारो यदुपस्कारः स तदलंकार इति पिण्डार्थः। —वि० पृ० २५७।

सौन्दर्य-विधान का निश्चय सहृदय की अनुभूति और कवि की विवक्षा द्वारा सम्भव है, राजानक तिलक के मत का विवेचन करते हुए हम यह प्रतिपादित कर चुके है। अस्तु, अन्वयव्यतिरेक का वाद केवल 'औपपत्तिक' कार्यकारण-भाव पर आधारित होने के नाते काव्यालकार के विवेचन मे वह नियामक सिद्धान्त नही हो सकता है। आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त अलकार द्वारा सौन्दर्यविधान, उस सौन्दर्य की सहृदय द्वारा अनुभूति तथा कवि की विवक्षा पर आश्रित होने के नाते ग्राह्य सिद्धान्त है।

कतिपय अलंकारों का विभाग

आश्रयाश्रयिभाव को अलकार-विभाग का आधार मान लेने पर पुनरुक्त-वदाभास, श्लेष तथा वक्रोक्ति आदि कतिपय अलकार शब्दालकार की कोटि में नही रहते जो अन्वयव्यतिरेवाद को निर्णायक तत्त्व मानने के कारण इस कोटि मे आते हैं।

अनेक आचार्य, जिनमे मम्मट, शोभाकर तथा विश्वनाथ प्रमुख है, पुनरुक्तवदाभास की शब्दालकार में गणना करते है। मम्मट[1] तथा विश्वनाथ यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से इसे उभयालकार मानना चाहेगे[2] किन्तु शब्दवैचित्र्य की उत्कटता अथवा कुछ प्राचीन आचार्यों की परम्परा का पालन करने के लिए उन्होने इसे शब्दालकार के अन्तर्गत ही रखा है। मम्मट तथा विश्वनाथ[3] ने

---

१. एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारौ। —का० प्र० पृ० ४२७।

२. अतएव शब्दवैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकारमध्ये गणितः। —का० प्र० (पूना), उद्योत टीका, पृ० ७६८।

३. वस्तुतोऽयमुभयालंकारः। —सा० द० पृ० ४७२।

अन्वयव्यतिरेकभाव के आधार पर पुनरुक्तवदाभास को शब्दालकार की कोटि में रखा है। शोभाकर ने आश्रयाश्रयिभाव को सम्भवत. मानकर भी पुनरुक्तवदाभास को शब्दालकार सिद्ध करने का लम्बा चौड़ा शास्त्रार्थ कर डाला है। उनका कहना है कि आमुख में तुल्यार्थ का होना शब्द का धर्म है, और फिर पौनरुक्त्य अर्थ का धर्म नही हो सकता अतः शब्दाश्रित होने के कारण इसे शब्दालकार मानना चाहिए, अर्थालकार नही—

> आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारोऽयम्। नत्वर्थधर्मः पौनरुक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या। —अ० र० पृ० १-२।

वस्तुत शोभाकर ने न तो आश्रयाश्रयिभाव का सही उपयोग किया है और न पुनरुक्तवदाभास के चमत्कार-तत्त्व पर ही विचार किया है। उन्होने केवल सर्वस्व के मत का खण्डन करने का दुराग्रह किया है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि पुनरुक्तवदाभास को अर्थालकार ही मानना उचित है। इस अलकार में चमत्कार समान अर्थ के आभास मे होता है। न तो इसमे शब्दो की पुनरुक्ति होती है और न अर्थ की, केवल अर्थ की पुनरुक्ति का आभास भर होता है अत इसे शब्द पर आश्रित मानना युक्तिहीन है। अन्वयव्यतिरेकवादी आचार्यों के मतानुसार भी पुनरुक्तवदाभास मे अर्थतत्त्व के चमत्कार की सत्ता है पर वे शब्दवैचित्र्य की उत्कटता को लेकर या केवल कुछ प्राचीन आचार्यों का अन्धानुसरण करने के लिए इसे शब्दालकार मानने का दुराग्रह करते है। पर उनका यह विचार सदोष है। जहाँ तक शब्दो के उच्चारण का प्रश्न है उनमे न तो किसी प्रकार की पुनरुक्ति है और न चमत्कार ही। पुनरुक्ति अथवा चमत्कार की प्रतीति हमे तब होती है जब हम अर्थ पर विचार करते है। यह कहना कि अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्दो पर अवलम्बित है अर्थहीन तर्क है, क्योकि इस प्रकार तो समस्त अर्थ का चमत्कार शब्दो के उपादान पर निर्भर है पर इसलिए सभी अर्थालकार को शब्दालकार तो नही माना जा सकता। अर्थालकारो में जो सादृश्य, साधर्म्य आदि प्रतीत होता है वह सब अन्तत· शब्दधर्मक है फिर इस तरह तो उपमादि सभी अलकारो को शब्दालकार माना जा सकता है।[1] अर्थपुनरुक्ति का आभास पुनरुक्तवदाभास का जीवातु है। इसमें सौन्दर्य अर्थतत्त्व

---

१. सर्वेषामप्यलंकाराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालंकारत्वं स्यात्।
—वि० पृ० २२।

पर आश्रित है अस्तु, इसे अर्थालंकार ही मानना चाहिए[1], शब्दालंकार[2] या उभयालंकार नही।[3]

श्लेष के दो भेद हैं सभंग तथा अभंग श्लेष। उद्भट तथा रुय्यक के अनुसार पहला शब्द पर और दूसरा अर्थ पर आश्रित है। स्वर(उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित), प्रयत्न (बाह्य और आभ्यन्तर), तथा स्थान में भेद होने पर शब्दश्लेष होता है और इनके भिन्न न होने पर अर्थश्लेष।[4] आश्रयाश्रयिभाववादी आचार्य रुय्यक का यही मत है। अन्वयव्यतिरेकवादी के अनुसार यदि वाक्य में प्रयुक्त शब्द पर्यायपरिवृत्तिसह है तब तो श्लेष अर्थालंकार होगा, अन्यथा शब्दश्लेष अलंकार होगा। आश्रयाश्रयिभाव को निर्णायक तत्त्व मान लेने पर ये दोनो श्लेष अर्थालंकार की कोटि मे चले जाते हैं। अभंग श्लेष को तो शब्दालंकार मानने का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसमे पदभंग न होने के कारण शब्द एक रहता है और उच्चारण प्रयत्न या स्थान में भेद नही होता।

रक्तच्छदत्वं विकचा वहन्तो नालं जलैः संगतमादधानाः।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मा विरेजुः श्रमणाः यथैव॥
—अ० स० पृ० १२६।

लाल पटल धारण किए हुए (श्रमण पक्ष में—मुण्डित सिर वाले), जल से लिपटी नाल से संयुक्त (श्रमण पक्ष में—मूर्खों की संगति एकदम न करने वाले), पुष्पो की सम्पूर्ण शोभा को पराजित कर (श्रमण पक्ष में—काम से अपनी सारी अभिलाषा को हटाकर) कमल श्रमणो जैसे सुशोभित हो रहे थे।

इस उदाहरण के 'रक्तच्छदत्वम्' मे पदभंग की आवश्यकता नही है।

---

१. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्। —अ० स० पृ० २१।

२. एवकारः शब्दपौनरुक्त्यावच्छेदद्योतकः। तेन शब्दस्यापौनरुक्त्यान्न शब्दालंकारो नाप्युभयालंकारोऽयम्। —वि० पृ० २१।

३. मम्मट तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त राजानक तिलक भी पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार मानते थे—उभयावलम्बनोऽयमलंकारः।
—विवृति, पृ० ३।

४. तत्रोदात्तादिस्वरभेदात् प्रयत्नभेदाच्च शब्दश्लेषः। यत्र प्रायेण पदभंगो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति अतएव न तत्र सभंगपदत्वम्।
—अ० स० पृ० १२३।

यहाँ श्लेष दो अर्थों (रक्त पत्र, रक्तांशुक) पर आश्रित है। उसके उच्चारण, प्रयत्न तथा स्थान में भेद नहीं है, अस्तु, यहा अर्थश्लेष है। इसे रुय्यक ने एक ऐसे वृन्त के समान कहा है जिसमें दो फल लगे हों।

अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्।
—अ० स० पृ० १२४।

चूंकि दोनों अर्थों की प्रतीति यहाँ एक शब्द या पद (रक्तच्छद) से होती है अत. चमत्कार अर्थ पर आश्रित है अस्तु, अभगश्लेष अर्थश्लेष है, अर्थालंकार है। 'अर्थभेदे शब्दभेदः' इस सिद्धान्त के अनुसार यह कहना कि यहाँ भी दो अर्थों के कारण दो शब्द हैं क्योकि एक शब्द तो एक ही अर्थ बताकर विश्रान्त हो जाता है—सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति—उचित नही है क्योकि जहाँतक स्वर, प्रयत्न तथा स्थान की दृष्टि से उच्चारण का प्रश्न है दोनो दशाओ मे शब्द एक ही रहता है। 'अर्थभेदाच्छब्दभेदः'—अर्थ भिन्न हो जाने से शब्द भिन्न हो जाता है—इस सिद्धान्त को अक्षरशः मानने पर तो अन्वयव्यतिरेकवादी के अर्थालंकार श्लेष में दो शब्द होगे और वह शब्दालंकार बन जाएगा। अस्तु, यह मानना चाहिए कि जहाँ शब्दभेद केवल औपपत्तिक हो (जैसे कि रक्तच्छदत्व आदि में) वहाँ अर्थश्लेष ही होगा पर जहाँ शब्दभेद प्रातीतिक है वहाँ शब्दश्लेष मानना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभाववादी रुय्यक तथा जगन्नाथ का यही मत है।

यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतेरेकतावसायान्नास्ति शब्दभेदः।
—अ० स० पृ० १२४।

तथा—

यद्यपि द्वितीयस्य (अभंगस्य) अपि प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेद इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वाद् परमुभयत्र 'हरि' इत्यानुपूर्वी एकैवास्ति। अतएवाभंगस्य शब्दद्वयवृत्तितासाधनं न सुशकम्। अन्यथा प्रत्यर्थं शब्दभेद इति नये पराभिमतो ऽर्थश्लेषोऽपि शब्दालंकार एव स्यात्। —रसग० पृ० ५३६-३७।

सभंग श्लेष को रुय्यक ने शब्दश्लेष कहा है पर क्या इतने से ही इसका परिगणन शब्दालकार में होना चाहिए ? मेरा विचार है 'नहीं'। सभगश्लेष में शब्द कारण होता है और शब्दचमत्कार या उसके खिलवाड़ की प्रतीति होती है पर प्रधानता अर्थ के चमत्कार की होती है। यही कारण है कि उद्भट आदि ने

इसे शब्दश्लेष कहकर भी अर्थालकार के प्रकरण मे रखा है। मम्मट ने इस पर यह आलोचना की है—

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कोऽयं नयः।
—का० प्र० (पूना), पृ० ५२७।

मम्मट द्वारा उद्भूट की यह आलोचना जो रुय्यक पर भी लागू होती है, उचित नही। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष मे श्लेष के विभाजन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि इनमे आशिक भेद है। इससे यह तात्पर्य नही कि ये शब्दालकार तथा अर्थालकार की विभिन्न कोटियो में आते है। दोनो का यह आशिक भेद स्पष्ट है कि अभगश्लेष में तो केवल एक ही शब्द होता है तथा उच्चारण, स्थान और प्रयत्न में एकता रहती है पर सभगश्लेष में पदभंग के कारण भिन्न शब्द बनते है। उनके उच्चारण आदि मे भी भेद होता है। पहले में शब्दभेद माना भी जाए तो वह केवल औपपत्तिक है, प्रातीतिक नही। पर दूसरे मे वह केवल औपपत्तिक ही नही अपितु प्रातीतिक भी है। अभगश्लेष में पद एक वृन्त के समान होता है जिसमें दो फलों की तरह दो पद श्लिष्ट होते है पर सभगश्लेष मे एक पद मे दूसरा शब्द इस तरह से चिपका रहता है जिस तरह लाख लकडी से भिन्न होती हुई भी उस पर चिपकी रहती है। पर लाख और लकडी की तरह दो शब्द भिन्न ही होते है। इस शब्दभेद के होने पर भी चमत्कार की प्राधान्येन प्रतीति अर्थ के कारण होती है अतः श्लेष को अर्थालकार की कोटि मे ही रखना उचित होगा।

आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार वक्रोक्ति भी अर्थालकार है, शब्दालकार नही। वक्रोक्ति से यहा हमारा अभिप्राय भामह, दण्डी तथा कुन्तक की वक्रोक्ति अर्थात् काव्य के व्यापक तत्त्व से नही अपितु अलकार विशेष से हैं जिसका सर्वप्रथम प्रतिपादन सभवत रुद्रट ने आरम्भ किया था। उन्होने अलकारो की गणना में इसे सर्वप्रथम स्थान दिया है।[2] नमिसाधु की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति के उदाहरण 'किं गौरि मा प्रति रुषा '(काव्यालकार २।१५) मे शब्दसमुदाय अलकार्य है।[3] अतः यह सोचना गलत न होगा कि रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति शब्दालकार है। रुद्रट का ही अनुसरण कर वक्रोक्ति का विवेचन करने वाले आचार्यों में

१. अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्। —अ० स० पृ० १२४।

२. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकम् × × × —काव्यालंकार, २।१३।

३. यथा 'किं गौरि मां प्रति रुषा' इति शब्दसमुदायोऽलंकार्य एव।
—नमिसाधु की काव्यालंकार २।१५ पर टीका।

मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र तथा विद्यानाथ आदि ने इसे शब्दालकार की कोटि में ही रखा है। पर वक्रोक्ति को शब्दालकार मानना उचित नही है। इस अलकार के प्रधानतया दो भेद हैं श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति। श्लेष अर्थालकार माना जा सकता है अत इस पर आधारित वक्रोक्ति भी अर्थालकार होगी। काकुवक्रोक्ति मे भी (जिसमे काकु[1] की सहायता से अन्यथा अर्थयोजना की जाती है) चमत्कार अर्थान्तरकल्पना में होता है। अत. अर्थतत्त्व पर आश्रित होने के नाते इसे भी अर्थालकार मानना चाहिए। रुय्यक तथा उनके अनुयायी शोभाकर, विद्याधर तथा विद्यानाथ ने इसीलिए इसे अर्थालंकार माना है।

चित्रालकार की औपचारिक शब्दालकारता

दण्डी ने गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र आदि का (तृतीय परिच्छेद मे) स्वरूप-निरूपण किया है। पर नमिसाधु के अनुसार चित्र को शब्दालकार के रूप में आचार्य रुद्रट[2] ने स्थान दिया है।

अन्यैरनुक्तं चित्रं शब्दालंकारमध्ये समुच्चीयते।

—नमिसाधु, २।१५।

अनेक कवि अर्थतत्त्व के सौन्दर्य को ओझल कर अपना बुद्धिव्यायाम संस्कृत की शब्दरचना में दिखाते रहे है। अत परवर्ती आलकारिको को इसका विवेचन अवश्य करना पड़ा। रुद्रट के अतिरिक्त भोज ने इसका सविस्तार निरूपण किया है। खगबन्ध, पद्मबन्ध, नागबन्ध, मुरजबन्ध आदि के आकार मे वर्ण-विन्यास चित्रालकार का लक्षण है। इसमे बन्धविशेष को दृष्टि मे रखकर लिपि-विशेष में लिखे हुए वर्णों की पाठपुनरुक्ति होती है, पर उसे सिद्धान्तत. शब्द की पुनरुक्ति नही कहा जा सकता अत इसे शब्दालकार कहना भी न्यायसगत नही है पर लिपि के अक्षर को श्रोत्रसमवायी शब्द की भाँति, सामान्य जन शब्द ही समझते हैं और साधारणतया लिपिवर्णों को देखकर यह प्रतीति भी होती है। अस्तु, शब्द की लिपि-वर्ण के साथ इस ऐकात्म्यप्रतीति को लेकर, औपचारिक

---

१. भिन्नकण्ठध्वनिनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।

२. रुद्रट ने इस अलंकार के अनेक भेद किए हैं। देखिए—काव्यालंकार ५।२-४। जयरथ ने अलंकारोदाहरण में मुरजबन्ध, पद्मबन्ध आदि अनेक भेदों का उपबृंहण किया है, जिसमें से कतिपय का संक्षिप्त निर्देश वि० में भी मिलता है।

रूप में चित्रालंकार को भी शब्दालंकार ही मानना चाहिए। रुय्यक का कथन है—

यद्यपि लिप्यक्षराणां खंगादिसन्निवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारोऽयम्।

—अ० स० पृ० ३०।

जयरथ रुय्यक के मन्तव्य को प्रकट करते हुए लिखते है—

औपचारिकोऽयं शब्दालंकार इति तात्पर्यार्थः। —वि० पृ० ३०।

इस प्रकार चित्र को प्राय सभी प्रमुख आचार्य, औपचारिक रूप से ही सही, शब्दालकार मानते आ रहे है पर वस्तुत इसे अलकार ही मानना उचित नही है क्योकि चित्र काव्य का अग नही बन सकता है। काव्य मे केवल दो तत्त्व हैं शब्द तथा अर्थ। इनमे शब्द स्वत साध्य न होकर साधन मात्र होता है, और इसका साध्य अर्थ की प्रतीति कराना होता है। पर जब शब्द (वह भी लिपिगत अक्षर) स्वत. साध्य बन जाता है तो वह अर्थ से असम्बद्ध हो जाता है और उसका अग नही रहता। चित्रालकार में केवल अक्षरविन्यास का खिलवाड होता है। वह शब्दचारुता जो अर्थचारुता का उपकार कर सके नही रहती हैं अत. भले ही पाठक का यह कुतूहल बन सके पर इसे अलकारकोटि में रखना उचित नही है। अच्छा हो यदि आलकारिक इसे अलकारक्षेत्र से बाहर ही रखें। सजीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने यह सलाह सही दी है कि कवियों को चित्रालकार के पचडे मे नही पडना चाहिए क्योकि यह केवल मोटी बुद्धि वालो को पसन्द आ सकता है, और फिर इसे सिद्धान्तत शब्दालंकार कहा भी नही जा सकता है।

अतः स्थूलबुद्धिलालनीयत्वाद् वाचकशब्दबहिर्भावाच्च नात्र कविभिरादरः कार्यः × × × × —सजी० पृ० ३७।

---

१. संजीविनी का उपर्युक्त स्थल पर व्याख्यान उल्लेखनीय है—

ननु कथमयं शब्दालंकारः लिपिसन्निवेशिनां वाचकत्वाभावादित्यत आह—यद्यपीत्यादि। खंगादिसन्निवेशो हि लिप्यक्षराणामेव न श्रोत्राकाशसमवायिनां, वाचकत्वं तु श्रोत्राकाशसमवायिनामेव न पुनर्लिपिसन्निवेशिनाम्। इत्थं च सति खंगादिबन्धगतानां यद्यपि वाचकशब्दालंकारता नोपपद्यते तथापि लौकिकानां लिप्यक्षरेष्वेव वाचकत्वप्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारत्वमुपचर्यत इति भावः। —संजी० पृ० ३६-३७।

इस सम्बन्ध में नि० का० संख्या ११ भी देखिए।

इस आधार पर विश्वनाथ का भाषासम अलंकार भी[1] परित्याज्य है, क्योंकि इसमें भी कवि का सारा बुद्धिव्यायाम विभिन्न भाषाओं में एक ही शब्दों के द्वारा वाक्य-निर्माण पर होता है, शब्दचमत्कार या अर्थचमत्कार की सृष्टि में नहीं।

इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक तथा (उपचारतः) चित्रालंकार शब्दालंकार की कोटि में आते हैं। रुय्यक तथा उनके अनुयायी इन चारो अलकारों को भिन्न-भिन्न मानते हैं।[2] पर कतिपय आलंकारिक छेक तथा वृत्त्यनुप्रास को एक ही अनुप्रास अलकार के दो भेद मानते हैं (छेकवृत्तिगतो द्विधा)। कुछ आलकारिक लाटानुप्रास (जो रुय्यक के अनुसार उभयालकार है) को भी अनुप्रास के अन्तर्गत मानते हैं—

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा। —भामहालकार, २।१८।

उद्भट ने इन तीनो को भिन्न माना है।[3] मम्मट ने लाटानुप्रास को तो भिन्न माना है किन्तु छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[4] विश्वनाथ ने इस विषय में मम्मट का अनुसरण किया है।[5] अनुप्रास के श्रुत्यनुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दो भेद और किए हैं।[6] इस तरह के अलकार मानना केवल छोटी-मोटी बात को लेकर अलकारों की अनावश्यक संख्या बढाना है। छेकानुप्रास लक्षण की दृष्टि से भिन्न है।[7] व्यजनमात्र की पुनरुक्ति के सामान्य

---

१. सा० द० पृ० ४८४।

२. देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० ३४१-३४२ तथा पृ० ३४५-३५०; एका० पृ० १८६-१८९; अ० र० पृ० ३-४।

३. देखिए—का० अ० सं० ३।१०।

४. का० प्र० (पूना), पृ० ४६४-४६८।

५. देखिए—सा० द० पृ० ४७४-७५।

६. वहीं, पृ० ४७६-७७।

७. छेकानुप्रास का लक्षण है 'संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः'—अ०स० पृ० २। श्रीविद्याचक्रवर्ती के शब्दों में संख्यानियम का अर्थ है—
युगमशोऽवस्थितानां व्यञ्जनसमुदायानां परस्परमनेकधा सादृश्यमिह संख्यानियमः। —सजी० पृ० ३०।
वृत्त्यनुप्रास इससे भिन्न है—अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः।—अ०स० पृ० २५।
दूसरे शब्दों में इनका भेद यह है—
अनियमेनैकद्वित्र्यादिव्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्याश्रितो वृत्त्यनुप्रासः।
—तरल, पृ० १६४।

रूप को लेकर उन्हें एक ही अलकार के दो भेद मानना उचित नहीं। रुय्यक ने इस सम्बन्ध मे उद्भट का अनुसरण कर[1] उन्हे भिन्न अलकार ही मानना उचित समझा है। मुझे भी यही मत समीचीन प्रतीत होता है, मम्मट तथा विश्वनाथ का नही। व्यजनपौनरुक्त्य के सामान्य लक्षण के आधार पर यदि छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को एक ही अलकार के दो भेद माना जा सकता है तो शब्द[2]-पौनरुक्त्य के सामान्य आधार को लेकर छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक को एक ही अलकार के तीन भेद क्यो न माना जाए ?

लाटानुप्राम में शब्द-तत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनो का चमत्कार समान रूप से रहता है। तात्पर्यभेद इसका जीवातु है।[3] इसी लिए इसे अनुप्रास का भेद नही माना जा सकता। इस दृष्टि से उन आचार्यों का[4] मत असमीचीन है जो इसे, सम्भवत· अनुप्रास के शब्दसाम्य को लेकर, अनुप्रास का एक भेदमात्र मानते हैं। रुय्यक के अनुसार लाटानुप्रास उभयालकार है।

उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः। —अ० स० पृ० २५५।

आदि शब्द से अन्य किन अलकारो को उभयालकार की कोटि में रखा जाए, यह विवादास्पद है। समुद्रबन्ध के अनुसार श्लिष्ट-परम्परित[5] आदि का ग्रहण होना चाहिए। श्लिष्टपरम्परित पद परम्परितरूपक के लिए आया है जिसमें श्लेष का योग होता है। उन्होने दूसरे व्याख्यानो का भी मत दिया है जिनके अनुसार समृष्टि और सकर के कुछ भेदो का ग्रहण उपर्युक्त आदि पद से होता है।[6] जयरथ का कहना है कि रुय्यक के अनुसार केवल लाटानुप्रास और श्लेष इन

१. यद्यपि चायं व्यंजनमात्रपौनरुक्त्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्य संभवादनुप्रास एवान्यैरन्तर्भावितस्तथापि ग्रन्थकृता उद्भटमतानुरोधादिह लक्षणं कृतम्। —वि० पृ० २४-३५।

२ शब्दपौनरुक्त्यं च व्यंजनमात्रनिष्ठतया स्वरव्यंजनसमुदायनिष्ठतया च द्विप्रकारम्। —सजी० पृ० ३०।

३. तात्पर्यभेद एव ह्यस्य जीवितम्। —वि० पृ० २८।

४. देखिए—भामहालंकार, २,८।

५. लाटानुप्रासादय इत्यत्रादिशब्देन श्लिष्टपरम्परितादयो गृह्यन्ते। —समुद्र० पृ० २२७।

६. केचित्तु आदिशब्देन शब्दालंकारमर्थालंकारं चाश्रितयोः संसृष्टिसंकरप्रकारयोर्ग्रहणमित्याहुः। —वही।

दो को ही उभयालकार माना जा सकता है अत. 'उभयालंकाराः' में बहुवचन की सगति ससृष्टि और सकर को ही उभयालकार मानकर लगाई जा सकती हैं।

ननु च लाटानुप्रासश्लेषयोरेवोभयालंकारत्वं पूर्वमुक्त्वा उभयालंकारा इति बहुवचननिर्देशः कथं संगच्छते संसृष्टेरुभयालंकारत्वं यथा × × ×
—वि० पृ० २५६ ।

श्रीविद्याचक्रवर्ती सजीविनी में उभयालकारो के विषय में मौन हैं पर सम्प्रदाय-प्रकाशिनी में उन्होने पुनरुक्तवदाभास, परम्परितरूपक, अर्थान्तरन्यास और अपह्नुति को उभयालंकार की श्रेणी में रखा है।

पुनरुक्तवदाभासः उभयपौनरुक्त्यं श्लिष्टशब्दं परम्परितरूपकं श्लेषं ताद्रूप्यारोपं चानुविधत्त इत्युभयालंकारौ, तथा हिशब्दहेतुकोऽर्थान्तरन्यासः छलादिशब्दहेतुका अपह्नुतिप्रभृतयश्चोभयभावाभावानुविधानादुभयालंकारा द्रष्टव्याः। —सं० प्र० पृ० ४२७-४२८ ।

वस्तुत अन्वय-व्यतिरेकवाद मानने से उन सभी अर्थालकारो को, जिनमे किसी शब्दविशेष की सहायता आवश्यक है, उभयालकार मानने के लिए बाध्य होना पडेगा। आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार इस कठिनाई के लिए अवकाश ही नही है क्योंकियदि चमत्कार अर्थ पर आश्रित है तो अपह्नुति(तृतीयभेद[1])या अर्थान्तर-न्यास (जिसमें 'हि' शब्द के प्रयोग या अप्रयोग से अलकार बनता है)[2] आदि को उभयालकार मानने का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार रुय्यक-सम्मत उभयालंकारो में लाटानुप्रास, श्लेष, ससृष्टि तथा सकर (जिनमें शब्दालकार तथा अर्थालकार का एकत्र समावेश हो) को रखा जा सकता है। रुय्यक के अलकारविवेचन की यह विशेषता है कि उन्होने अलकारो को क्रिया, प्रत्यय तथा व्याकरण के अन्य पेचीदे रूपो से यथासम्भव मुक्त रखा है। जहाँ कही किसी शब्दविशेष के प्रयोग की व्याख्या रुय्यक ने की है वहाँ यह विवेचन प्रत्यक्षत. या परोक्षरूप मे किया है कि कोई विशेष शब्द किसी अलकार का घटक नही है। अनेक अलंकारों के वे भेद जो किसी वैयाकरण-प्रयोग या 'हि' आदि के खिलवाड पर निर्भर है उन्हे रस का व्याघातक मानकर या सहृदय के हृदय का उद्वेजक

१. देखिए—अ० स० पृ० ३१ का ४५वां श्लोक।

२. ज्ञातव्य है कि यह भेद रुय्यक मानने को प्रस्तुत नहीं है—
हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात्। —अ० स० पृ० १३७ ।

घोषित कर रुय्यक ने उन्हें त्याज्य ही माना है। उदाहरण के लिए मम्मट ने उपमा के अनेक भेदो का व्याकरण की विशेषताओ आदि के आधार पर प्रतान किया था, शब्दालकारो के तो अनेक भेदोपभेद चले ही आ रहे थे पर रुय्यक ने जहाँ तक सम्भव हो सका है इन भेदो को अपनी मान्यता नही दी है। उन्होंने न केवल शब्दालकारो का विवेचन अत्यन्त सक्षेप रूप मे किया हैं अपितु अर्थालकारो के अनेक उद्वेजक भेदोपभेदो को भी छोड दिया है, उपमा के मम्मट-सम्मत अनेक भेदो को छोडने का भी यही रहस्य प्रतीत होता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

रुद्रट के पूर्व अलकारो के वर्गीकरण के मूलतत्त्वो पर विचार नही-सा जान पडता है। भामह तथा दण्डी ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति का तथा वामन ने औपम्य की महत्ता का गान वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर नही किया था। अलकारो के व्यापक तत्त्व की ओर इस निर्देश ने, यह अवश्य मानना होगा, अलकारो को वर्गश न सही पर किन्ही सामान्यतत्त्वो के अन्तर्गत रखने का दिशासकेत कर दिया था। रुद्रट मे पूर्व वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारो तत्त्वो के सम्बन्ध में व्यापक चर्चा हो चुकी थी। भामह **'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः'** का सिंहनाद कर चुके थे। दण्डी ने **'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्'** कहकर श्लेष की तथा **'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्'** कहकर स्वभाव (वास्तव) तथा वक्रोक्ति (अतिशय) की महिमा का पुन प्रचार कर दिया था। वामन का **'प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः'** (४-३-१) सूत्र रुद्रट को सुनाई पड ही रहा होगा। स्वाभाविक है कि वे पूर्वाचार्यों द्वारा अनेकधा निर्दिष्ट वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चार मूलतत्त्वों के अन्तर्गत अलकारो का श्रेणीविभाग बनाते। उन्होने किया भी यही।[1] रुद्रट ने शब्दालकार और अर्थालकार इन दो कोटियों में समग्र काव्यालकारो को विभाजित किया है। वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र इन पाँच अलकारो को शब्दालकार मे रखने की चर्चा हम इस अध्याय में कर आए हैं। रुद्रट के अर्थालकारो की सख्या ६८ है जिन्हे उन्होंने उपर्युक्त चार वर्ग वास्तव, औपम्य

---

१. **अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।**
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

—काव्यालकार, ७।६।

अतिशय तथा श्लेष के अन्तर्गत रखा है।[1] वास्तव वर्ग मे २३ अलकार, औपम्य वर्ग में २१, अतिशय में १२, तथा श्लेष मे दस अलंकार उन्होंने रखे हैं। इन ६६ अलकारो के अतिरिक्त सकर के दो अलकार-प्रकारो को उन्होंने अन्त में रखा है। नमिसाधु के अनुसार ६६ शुद्धालकार है और अन्तिम दो सकीर्ण के भेद हैं। अलकारो के वर्गीकरण का यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास था जिसका आधार वस्तुत भामह, दण्डी तथा वामन द्वारा निर्दिष्ट अलकार के मूल तत्त्व ही थे। प्रथम प्रयास का सदोष होना स्वाभाविक है। रुद्रट को भी श्रेणी-विभाग की इस अपूर्णता का भान रहा होगा नही तो उन्हे अनेक अलकारो को दो-दो वर्गों में क्यो रखना पडता। सहोक्ति और समुच्चय को उन्होने वास्तव तथा औपम्य इन दो वर्गों मे रखा है। विषम और हेतु को वास्तव तथा अतिशय की श्रेणियो मे तथा पूर्वालकार और उत्प्रेक्षा को औपम्य तथा अतिशय के वर्गों मे उन्होने रखा है।

इनके बाद ध्वनि का युग आ जाता है। अलकारों का विवेचन पृष्ठ-भूमि में पड जाता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति का विवेचन करने के साथ अलकारो

---

१. इनकी सूची काव्यालंकार में इस प्रकार है—

वास्तव : तस्य सहोक्ति-समुच्चय-जाति-यथासंख्य-भाव-पर्यायाः।
विषमानुमान-दीपक-परिकर-परिवृत्ति-परिसंख्याः॥
हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम्।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः॥
—७।११-१२।

औपम्य : उपमोत्प्रेक्षा-रूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः॥
उभयन्यास-भ्रान्तिमदाक्षेप-प्रत्यनीक-दृष्टान्ताः।
पूर्व-सहोक्ति-समुच्चय-साम्य-स्मरणानि तद्भेदाः॥
—८।२-३।

अतिशय : पूर्व-विशेषोत्प्रेक्षा-विभावना-तद्गुणाधिक-विरोधाः।
विषमासङ्गति-पिहित-व्याघाताहेतवो भेदाः॥ — ९।२।

श्लेष : अविशेष-विरोधाधिक-वक्र-व्याजोक्त्यसंभवावयवाः।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य॥—१०।२।

संकर : योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् संकर उत्पद्यते द्वेधा॥—१०।२५।

का विच्छित्तिमूलक स्वरूप-निरूपण किया है तथा उनके क्रमविवेचन के सम्बन्ध मे भी लिखा है पर वर्गीकरण के बारे में वे मौन है। उनका यह क्षेत्र भी नही था। भोज अलकारक्षेत्र में एक नवीन परम्परा के प्रवर्तक है। उन्होने अलंकारो को बाह्य, आभ्यन्तर, बाह्याभ्यन्तर, शब्दसंश्रय, अर्थसश्रय तथा शब्दार्थोभय-सश्रय श्रेणियो में बाटा है। यद्यपि आपातत. उनका विश्वास आश्रयाश्रयिभाव में मालूम पडता है पर अनेकत्र उन्होने अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अलकारो के शाब्द आदि होने का निर्णय किया है। मम्मट में शब्दार्थोभयविभाग की व्यवस्था तो अपेक्षाकृत वैज्ञानिक है किन्तु उन्होने श्रेणीविभाग तथा क्रमनिरूपण की कोई व्यवस्थित पद्धति नही अपनाई है। प्रो० चन्दोरकर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में डा०ए० वेन द्वारा मानसव्यापार(Operations of Intellect) के आधार पर[1] किए गए अग्रेजी अलकारो के श्रेणी-विभाग को दृष्टि में रखकर मम्मट-निरूपित अलकारो को विरोध सामीप्य तथा प्रत्यासत्ति के वर्गों में रखा है, जो अलकार इन वर्गों में न आ सके है उन्हे प्रकीर्ण के अन्तर्गत रखा गया है। इनके अतिरिक्त कतिपय अलकारो को विद्यानाथ के अनुसार शृखलामूल तथा तर्कन्यायमूल श्रेणियो में रख दिया है।[2] प्रो० गजेन्द्रगदकर ने काव्यप्रकाश की अपनी भूमिका में अलकारो के वर्गीकरण के लिए तीन मौलिक तत्त्व माने हैं— सादृश्य (analogy or similarity), विरोध (contrast, dissimilarity or opposition), तथा प्रत्यासत्ति (contiguity or association of ideas)। इन तीन आधारो के अनुसार उन्होने मम्मट के ३१ अर्थालकारो को वर्गीकृत किया है। शेष ३१ अर्थालकारो में से ४ को शृखला के अन्तर्गत, अन्य ५ को तर्क के अन्तर्गत तथा शेष २२ अलकारो को उन्होने प्रकीर्ण की कोटि मे रखा है। इन विभिन्न वर्गों मे आनेवाले अर्थालकारो को प्रो० गजेन्द्रगदकर ने अनेक उपवर्गों में बाटा है।

सादृश्य-तत्त्व के अन्तर्गत आनेवाले अलकारो की सख्या बीस है, जिन्हे तीन उपवर्गों मे बाटा गया है—

---

१. डा० बेन के अनुसार मानस की तीन वृत्तियाँ हैं। पहिली Discrimination, or Feeling of Difference, Contrast, Relativity के नाम से; दूसरी Similarity or Feeling of Agreement के नाम से; तथा तीसरी Retentiveness or Acquisition के नाम से अभिहित की गई हैं।

२. देखिए—वहीं, भूमिका पृ० ७-८।

१. उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय ।

२. ससन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान् ।

३. प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना, दीपक और तुल्ययोगिता, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा (पाँचवा भेद), सामान्य और मीलित, प्रतीप और व्यतिरेक ।

विरोध-तत्त्व के अन्तर्गत आनेवाले अलकारो की सख्या दस है । इन्हे दो उपवर्गों के अन्तर्गत इस प्रकार विभाजित किया गया है—

१. विरोध, विषम (प्रथम भेद), अधिक, विशेष, व्याघात ।

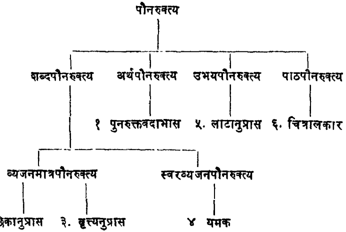
२ अतिशयोक्ति (चतुर्थ भेद), विभावना, विशेषोक्ति, असगति, अतद्गुण ।

प्रत्यासत्ति-तत्त्व के अन्तर्गत वर्गीकृत होने वाले अलकार केवल तीन है—अप्रस्तुतप्रशसा (प्रथम से चतुर्थ भेद तक), सूक्ष्म तथा स्मरण । प्रत्यासत्ति का तत्त्व अतिशयोक्ति (प्रथम से तृतीय भेद तक), अप्रस्तुतप्रशसा (पाँचवा भेद), और समासोक्ति में भी पाया जा सकता है, जिन्हें यहा सादृश्य के अन्तर्गत रखा गया है । काव्यप्रकाश में न तो इस वर्गीकरण का कोई सकेत है और न तदनुसार अलकारो का क्रम ही है । अत इसमें तो कोई सन्देह नही है कि मम्मट इस मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण से परिचित नही थे । वस्तुतः रुद्रट द्वारा वर्गीकरण का आधार प्रस्तुत करने के बाद भी मम्मट ने अव्यवस्थित एव अवैज्ञानिक रूप में ही अलकारो का क्रम रखा है, भामह और दण्डी की भाँति ही वर्गीकरण और क्रम की किसी पद्धति को अपनाए विना ही मम्मट ने अलकारमीमासा प्रस्तुत की है। रुद्रट के बाद मम्मट के लिए यह स्वाभाविक और आवश्यक था कि वे वर्गीकरण की व्यवस्था देते पर उन्होने ऐसा नही किया ।

मम्मट के तरुण समकालीन रुय्यक ने अलकारशास्त्र की इस आवश्यकता को यथासभव दूर किया है । अलकारो के वर्गीकरण के मूलाधार, रुय्यक के अनुसार, सादृश्य, विरोध, शृंखलाबन्ध, तर्कन्याय, लोकन्याय, गूढार्थ-प्रतीति, तथा चित्तवृत्ति हैं । रुय्यक के अनुसार अलकारो को प्रथमत. शुद्ध तथा मिश्र इन दो भागो में बाटा जा सकता है । उन्होंने शुद्धालंकारों को आठ प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है । ये हैं सादृश्याश्रय, विरोधमूल, शृंखलाबन्ध, तर्कन्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिपर, तथा चित्तवृत्ति पर आश्रित । इन प्रमुख वर्गों को उन्होने विभिन्न उपवर्गों में भी विभाजित किया है । रुय्यक ने कतिपय

अलंकारों (जिसमे शब्दालंकार ही प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं) का वर्गीकरण पौनरुक्त्य के आधार पर किया है[1] जो निम्नांकित तालिका में दिया जा रहा है—

पौनरुक्त्य वर्ग के अलंकार



चित्रालकार को मैंने पाठपौनरुक्त्य के आधार पर पौनरुक्त्य के अन्तर्गत ही सम्मिलित करना उचित समझा है। चित्रालकार की व्याख्या मे रुय्यक का यह कथन 'पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्' इस ओर सकेतवाक्य है। इस प्रकार पौनरुक्त्य के अन्तर्गत ६ अलकार आते हैं। 'तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः' यह सूत्र चित्रालकार की औपचारिक अलकारता के कारण इसे अलकारो में सम्मिलित न करने के लिए लिखा गया था अत. चित्रालकार को छोड कर शेष अलकारो की सख्या का ही निर्देश रुय्यक ने उपर्युक्त सूत्र में किया है।

अर्थालकारों के वर्गीकरण का प्रथम आधार सादृश्य है। सादृश्य

१. तत्र पुनरुक्तवदाभासोऽर्थस्य पौनरुक्त्ये, छेकवृत्त्यनुप्रासौ व्यञ्जनमात्रस्य, यमकं स्वरव्यंजनसमुदायस्य, लाटानुप्रासः शब्दार्थयोरिति पौनरुक्त्ये पंचकम्। स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्ये चित्रम्। —संजी० पृ० २२२-२२३।
तथा देखिए—
'तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः' इस सूत्र पर वि० पृ० ३०।

तीन प्रकार का होता है[1]—भेदाभेदतुल्य, अभेदप्रधान तथा भेदप्रधान। जब दो पदार्थों मे कुछ तो भेद के तत्त्व हो और कुछ अभेद के[2] और दोनों का ही समान रूप से अभिधान अभीष्ट हो तो उसे भेदाभेदप्रधान कहेगे। जब दो समान पदार्थों मे किसी प्रकार का भेद दिखाकर कवि उन्हे एक बताता है, तो कवि-विवक्षा की इस स्थिति मे आनेवाले अलंकारो को अभेदप्रधान कहा जा सकता है। भेदप्रधान अलकार उन्हे कहेगे जिनमे दो पदार्थों को सदृश बताने की इच्छा से उन दोनो की भिन्नता या परस्पर अपेक्षा प्रकट की जाए। यह त्रिविध सादृश्य अभिधान की दृष्टि से अनेक रूपो मे व्यक्त किया जा सकता है। आरोप, अध्यवसाय, गम्यमानौपम्य, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, विशेषण-विच्छित्ति तथा विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति इसे व्यक्त करने के प्रमुख उपाय है। रुय्यक ने भेदाभेदतुल्य अलकारों की सूची में उपमा, अनन्वय, उमेयोपमा तथा स्मरण इन चार अलकारो को रक्खा है।[3] अभेदप्रधान अलकारो मे अभेद की अभिव्यक्ति आरोप तथा अध्यवसाय के द्वारा की जा सकती है। आरोपगर्भ अलकारो मे रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को सम्मिलित किया गया है। आरोपगर्भ अलकारो की गणना के बाद अध्यवसाय के दो भेद किए गए है—साध्य तथा सिद्ध। विषयी द्वारा विषय के निगरण की प्रक्रिया जब व्यापारावस्था में रहती है तो उसे साध्य अध्यवसाय कहा जाता है। जब विषयी विषय का सर्वथा निगरण कर लेता है तो उसे सिद्ध अध्यवसाय कहते है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य होता है और अतिशयोक्ति में सिद्ध। भेदाभेदतुल्य तथा अभेदप्रधान अलकारों का वर्गीकरण करने के बाद रुय्यक ने साधर्म्य के तीसरे भेद भेदप्राधान्य के बारे में कुछ न कहकर गम्यमान औपम्य पर आश्रित अलकारो का निरूपण प्रारम्भ किया है।[4] इस श्रेणी मे

---

१. साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्, अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत्। द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् (उपमायाम्)।—वही, पृ० ३१।

२. यत्र किंचित् सामान्य कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः।

३. तदेते सादृश्याश्रयेण भेदाभेदतुल्यत्वेनालंकाराः निर्णीताः।—वही, पृ० ४३।

४. वर्गीकरण सम्बन्धी प्राकरणिक पंक्तियों का क्रम सर्वस्व में निम्न-लिखित है—

(क) एवमध्यवसायाश्रयमलंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते, तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन··· ·· —पृ० ८६।

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि जैसे अलंकार सम्मिलित किए गए है। इन अलकारो के स्वरूप पर विचार करने से इतना तो स्पष्ट है कि इनमे रूपक और परिणाम की भाँति अभेद की प्रधानता नही होती। **मुखमेव चन्द्रः** कहने पर कवि मुख और चन्द्र को आरोप के द्वारा कल्पना-जगत् मे एक बना देता है। मुख के लिए **'कमलम्'** कहने पर अतिशयोक्ति के उदाहरण में अभेदप्रधानता की यह बात और भी स्पष्ट है। तुल्ययोगिता के **'ग्रम्यां प्रावृषि मुखं चन्द्रबिम्बं च विच्छायम्'** अथवा **'भुवि मुखं दिवि चन्द्रः'** दृष्टान्त के इस उदाहरण में सादृश्य का विधान है, उसके लिए कोई शब्द साक्षात् उपात्त नही है अत वह सादृश्य गम्यमान भी है पर इसमें अभेदप्रधानता तो समझ में नही आती। **'चन्द्रादधिकं मुखं मुखादधिकश्चन्द्रः'** व्यतिरेक के इस उदाहरण की भाँति, तुल्ययोगिता या दृष्टान्त के उदाहरणो मे भेदप्राधान्य भी नही है। रुय्यक ने भेदप्रधान अलकारो का निरूपण भी व्यतिरेक के साथ आरम्भ किया है।[1] विद्यानाथ ने तुल्ययोगिता से लेकर सहोक्ति तक के अलकारो को भेदप्रधान श्रेणी में रखा है।

दीपकतुल्ययोगितादृष्टान्तनिदर्शनाप्रतिवस्तूपमासहोक्तिप्रतीपव्यतिरेकाः भेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनाः। —प्रताप० पृ० ३३८।

इसमे केवल प्रतीप को सादृश्याश्रय अलंकारों मे रुय्यक ने सम्मिलित नही किया है; और वे भेदप्रधान अलकारो मे व्यतिरेक तथा सहोक्ति इन दो अलकारो को ही रखते हैं। व्यतिरेक मे भेद का स्पष्ट कथन रहता है[2] पर सहोक्ति मे भेद का प्राधान्य वस्तुत शाब्द ही होता है, आर्थ नही। सादृश्य मे पर्यवसित होने के नाते इनमे भी प्रतीति भेदाभेदतुल्यता की ही होती है।

एवं तुल्यप्रधानभावनिमित्तकं भेदप्राधान्यमपि शाब्दमेवात्र ज्ञेयम्। वस्तुतो हि सादृश्यस्यैव पर्यवसानात् भेदाभेदयोस्तुल्यत्वेनैव प्रतीतिः। तस्माच्छाब्दमेव भेदप्राधान्यमाश्रित्येहास्या वचनम्। —वि० पृ० १०३।

(ख) **अधुना भेदप्राधान्येनालंकारकथनम्।** —पृ० १०१।

(ग) **अधुना विशेषणविच्छित्त्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते। तत्रादौ विशेषणसाम्यावष्टम्भेन समासोक्तिमाह।** —पृ० १०७।

१ देखिए—अ० स० पृ० १०१।

२ विमर्शिनी का इस सम्बन्ध में कथन उल्लेख्य है—

भेदस्य चात्र प्राधान्यादभेदस्य वस्तुतः सद्भाव. सादृश्ये एव पर्यवसानात्। —वि० पृ० १०२।

इन अलकारों के बाद विनोक्ति से लेकर आक्षेप तक के समग्र अलकारो मे उपमानोपमेयभाव गम्यमान ही रहता है अतः उन्हे भी गम्यमानौपम्याश्रय की श्रेणी में रखा जा सकता है। पर उन सभी में भेदप्रधानता खोज निकालना कठिन है। इस तरह हमारे सामने दो कठिनाइयां है एक तो यह कि अभेद-प्रधान अतिशयोक्ति के बाद और भेदप्रधान व्यतिरेक के पूर्व गम्यमानौपम्याश्रय अलकारो—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना – का निरूपण करने के नाते क्या इन अलकारो को अभेदप्राधान्य वाली श्रेणी के अन्तर्गत रखना रुय्यक को अभीष्ट है? दूसरी यह कि भेदप्रधान सहोक्ति के बाद विनोक्ति से लेकर आक्षेप तक के अलकारो को क्या भेदप्राधान्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है? जैसाकि पहले लिखा जा चुका है सर्वस्वकार ने साधर्म्य या सादृश्य के तीन भेद माने है उनके किन भेदो के अन्तर्गत (१) गम्यमानौ-पम्याश्रय अलकार (तुल्ययोगिता से निदर्शना तक), (२) विनोक्ति, (३) विशेषणविच्छित्ति पर आश्रित समासोक्ति तथा परिकर, (४) विशेषणविशेष्य की विच्छित्ति पर आश्रित श्लेष (५) अप्रस्तुतप्रशसा, (६) अर्थान्तरन्यास, (७) पर्यायोक्त, (८) व्याजस्तुति और (९) आक्षेप को रखा जाए? श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इन अलकारो का श्रेणीविभाग इस प्रकार किया है—

अथ सादृश्यविच्छित्तौ भेदाभेदतुल्यतायामुपमा × × × × अभेदप्राधान्ये आरोपाश्रयतया रूपकं × × × × अध्यवसायाश्रयेणोत्प्रेक्षातिशयोक्ती, गम्यमानौपम्याश्रेण तुल्ययोगितादीपकप्रतिवस्तूपमादृष्टान्तनिदर्शनाव्यतिरेकसहोक्ति-विनोक्तयः, विशेषणविच्छित्त्या समासोक्तिपरिकरौ, विशेषणविशेष्यविच्छित्त्या श्लेषः, अप्रस्तुतात्प्रस्तुतावगतावप्रस्तुतप्रशंसा, सामान्यविशेषभावादिना निर्दिष्ट-प्रकृतसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासः गम्यस्य भङ्ग्यन्तरोक्तौ पर्यायोक्तं, स्तुत्या निन्दया वा स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः, प्राकरणिकयोर्विशेषार्थं निषेधाभासे चाक्षेपः × × ×

—सजी० पृ० २२४।

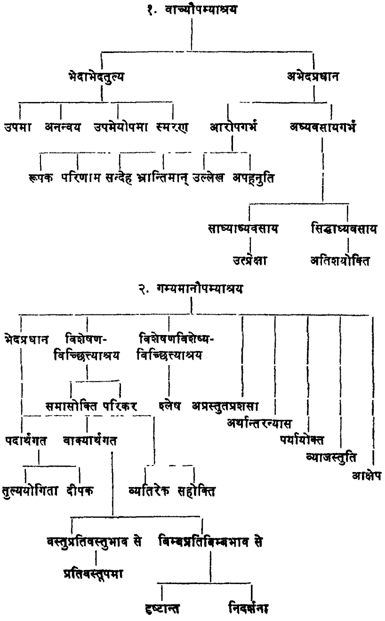
सजीविनी के इस उद्धरण का विश्लेषण करने पर दो बातें स्पष्ट होती है। एक तो यह कि श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भेदप्रधान शब्द हटा दिया है, दूसरी यह कि अनेक अलकारो को (अर्थान्तरन्यास से लेकर आक्षेप तक) प्रकीर्ण के रूप मे रख दिया गया है। व्यतिरेक और सहोक्ति को उन्होंने गम्यमानौपम्याश्रय अलंकार में ही रख लिया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रुय्यक सादृश्य पर आश्रित अलकारो को साधर्म्य के त्रिविध विभाग के अतिरिक्त वाच्य औपम्य तथा गम्य औपम्य की दो श्रेणियों में बांटना चाहते हैं। उपमा से लेकर अतिशयोक्ति

तक के अलंकार तो प्रथम श्रेणी मे आते हैं और तुल्ययोगिता से लेकर आक्षेप तक के अलंकार दूसरी श्रेणी में। उनका गम्यमानौपम्य से अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें आनेवाले अलकार व्यग्य होते है। रुय्यक का अभिप्राय सम्भवत: यह है कि अतिशयोक्ति तक तो हम प्रकृत वस्तु (जैसेकि मुख) की चारुता का वर्णन साक्षात् करते जाते हैं, कही 'इव' का सहारा लेकर और कहीं नहीं भी पर अतिशयोक्ति तक कवि का उद्देश्य वर्णनीय को सुन्दर वस्तु के साथ समान या अभिन्न बताने से रहता है, और वह भी साक्षात्। उपमान और उपमेय वहा स्पष्ट मालूम पडते हैं। पर तुल्ययोगिता से लेकर आक्षेप तक के अलकारों मे प्रकृत और अप्रकृत का यह उपमानोपमेयभाव स्पष्ट नही हो पाता। जहा केवल प्रकृत का या अप्रकृत का वर्णन होगा वहां यह गम्य उपमानोपमेयभाव वैवक्षिक होगा क्योंकि वास्तविक उपमानोपमेयभाव तो वही हो सकता है जहा एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत हो। इस प्रकार इव आदि का प्रयोग न होने कारण इन्हे गम्यमानौपम्याश्रय अलकार कहा जाता है।[1] विद्यानाथ के अनुसार इस वर्ग के अलकारो में से कुछ को तो भेदप्रधान वर्ग में स्पष्टत रखा जा सकता है और शेष मे भेदादि की प्रधानता का विचार प्रत्येक अलकार को दृष्टि में रखकर पृथक् रूप से किया जाना चाहिए। यद्यपि ये सभी अलकार सादृश्याश्रित हैं पर उन्हे स्पष्टत तीन कोटियो में से एक मे रखने की आवश्यकता नही है। इस प्रकार सादृश्याश्रय अलकारो को हम प्रथमत दो कोटि में बांट सकते हैं एक तो वाच्य औपम्य पर आश्रित और दूसरे गम्यमान औपम्य पर आश्रित। प्रथम कोटि मे उपमा से लेकर स्मरण तक के अलकार (जिनमें भेद तथा अभेद की समान प्रधानता रहती है) तथा रूपक से लेकर अतिशयोक्ति तक के अलकार (जिनमे अभेद की विधा प्रधान होती है) सम्मिलित होगे। दूसरी कोटि में भेदप्रधान अलकार तथा समासोक्ति से लेकर आक्षेप तक के अलंकार सम्मिलित होगे। वस्तुत अप्रस्तुतप्रशसा से लेकर आक्षेप तक के पाँच अलंकारों को रुय्यक गम्यमान औपम्य की श्रेणी में रखना अभीष्ट समझते थे या नहीं, यह निश्चत रूप से कह पाना सभव नही है। उन्होने इन पाँच अलकारों के लिए यद्यपि किसी सामान्य तत्त्व का निर्देश नही किया है तथापि जैसा कि हम पहले सकेत कर आए हैं इनको भी सादृश्यमूलक वर्ग के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा।

---

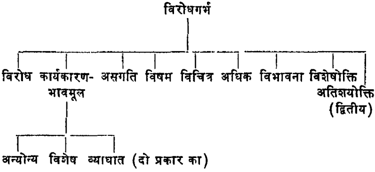
१. तत्रैवाप्रयोगादुपमानोपमेयभावो गम्यमानः। —अ० स० पृ० ६१। तथा देखिए—समुद्र० पृ० ६६, ६८।

सादृश्याश्रय वर्ग के अलंकार



यद्यपि विनोक्ति को गम्यमान औपम्य पर आश्रित बताना सम्भव नहीं है पर सजीविनी ने स्पष्टतः उसे इसी वर्ग में रखा है। मल्लिनाथ भी **'औपम्यगर्भत्वमाम्याद् विनोक्त्यनन्तरं समासोक्तिमाह'** (तरल, पृ० २५३) से इसी बात का समर्थन करते है। रुय्यक, जयरथ अथवा समुद्रबन्ध ने इसे गम्यमान औपम्य पर आश्रित मानने का कोई निर्देश नही दिया है। अस्तु, हमने विनोक्ति को इस वर्ग में न रखकर लोकन्यायमूल अलंकारों के वर्ग में रखना अधिक उचित समझा है।

इसके बाद दूसरा वर्ग विरोधगर्भ अलंकारों[1] का है जिनका सकलन निम्नलिखित तालिका मे है—



विद्यानाथ ने अतद्गुण, विशेष तथा भाविक को तथा प्रो० चन्दोकर ने प्रथम दो तथा परिसख्या, उत्तर (द्वितीय) और अतिशयोक्ति (द्वितीय तथा चतुर्थ भेद) को विरोधगर्भ की श्रेणी में माना है। रुय्यक ने सम अलकार का निरूपण तो अवश्य विरोधगर्भ अलकारों के साथ किया है पर इसे इस वर्ग में नही रखा सकता है। समुद्रबन्ध की व्याख्या इस सम्बन्ध मे स्पष्ट है—

विरोधगर्भालंकारमध्ये अतादृशमपि समं विषमप्रसंगेन लक्षयित्वा पुनर्विरोधमूलत्वेन प्रकरणसंगतं विचित्रं लक्षयति। —समुद्र० पृ० १४६।

भाविक और विशेष को विरोधगर्भ अलंकार के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है। इस अश मे विद्यानाथ का वर्गीकरण सदोष है। जहाँतक अतद्गुण का प्रश्न है उसे अवश्य विरोधगर्भ अलकारो में रखा जा सकता है।

---

1 **अधुना विरोधगर्भोऽलंकारवर्गः प्रक्रियते।** —अ० स० पृ० १४५।

विभावना, विषम तथा विशेषोक्ति के साथ इसका काफी साम्य है। अलकार-सारकार ने (विमर्शनी के अनुसार[१]) इसका अन्तर्भाव भी विशेषोक्ति में ही करना उचित समझा था। परिसख्या अलंकार में मीमासा का वाक्यन्याय प्राप्त होता है तथा उत्तर (द्वितीय) मे लोकन्याय अस्तु, उन्हे क्रमश वाक्यन्यायमूल तथा लोकन्यायमूल अलकारो के वर्ग में ही रखना उचित है।

शृखलाबन्ध पर आश्रित[२] तीसरे वर्ग में कारणमाला, एकावली, माला-दीपक तथा सार अलकारों का सग्रह किया गया है।[३] शृखलाबन्ध का अर्थ है साकल की भाँति एक के बाद दूसरी वस्तु का क्रम से ग्रथन—

शृंखलाबन्धो नाम शृंखलावदुत्तरोत्तरग्रथितत्वेन निबन्धः।

—समुद्र० पृ० १५७।

विद्यानाथ ने भी उपर्युक्त अलकारो को ही इस वर्ग मे सम्मिलित किया है।[४]

चतुर्थ वर्ग तर्कन्यायमूल में दो अलकार आते है—काव्यलिंग तथा अनुमान।[५] विद्यानाथ ने अर्थान्तरन्यास को इसी वग मे रखा है। किन्तु रुय्यक ने इसे सादृश्याश्रित अलकारो के अन्तर्गत रखना उचित समझा था। डा०पी० के गोडे ने वर्गीकरण के मनोवैज्ञानिक आधार पर इसे सादृश्याश्रित अलकार सिद्ध किया है।[६] बाद में श्री ए० एस० भण्डारकर ने इसे तर्कन्यायमूल मे ही रखने की वकालत की।[७] मै रुय्यक के मत को ठीक समझता हूँ क्योकि अर्थान्तर-न्यास के सामान्य और विशेष मे समष्टिगत तथा व्यष्टिगत एकरूपता का

---

१. अत एवालंकारसारकृता विशेषोक्त्यन्तर्भाव एवोक्तः।—वि० पृ० २१५।

२. एवं विरोधमूलानलंकारान्निर्णीय शृंखलाबन्धोपचिता अलंकारा लक्ष्यन्ते।
—अ० स० पृ० १७६।

३. शृंखलावैचित्र्येण कारणमालैकावलीमालादीपकसाराः।—सजी०पृ० २२४।

४. देखिए—प्रताप० पृ० ३३६।

५. अधुना तर्कन्यायाश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते।

६. देखिए—Classification of Alaṅkāras, Annals B. O R. I. खण्ड २, १६२१, पृ० ६६-७२।

७. देखिए—Annals B.O.R.I., खण्ड २, पृ० १६१-६६।

प्रतिबिम्बन होता है ।[1]

तर्कन्यायाश्रय श्रेणी के बाद वाक्यन्यायमूल[2] के वर्ग में यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय तथा समाधि का सकलन है। दूसरे आचार्यों के सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित आदि अनेक नवीन अलकारो को इसी वर्ग में सम्मिलित करना चाहिए। पर्याय, परिवृत्ति तथा समाधि नामक अलकारों को इस वर्ग मे रखना उचित नही है क्योकि उनमे वाक्यकृत कोई चारुता नही होती है। रुय्यक ने पर्याय तथा परिवृत्ति का इस वर्ग मे सकलन क्रम तथा क्रमप्रतिभास की समानता को लेकर किया है। यथासख्य में प्राग्निर्दिष्ट वस्तुओ का पश्चात् निर्दिष्ट वस्तुओ के साथ क्रमेण सबंध होता है। यह क्रमव्यवस्था पर्याय मे स्पष्टत: मिलती है और परिवृत्ति में उसका आभास रहता है। समुच्चय और समाधि मे तत्करत्व का समान न्याय है इसलिए समाधि को इस वर्ग मे रखा गया है। कभी अलकार के बाह्य रूप और उसके अभिव्यक्तिमाध्यम के ढाचे के आधार पर, और कभी अर्थ के आधार पर किसी वर्गविशेष मे अलकार को रख दिया जाता है। पर्याय तथा परिवृत्ति में इसी बाह्य रूप का साम्य है। समाधि को इस वर्ग में रखने का कारण है इसमे और समुच्चय (द्वितीय) में पाया जाने वाला तत्करत्व का समान तत्त्व। यदि सिद्धि के लिए कोई एक पर्याप्त है और उसी की सिद्धि-साधना मे दूसरा भी स्पर्धा से योग देने लगता है तो समुच्चय (द्वितीय) माना जाता है।[3] समाधि मे एक कारण दूसरे कारण की सहायता से कार्य को सुकर बना देता है।[4] यह सुकरता उपर्युक्त दोनों अलकारों का समान तत्त्व है। इस सुकरता की अभिव्यक्ति शब्दो के विशेष क्रम से की जाती है इसीलिए सम्भवत: रुय्यक ने इसे वाक्यन्यायमूल वर्ग में रखा है।

इसके बाद लोकन्यायमूलक वर्ग है। रुय्यक ने इसमें प्रत्यनीक, प्रतीप, निमीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर का सग्रह किया है। लोक-व्यवहार में प्रचलित प्रयोग या लोकप्रसिद्ध न्याय पर आधारित अलकार इसमे

---

१. देखिए—डा० द्विवेदी : मेघदूत के अर्थान्तरन्यास, साहित्यालोचन, अंक १, पृ० ३५-४१ ।

२. अधुना वाक्यन्यायमूला अलंकारा उच्यन्ते। —अ० स० पृ० १८७।
वाक्यन्यायो मीमांसान्यायः। —समुद्र० पृ० १६५।

३. एकस्य सिद्धिहेतुत्वे अन्यस्य तत्करत्वं च। —अ० स० पृ० २०२।

४. कार्यान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। —अ० स० पृ० २०८।

रखे गए हैं। यह लोकन्याय है—दुनिया में यह न्याय समझा जाता है अन्याय नही अथवा दुनिया की यह रीति है कि यदि शत्रु बलवान् है और उसको हानि पहुंचाना सम्भव नही है तो उसके सम्बन्धियों को ही सताया जाए। विनोक्ति को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है क्योंकि उसमें शोभन या अशोभन की चर्चा लोकदृष्टि पर आधारित होती है। अतद्गुण को विद्यानाथ ने विरोधमूल में रखा है। यह मुझे भी अभिमत है। प्रतीप औपम्यजीवित है।[1] पर इसके रूप-विधान में लोकप्रचलित प्रयोग किए जाते हैं अतः इसे इस वर्ग में रखना अनुचित न होगा।

लोकन्यायमूल अलंकारो के बाद सर्वस्वकार ने वर्गीकरण की दृष्टि से लिखा है—

इतः प्रभृति गूढार्थप्रतीतिपरालंकारलक्षणम्। —अ० स० पृ० २१७।

यह वाक्य उत्तरालकार के बाद तथा सूक्ष्मालकार के पूर्व आया है, स्वभावत. गूढार्थप्रतीतिपर अलकारों की श्रेणी का इसी सूक्ष्म अलकार से प्रारम्भ मानना चाहिए,[2] उत्तर अलंकार से इस वर्ग का प्रारम्भ मानना अन्यथा भी उचित न होगा।

ससृष्टि अलकार से पूर्व और भावशवलता के बाद—तदेते चित्तवृत्ति-गत्वेनालकाराः दर्शिताः (पृ० २४०), वर्गीकरण का सूचक यह वाक्य आया है। समुद्रबन्ध ने 'तदेते' का अर्थ यह दिया है—रसवत्प्रभृतयो भावशबलतापर्यन्ताः (पृ० २१४)। अन. रसवदलकार के पूर्व तथा उत्तरालकार के बाद से समग्र अलकारो को गूढार्थप्रतीतिपर वर्ग का मान लेने पर उसकी सूची यह होगी—

गूढार्थप्रतीतिपर

सूक्ष्म | व्याजोक्ति | वक्रोक्ति | स्वभावोक्ति | भाविक | उदात्त (दो)

१. देखिए—वि० पृ० २०८।

२. समुद्रबन्ध ने (पृ० १६४) मूल ग्रन्थ के 'इतः प्रभृति' इन शब्दों की 'उत्तरादारभ्य' यह व्याख्या की है। इस प्रकार समुद्रबन्ध के अनुसार उत्तर अलंकार को गूढार्थ-प्रतीति के वर्ग में ही रखना चाहिए किन्तु उसे इस वर्ग में रखने का कोई औचित्य नहीं है, टीकाकार ने स्वयं भी कोई कारण नहीं दिया है। यदि 'उत्तरादारभ्य' का अर्थ उत्तर के बाद से लेकर, यह किया जा सके तो टीकाकार के कथन की संगति संभव है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अन्तिम दो अलकारो का पृथक् परिगणन किया है—
गूढार्थपरत्वे सूक्ष्मव्याजोक्तिवक्रोक्तिस्वभावोक्तयः । स्फुटार्थत्वे भाविकम्, औदार्येणोदात्तद्वयम् । —सजी० पृ० २२५ ।

व्याजोक्ति तथा वक्रोक्ति जैसे अलंकारो के साथ स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त को रखने का औचित्य, गूढार्थप्रतीति पद की व्याख्या पर निर्भर है। सूक्ष्मालकार मे ऐसा अर्थ छिपा होता है जिसे स्थूल बुद्धि का व्यक्ति नही भाप सकता, व्याजोक्ति मे छिपाने के योग्य (निगूढ) बात प्रकट होने से किसी प्रकार बचा ली जाती है। पहले में अर्थ की सूक्ष्मता निगूढ होने का कारण है तो दूसरे में वस्तु स्वय निगूढ होती है और इसकी निगूढता व्याज-वचन से बचाई भी जाती है। वक्रोक्ति मे निगूढार्थ इसी अर्थ मे माना जा सकता है कि इसमे एक शब्द को दो व्यक्ति दो तरह से समझते है; वक्ता का अपना अर्थ श्रोता के लिए निगूढ होता है, निगूढ कदाचित् न भी हो तो श्रोता उसे अपनी ओर से निगूढ बना देता है। स्वभावोक्ति मे निगूढार्थ से अभिप्राय है वस्तु का ऐसा स्वभाव जिसे जनसाधारण नही देख पाता कवि ही देख पाता है[1] और फिर उस निगूढार्थ की प्रतीति सहृदय को ही हो पाती है। भाविक का वर्ण्य विषय अतीत या भविष्य (वर्तमान का नही) का वृत्त या चरित्र होता है स्वभावतः वह निगूढ है। उदात्त मे कविकल्पित अर्थ होता है जो आरोपित होता है, सहज नही। इसप्रकार निगूढ शब्द का विभिन्न अर्थों मे यहाँ प्रयोग किया जाता है। प्रतीति का अर्थ सूक्ष्मालकार के प्रकरण मे प्रकाशन है, व्याजोक्ति मे प्रक्षेप और वक्रोक्ति मे उसीका अर्थ योजना है। स्वभावोक्ति और भाविक में प्रतीति का अर्थ अनुभूति और उदात्त मे ज्ञान होगा।

ध्वनिकार ने रस आदि को चित्तवृत्ति का विभिन्न रूप माना है—**चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः**। सम्भवतः इसी आधार पर रुय्यक ने चित्तवृत्ति-गत के रूप में एक नवीन श्रेणी बनाई है। इसमे रसवान्, प्रेयान्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता इन अलकारो का परिगणन[2] किया गया है।

---

१. सूक्ष्मः कवित्वमात्रस्य गम्यः ।

२. ध्वन्या०, पृ० ४७३ ।

वर्गीकरण का समीक्षण

शुद्ध तथा मिश्र अलंकारो में से प्रथम को सामान्यत दो श्रेणियो में बाट सकते हैं—वस्तुमूलक तथा चित्तवृत्तिमूलक । उपमा से लेकर उदात्त तक के समग्र अलकार वस्तुमूलक हैं। कवि के लिए समग्र सूक्ष्म तथा स्थूल जगत् वस्तु है, प्रकृत है, वर्ण्य है, उपमेय है, भले ही उसे कभी वह अप्रकृत या उपमान कहकर पुकारे। उदात्त में महापुरुष के चरित का, उसके मन और हृदय की श्रेष्ठता का वर्णन होता है अत रुय्यक सम्भवत. इस अलकार को चित्तवृत्तिमूलक मे ही रखना चाहेगे—उदात्तं महापुरुषचरितस्य चित्तवृत्तिरूपत्वात्[1] × × × ×। रसवदादि अलकारो मे वर्णना का केन्द्रबिन्दु वस्तु न होकर मनोविकार होते है। शृगार, हास, करुण आदि के पुट से सँजोया भाववर्णन अलकार बन जाता है। मानव की चित्तवृत्तियो के इस अलकार को चित्तवृत्तिमूलक वर्ग के अन्तर्गत रखना स्वभावत· उचित है।

वस्तुमूलक अलकारो मे से कुछ मे तो वस्तु या अर्थ निगूढ होता है जिनके लिए गूढार्थप्रतीतिपर नामक एक नवीन वर्ग है। इन कुछेक अलकारों को छोडकर शेष अलकारो को सम्बन्ध तथा न्याय इन दो आधारो पर विभाजित किया गया है। सम्बन्ध मे रुय्यक ने सादृश्य तथा विरोध को लिया है। प्रथम सम्बन्ध पर आश्रित वर्ग में प्राय· आधे अलकार आ जाते है। इसी में उन्होने स्मरण तथा अप्रस्तुप्रशसा जैसे अलकारों को भी सम्मिलित कर लिया है जो मनोविज्ञानवादी आलकारिक की दृष्टि से प्रत्यासत्ति (contiguity) सम्बन्ध के उदाहरण हैं, सादृश्य के नही। विरोधसम्बन्ध पर आधारित अलंकारों की सख्या अधिक नही है। उन अलकारो के सादृश्याश्रित तथा विरोधगर्भ वर्गों मे विभाजित करने का आधार सादृश्य तथा विरोधसम्बन्ध की चित्तवृत्ति पैदा करना है। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार की चित्तवृत्ति पैदा करती है—

न च तदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति।

—ध्वन्या० पृ० ४७३।

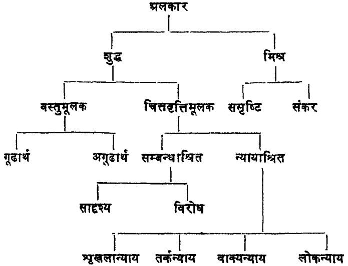
अलंकार प्रकृत वस्तु का उपरंजन तो करते ही हैं[2] पर साथ ही अन्य वस्तुओ

---

१. अ० स० पृ० २३२।

२. यावतोपमादीनां सर्वालंकाराणां प्रकृतवस्तूपरंजकत्वम्।—वि० पृ० २३३।

की भाँति, अलकृत वस्तु भी एक विशेष चित्तवृत्ति उत्पन्न करती है। इस अंश तक इम वर्गीकरण को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं। न्याय को रुय्यक ने तर्क, वाक्य तथा लोक की तीन श्रेणियों में रखा है। शृंखलाबन्ध को भी शृखलान्याय ही नाम दिया जा सकता है, विद्यानाथ ने दिया भी है। इस प्रकार हम न्यायसामान्य को चार भागो मे बाट सकते हैं, और इसप्रकार इन पर आधारित वर्गों को चार न मान कर, न्यायसामान्य को एक मानकर, वर्गीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार वर्गीकरण की आधार-रेखा निम्नलिखित हो सकती है—



अस्तु, एक तो पौनरुक्त्य के आधार पर शब्दालकारो का प्राधान्येन वर्गीकरण किया जा सकता है और शुद्ध तथा मिश्र अर्थालकारों में से शुद्ध अलकारों को वस्तुमूलकता तथा चित्तवृत्तिमूलकता के दो प्रमुख आधार पर विभाजित कर सकते हैं। चित्तवृत्ति सादृश्य तथा विरोध के सम्बन्ध से उत्पन्न हो सकती है तथा लोक और शास्त्र में प्रचलित न्याय के आधार पर भी। इसप्रकार चित्तवृत्तिमूलक के दो भेद होंगे। वस्तुमूलक वर्ग में हम उन दो प्रकार के अलकारों को रख सकते हैं जो या तो गूढ अर्थ की प्रतीति कराते हैं या अगूढ की। मिश्र अलकारो की पृथक् कोटि रुद्रट ने स्पष्टत प्रवर्तित कर दी थी। रुय्यक ने संसृष्टि और संकर इन मिश्र अलंकारो को स्वतन्त्र सिद्ध करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार सोने, मणि आदि से निर्मित लौकिक आभूषणों में बनावट

(संघटना) के द्वारा एक नया सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत अलंकारो (काव्यालंकारो) मे भी मिश्रण होने पर एक नया अलकार बन जाता है, पृथग्रूप से (उनका) अवसान नही होता है।"[1] संसृष्टि और संकर अलंकारो को स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए रुय्यक का यह कथन इन अलकारों को मिश्र नाम की पृथक् कोटि में रखने का पर्याप्त आधार है।

अलंकार का निरूपण-क्रम

अलकारो के वर्गीकरण से ही एक और समस्या सम्बन्धित है। विभिन्न वर्गों मे से किस वर्ग के अलकारो को प्राथमिकता दी जाए, एक वर्ग मे आने वाले अलकारो में से पहिले किसका विवेचन हो। उदाहरण के लिए पौनरुक्त्य के वर्ग में से पुनरुक्तवदाभास का ही सबसे पहले क्यो निरूपण हो ? उपमा अर्थालकारो मे सबसे पहले क्यो बताई जाए ? उपमेयोपमा के बाद स्मरण अलकार लिखना ठीक है जैसाकि रुय्यक ने किया है या मम्मट की भाँति उत्प्रेक्षा पर उतर आना ? रुय्यक ने भ्रातिमान् के बाद अपह्नुति लिखी थी या पहले ? इसी प्रकार अतिशयोक्ति के बाद उल्लेख लिखा था या पहले ? इन सब प्रश्नो का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब अलकारों के निरूपण-क्रम के निश्चित सिद्धान्त हों। मम्मट मे क्रम के सम्बन्ध मे यत्र तत्र निर्देश अवश्य है पर किसी क्रम का पालन नही है और न क्रम का औचित्य ही बताया गया है। रुद्रट ने अपने वर्गीकरण के अनुसार क्रम रखा है। वामन तथा कुन्तक भी यदा कदा क्रम का आधार बता देते है। किन्तु प्रत्येक अलकारो का वर्गीकरण कर निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर उनमे से प्रत्येक का सयुक्तिक क्रमश विवेचन रुय्यक की ही विशेषता है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने निरूपण-क्रम के सम्बन्ध मे एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनका कहना है कि कुछ अलकार स्थूल होते है और कुछ सूक्ष्म। स्थूल और सूक्ष्म आपेक्षिक शब्द हैं। रुय्यक द्वारा जिन अलकारो का पहले विवेचन हुआ है वे तो स्थूल हैं और उनके बाद आने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्मतर। ध्वनिवादी की दृष्टि से अलकार वही है जो रसोपकारक हो। सजीविनीकार का मत है कि स्थूलालंकार रस के आरादुपारक हैं और सूक्ष्मालकार उनकी अपेक्षा प्रत्यासन्नोपकारी। दूसरे शब्दों में उपमा से अधिक रस का उपस्कारक अलकार रसवत् है। संजीविनी से इस सम्बन्ध मे उल्लेख आवश्यक है।

---

१. अ० स० पृ० २४१-४२।

अत्रैतदनुसन्धेयम्—इह यो यावानलंकारवर्गो विवेचयिष्यते विवेचित-चरश्च, सर्वत्रैवात्र रसं प्रति प्रत्यासन्नोपकारिता, पूर्वं पूर्वं पुनरारादुपकारिता, तत्र यद्यपि प्रत्यासन्नोपकारिणां प्राधान्यम् अथापि तेषां सूक्ष्मसूक्ष्मतरत्वात् स्थूलालंकारपुरस्कारेण व्युत्पादनम्। —सजी० पृ० ४८-४६।

शब्दालकारो का अर्थालंकारो से पहिले विवेचन होता है। अर्थ से पहले शब्द की प्रतीति होती है—शब्दप्रतीतिपुरःसरीकारेणार्थप्रतीतिः। शब्द की प्रतीति अन्तरग है अर्थ की बहिरग। शब्दालकारो के प्रथम विवेचन का सम्भवत यह भी रहस्य है कि वे अत्यन्त स्थूलालकार हैं, उपमादि की अपेक्षा वे रस के और भी अधिक आरादुपकारक हैं (उपमा आदि रस के अधिक प्रत्यासन्न उपकारक है), तभी तो यमक, चित्र आदि अलंकारो की आलोचना रसवादी करता रहा है। इनका विस्तार उसे कभी अभीष्ट नही रहा है क्योकि वह इन्हे काव्यान्तर्गडुभूत समझता है। रसवादी के मत से शब्दालकार रस-चर्वणा के प्रत्यूहकारी है। रुय्यक ने सूक्ष्म अथवा प्रकृष्ट को बाद मे और स्थूल को पहले रखा है। वर्धमानोत्कर्षाणि शास्त्राणि प्रथन्ते—संस्कृत आचार्यों की यह नीति भी रही है। रूपक और उत्प्रेक्षा के परस्पर प्राथम्य पर विचार करते हुए रुय्यक का मन्तव्य है कि आरोप की अपेक्षा अभेद मे अध्यवसाय प्रकृष्ट होता है अतः अध्यवसायमूलक अलकारो का निरूपण बाद मे करना ठीक है—

आरोपादभेदेऽध्यवसायः प्रकृष्यत इति पश्चात्तन्मूलालंकारविभागः।
—अ० स० पृ० ४५।

उपर्युक्त कथन श्रीविद्याचक्रवर्ती के आधार की पुष्टि करता है तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने के युक्तिसगत सिद्धान्त का पालन करता है।

सर्वस्व के अलकारो का क्रम देखकर उस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सर्वस्वकार ने अलकारों को पहले वर्गशः और फिर प्रमुख वर्गों को अवान्तरवर्गों में विभाजित किया है। प्रमुख वर्ग का प्रथम अलकार उस वर्ग का बीजभूत अलकार है। उपमा सादृश्याश्रित अलकारों की बीजभूत है[1], अत उसका सादृश्याश्रय वर्ग में प्रथम विवेचन है। इसी प्रकार विरोध, कारणमाला, काव्यलिंग, यथासख्य, प्रत्यनीक, सूक्ष्म तथा रसवत् अपने अपने वर्गों के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। अवान्तर वर्ग में उसी अलंकार का पहले विवेचन आवश्यक समझा गया है जो उस उपवर्ग का प्रतिनिधित्व कर सके

---

१. अनेकेऽलंकाराः साधर्म्याश्रयास्तत्रैवास्या बीजत्वात्। —वि० पृ० ३२।

तथा जिसकी प्रतीति की दृष्टि से प्राथमिकता हो। अध्यवसाय से पहले आरोप की प्रतीति होती है और सिद्ध से पहले साध्य की। यही कारण है कि आरोपगर्भ अलकारो मे रूपक का[1] और अध्यवसाय-गर्भ अलकारो मे उत्प्रेक्षा का पहले निरूपण हुआ है। शब्दार्थप्रतीति मे शब्द की प्रथम प्रतीति की भाति, वाक्यार्थ की अपेक्षा पदार्थ की प्रथमतः प्रतीति होने के नाते[2] तुल्ययोगिता तथा दीपक को प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना से पहिले रखा गया है। विशेषण तथा विशेषण-विशेष्य की विच्छित्ति पर आश्रित दो अलकार हैं, स्वभावतः एक अर्थात् विशेषणमात्र पर आश्रित अलकारों (समासोक्ति तथा परिकर) को पहिले रखा गया है, और विशेषण तथा विशेष्य इन दोनों की शोभा पर आश्रित श्लेषालकार को बाद में।

इस प्रकार रुय्यक ने वर्ग तथा अवान्तर वर्ग के प्रथमालकार के सम्बन्ध में या तो प्रतीति की प्राथमिकता का सिद्धान्त अपनाया है या अलकार-विशेष के प्रतिनिधि होने का। सर्वस्वकार ने इस नियम का कडाई के साथ पालन किया है कि एक वर्ग-विशेष मे आने वाले अलकार एक साथ रखे जाए इसीलिए वे मालादीपक तथा अतिशयोक्ति (द्वितीय) को दीपक तथा अतिशयोक्ति के साथ या गम्य औपम्य पर आश्रित सादृश्यमूलक वर्ग मे न रखकर उन्हे क्रमश शृखलाबन्ध तथा विरोधगर्भ के वर्गों में रखना उचित समझते हैं। सर्वस्व तथा उसके टीकाकारो का कथन इस सम्बन्ध में स्पष्ट है—

प्रकारपञ्चकमध्यात् कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणताश्रया-लकारप्रस्तावे प्रपञ्चार्थं लक्षयिष्यते। —अ० स० पृ० ८४।

मालादीपक के सम्बन्ध मे भी उनका इसी प्रकार कहना है—

मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लंघनेनेह लक्षणं कृतम्।
—अ० स० पृ० १७८-१७६।

---

१. तत्राप्यारोपमूलालंकाराणां बीजभूतं रूपकमादौ सूत्रयति।
—सजी० पृ० ४७।

२. वाक्यार्थापेक्षया पदार्थप्रतीतेरन्तरंगत्वात्। —वि० पृ० ८६।

३. देखिए—अ० स० पृ० १६२। इस सम्बन्ध में तरल का व्याख्यान और भी स्पष्ट है—

अथ हि लक्षितायामतिशयोक्तौ कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसरूपं तद्भेदमिह कार्यकारणभावमूलालंकारप्रस्तावे संगतिवशेनाह। —तरल, पृ० २८५।

विमर्शिनीकार ने प्राचीनो द्वारा दीपक के साथ ही मालादीपक को भी रखने की आलोचना करते हुए इसे शृंखलान्याय वर्ग में ही रखने का समर्थन स्पष्ट शब्दों में किया है—

प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात् तदनन्तरं लक्षितम् । शृंखलात्वेन तु विशिष्टमस्य चारुत्वमितीह लक्षणं युक्तम् । —वि० पृ० १७८-७९ ।

वर्गविशेष के जो अलकार (नीचे बताए जाने वाले दो सिद्धान्तों के आधार पर निरूपित होने के बाद) शेष बचते हैं उन्हे भी रुय्यक ने उसी वर्ग में पारिशेष्यात् न्याय के अनुसार रखा है । भेदाभेदप्रधान अवान्तरवर्ग के समाप्त होने के बाद स्मरण को, अभेदप्रधान अवान्तर वर्ग के अन्त में सन्देह को, इसी प्रकार आरोपगर्भ अलकारों मे अपह्नुति को पारिशेष्याद् अन्त मे रखा गया है । विषम, विचित्र तथा सार के सम्बन्ध मे भी यही बात चरितार्थ होती है ।

वर्ग तथा अवान्तरवर्ग में आने वाले विभिन्न अलंकारो का क्रम रुय्यक ने प्रधानत: दो मूलभूत आधारों पर रखा है । एक है लक्षण-साधर्म्य, दूसरा है लक्षण-वैधर्म्य । पहले को समानता या साधर्म्य का सम्बन्ध कहेगे तो दूसरे को वैधर्म्य, विरोध या विपर्यय का । लक्षण-साधर्म्य से अभिप्राय यह है कि यदि एक अलकार के स्वरूप का कोई अश दूसरे में भी पाया जाता है तो स्वभावतः उसे साथ में रख दिया गया है । उदाहरणत अनन्वय और उपमेयोपमा को लें । अनन्वय में द्वितीय सदृश की निवृत्ति होती है और उपमयोपमा मे तृतीय सदृश की । प्रथम प्रकार की प्रतीति पूर्ववर्तिनी है और दूसरी अनन्तरभाविनी । भ्रातिमान्, उल्लेख, निदर्शना अर्थान्तरन्यास, असगति, विषम, विशेष, व्याघात, परिसख्या, समाधि, तद्गुण, भाविक तथा रसवत् आदि अलकारो के क्रम का रहस्य यही है । इनसे पूर्ववर्ती अलकार सन्देह, भ्रान्तिमान्, प्रतिवस्तूपमा आदि में इनके स्वरूप का आंशिक साधर्म्य अनुस्यूत है । लक्षण-साधर्म्य के सकुचित अर्थ में हम नामसाम्य, शब्दसाम्य या समानन्याय को भी सम्मिलित कर सकते है । इसका अर्थ है कि जिन अलकारों का नाम एक ही है या जिनमें कोई शब्दविशेष एक है उनका एक साथ वर्णन उचित है । इसे बाह्य लक्षणसाधर्म्य कहा जा सकता है । उदाहरण के लिए प्रथम आक्षेपालकार के बाद द्वितीय आक्षेपालकार[1] को, प्रथम व्याघातालकार

१. एवमिष्टनिषेधेनाक्षेपमुक्त्वा समानन्यायत्वादनिष्टविधिनाक्षेपमाह ।
—अ० स० पृ० १५२ ।

के बाद द्वितीय[1] को, तथा प्रथम उदात्त के बाद द्वितीय उदात्तालकार[2] को, नामसाम्य के कारण ही, एक साथ रखा गया है; अन्यथा वे भिन्न अलकार हैं। व्याजोक्ति के बाद वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति को शब्दसाम्य के आधार पर भी एकत्र रखा है। इन सभी अलकारो के अभिधान का अन्तिम शब्द उक्ति है।[3] इसी आधार पर एकाश में समान नामान्त वाले इन अलकारो का निरूपण एकत्र किया गया है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि अलकारो का वर्गश विवेचन तो प्रथम सिद्धान्त है अन्यथा सहोक्ति और विनोक्ति में भी उक्ति के शब्द-साम्य को लेकर उन्हे व्याजोक्ति आदि के साथ रखना पड़ता।

लक्षण-वैधर्म्य दूसरा मूलभूत आधार है। किसी अलकार का एक दूसरे अलकार के लक्षण या स्वरूप मे आशिक वैषम्य, विरोध या विपर्यय को लक्षण-वैधर्म्य की सज्ञा दी जा सकती है। कभी-कभी यह लक्षण-वैधर्म्य अलकार के स्वरूप से सम्बन्धित न होकर केवल नाम तक ही सीमित रह सकता है। इस स्थिति मे हम इसे औपचारिक या बाह्य लक्षण-वैधर्म्य कह सकते है। रूपक मे प्रकृत का उपरजन होता है और परिणाम में उसकी उपयोगिता। उपरजन तथा उपयोग के इस वैधर्म्य को लेकर रूपक तथा परिणाम को एक साथ रखा गया है।[4] अपह्नुति[5], विनोक्ति[6],

१ नामसाम्यन्तु व्याहतिहेतुस्वलक्षणस्य निर्वचनस्य साधारण्यात्। —समुद्र० पृ० १५६।

२. (क) उदात्तशब्दसाम्यादिहाभिधानम्। —अ० स० पृ० २३१।

(ख) वाचकशब्दस्वरूपसाम्यमेवानन्तर्यहेतुः। —समुद्र० पृ० २०७।

३. (क) उक्तिव्यपदेशसाम्याद् व्याजोक्त्यनन्तरमस्या लक्षणम्। —अ० स० पृ० २१६।

(ख) उक्तिवाचोयुक्तिप्रस्तावादस्येह लक्षणम्। —अ० स० पृ० २२३।

४. (क) अथ रूपकालंकारात् प्रकृतोपयोगलक्षणवैधर्म्यशालिने परिणामालंकाराय सूत्रम्। —सजी० पृ० ५४।

(ख) तदेवमारोपमूलेषु प्रकृतोपरंजकतया रूपकं निरूप्य तद्वैधर्म्येण प्रकृतोपयोगितया परिणामं लक्षयति। —तरल, पृ० २२०।

५. प्रक्रान्तानपह्नववैधर्म्येणेदमुच्यते। —अ० स० पृ० ६३।

६. सहोक्तिप्रतिभटभूतां विनोक्तिं। —वहीं, पृ० १०५।

प्रतिभटभूतामिति प्रतिपक्षभूतामत एवैतदनन्तरमस्या लक्षणम्। —वि० पृ० १०५।

अप्रस्तुतप्रशंसा,[१] विशेषोक्ति,[२] सम,[३] एकावली,[४] विकल्प,[५] समुच्चय,[६] निमीलित,[७] अतद्गुण,[८] व्याजोक्ति[९] तथा उदात्त[१०] (प्रथम) को विरोध सम्बन्ध के आधार पर ही यथास्थान रखा गया है। कभी कभी यह लक्षण-वैधर्म्य नामभेद पर भी आधारित हो सकता है जैसे कि तद्गुण और अतद्गुण, सहोक्ति और विनोक्ति में केवल नाम-भेद है।

इस प्रकार रुय्यक ने वर्गीकरण के अनुसार प्रत्येक वर्ग को एक साथ रखा है और फिर उनमे आने वाले अलकारो का साधर्म्य या विरोध सम्बन्ध के

---

१. (क) अधुना तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसोच्यते।
अ० स० पृ० १३२।

(ख) यस्तु समासोक्त्यनन्तरं परिकरश्लेषयोर्वचनं तद्विशेषणसाम्यादिना प्रसंगागतम्। —वि० पृ० १३२।

२. विभावनां लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्वरूपां विशेषोक्तिं लक्षयति।
—अ० स० पृ० १६०।

३. (क) विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः। —वही, पृ० १६७।

(ख) विरोधगर्भालंकारमध्ये अतादृशमपि समं विषमप्रसंगेन लक्षयित्वा.।
—समुद्र० पृ० १४६।

४. कार्यकारणभावाश्रितां कारणमालामुक्त्वा सम्प्रति तद्वैधर्म्येण विशेषण-विशेष्यभावाश्रितामेकावलीमाह। —तरल, पृ० २६७।

५. तस्मात् समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽलंकारः।
—अ० स० पृ० २००।

६ विकल्पप्रतिपक्षेणास्य स्थितिः। —वही,
तथा—अतश्च विकल्पानन्तरं लक्षितमिति भावः। —समुद्र० पृ० १८०।

७. समुच्चय और विकल्प का भी विरोध सम्बन्ध है। देखिए—ऊपर पादटिप्पणी संख्या ६।

८. (क) तद्गुणप्रस्तावात् तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते।
—अ० स० पृ० २१४।

(ख) विरोधसम्बन्धमानन्तर्यहेतुं दर्शयति। —समुद्र० १६२।

९. सूक्ष्मवैपरीत्येन व्याजोक्तिं लक्षयति। —तरल, पृ० ३६५।

१०. स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनं तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णना-त्मत्वेन उदात्तस्यावसरः। —अ० स० पृ० २३०।

आधार पर क्रम स्थिर किया है। इसके लिए उन्होंने दो मूलाधारो के अतिरिक्त कुछ सामान्य आधारो की सहायता भी ली है जैसे कि प्रतीति की प्राथमिकता का सिद्धान्त। शब्दालंकार, आरोपमूलक अलकार तथा पदार्थगत अलकारों को क्रमश. अर्थालिकार, अध्यवसायमूलक अलकार तथा वाक्यार्थगत अलकारों से पहिले रखने का यही हेतु है। रुय्यक ने इस प्रकार शब्दार्थोभयविभाग मे वर्गीकरण तथा निरूपणक्रम की प्राकरणिकता के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित पद्धति, जो प्राय. वैज्ञानिक है, का उद्भावन किया है। अवश्य ही, प्राचीन परम्परा का अनुयायी होने के नाते उन्हे अनेकत्र अपनी पद्धति के विपरीत चलना पडा है। रुय्यक का प्रभाव इस सम्बन्ध में अर्वाचीन आलकारिकों पर निश्चय रूप से पडा है। विद्यानाथ ने उनका अक्षरशः अनुकरण किया है। विद्याधर, अप्पय्य-दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ और अलकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पर भी उनके प्रभाव को पाया जा सकता है। अलकार-सम्प्रदाय निश्चय ही इस सम्बन्ध मे रुय्यक का ऋणी है।

चतुर्थ अध्याय

उपमामूलक अलंकार : उपमा

भरत से लेकर आजतक के आलंकारिक किसी न किसी अलकार को प्रधानता देते रहे है। भरत ने अलकारो की गणना में उपमा को सर्वप्रथम रखना उचित समझा था।[1] भामह का वक्रोक्ति—अतिशयोक्ति—पर आग्रह प्रसिद्ध ही है। दण्डी ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति मे बाँटकर[2] श्लेष को वक्रोक्ति का श्रीहेतु बताया था।[3] स्वभावोक्ति या जाति का साम्राज्य उन्हे शास्त्र तथा काव्य दोनो मे समान रूप से अभीप्सित था, यह उनका अभीप्सित अलकार भी है।[4] उन्होने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश अलकारो को भी वाणी का उत्तम भूषण कहकर इनकी स्तुति की है।[5] वामन ने प्रतिवस्तु प्रभृति अनेक अलकारो को उपमा का प्रपंच माना है।[6] रुद्रट ने अर्थालकारो के चार मूलतत्त्व माने है—वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष।[7] अनेक अलकारो को उन्होने औपम्य का ही भेद माना है।[8] कुन्तक ने वक्रोक्ति को व्यापक काव्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। साथ ही वे उत्प्रेक्षा,[9] अतिशयोक्ति जैसे अलकारो को प्रथमोल्लेख के लिए जीवित मानते हैं। महिमभट्ट ने 'सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायते' कहकर उपमा की महिमा स्वीकार की है। रुय्यक ने अनेकत्र

---

१. ना० शा० १६।४३।

२. देखिए—काव्यादर्श, २।२६३।

३ वहीं, २।३६३।

४ वहीं, २।८ ; २।६६।

५ वहीं, २।२३५। भामह इन अलंकारों को वक्रोक्ति मानने को तैयार नहीं थे क्योंकि इनमें वक्रोक्ति का पुट नहीं होता है। देखिए—भामहालंकार, २।८६।

६ प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। —का० अ० सू० वृ० ४।३।१।

७. रुद्रट : काव्यालंकार, ११७।

८. वहीं, ८।२-३।

९. उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते। —व० जी० पृ० १६२।

उपमा को अनेक अर्थालंकारों का मूलतत्त्व मानने का निर्देश किया है ।[1] विद्यानाथ तथा विद्याधर ने रुय्यक का इस सम्बन्ध में अनुसरण किया है ।[2] अर्वाचीन आलंकारिकों मे अप्पय्यदीक्षित उपमालंकार के सबसे बड़े हिमायती है । उनकी निम्नलिखित उक्तियाँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः[3] ॥
—चित्रमी० पृ० ६ ।

तथा—

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदा सा[4] ॥
—चित्रमी० पृ० ६ ।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ३१-३२, ६०, ६७, १०२, २०८, २४४ आदि ।

२. देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० २२८, तथा एका० पृ० ३६४ पर तरल टीका ।

३. उपमा ही एक (मूल) नटी है जो चित्र (काव्य) की भूमिका के विविध रूपों में अवतीर्ण होकर अपने नृत्य से सहृदय का अनुरंजन करती है । विभिन्न अलंकार उपमा-शैलूषी के ही भूमिका-भेद तथा नर्तन हैं । इस रूपक से प्रतीत होता है कि दीक्षित इस अलंकार की उपमा प्रकृति-नटी अथवा मायानटी से देना चाहते हैं ।

४. ब्रह्मज्ञान से जिस प्रकार इस चित्र विश्व का ज्ञान हो जाता है (ब्रह्मणि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति) उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से कवि द्वारा सृष्ट चित्र विश्व का ज्ञान हो जाता है । यहाँ उपमा का ज्ञान ब्रह्मज्ञान की भाँति बताया गया है ! इससे पहिले श्लोक में उपमा को शैलूषी कहा गया था जो प्रकृति या माया के समान है किन्तु इस श्लोक में उसे परोक्षतः ब्रह्म बताया गया है । अप्पय्यदीक्षित के इस परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वक्तव्यों का तात्पर्य, मुझे यह लगता है कि जहाँ वे प्रपञ्च-सृष्टि की बात कहते हैं वहाँ वे उपमा को माया के समान बताना चाहते हैं और जहाँ ज्ञान की बात कहना चाहता है वहाँ उसे ब्रह्म के समान । वेदान्त के अनुसार प्रपञ्च का मूल माया है और ज्ञान वस्तुतः ब्रह्म ही है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

राजशेखर ने तो उपमा को कवियों की माता, काव्यसर्वस्व तथा अलकारशिरोरत्न तक कहा है—

अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

—अलकारशेखर, पृ० ३२ उद्धृत ।

अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आलकारिको ने उपमा के अनेक भेद प्रभेद कर तथा उसीमे अनेक अलकारो का अन्तर्भाव कर इसी बात का परिचय दिया है कि यही काव्यालंकारो का जीवातु है—प्राणत्वेनावतिष्ठते[1] । अलकार-सम्प्रदाय के इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक बात मुझे मालूम पडती है कि वामन से पूर्व उपमा का विवेचन तो चलता ही था किन्तु वामन और उनके बाद से उपमालकार की प्रधानता पर विशेष आग्रह मिलता है । मम्मट ने उसके अनेक भेदोपभेद किए हैं । रुय्यक ने घोषणा की है—उपमैवानेकालंकार-बीजभूता । सभवत इन दोनो के प्रभाव से आगे के आलंकारिक[2] स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, श्लेष जैसे अलकारो की स्तुति न कर प्रधानतया उपमा का यशोगान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में करते हैं । औपम्य अनेक काव्यालकारो का व्यापक तत्त्व बन गया है । अतिशय और वक्रता का विजयघोष मन्द पड गया ।

ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अतिशयोक्ति को सर्वालकारसामान्य या काव्यजीवित मानने का प्रश्न ही नही है । जहाँ तक उसका काव्यतत्त्व के रूप मे स्थान है वह उसे अवश्य मिल सकता है पर औचिती और भी व्यापक काव्यतत्त्व है और अतिशय की अपेक्षा (रसादि तो मुख्य जीवित है) उसे काव्यजीवित कहना अधिक युक्तिसंगत है ।

यदि तावदतिशयोक्तेः सर्वालंकारेषु सामान्यतारूपता सा तर्हि तादात्म्य-पर्यवसायिनीति । तद्व्यतिरिक्तो नैवालंकारो दृश्यते इति कविप्रतिभानं न तत्रा-पेक्षणीयं स्यात् । अलंकारमात्रं च न किंञ्चिद् दृश्यते । अथ सा काव्यजीवितत्वेन तु विवक्षिता । तथाप्यनौचित्येऽपि निबध्यमाना तथा स्यात् । औचित्यवती जीवित-मिति चेद् औचित्यनिबन्धनं रसभावादिं मुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्त-र्भासि मुख्यं जीवितमभ्युपगन्तव्यं ननु सा । —लोचन ।

१. का० प्र० पृ० ३४३ ।
२. जैसे कि शोभाकर, हेमचन्द्र, वाग्भट, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित ।

अलंकार विच्छित्ति है। कवि प्रतिभा की सृष्टि है अतः अतिशय या वक्रता उसका स्वाभाविक और अपरिहार्य स्वरूप है जो सभी मे समान रूप से है। पर उपमालकार का औपम्य अलकारो का विशेष तत्त्व है जो सभी मे नही पर अनेक अलकारों मे पाया जाता है। इसी औपम्य, सादृश्य या साधर्म्य पर आश्रित प्रमुख अलकारो का निरूपण इस अध्याय का प्रतिपाद्य है।

औपम्य का स्वरूप

ऊपर उपमा तथा औपम्य की प्रसिद्धि तथा मान्यता से इतना स्पष्ट है कि सादृश्य काव्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध तत्त्व है। कवि का उद्देश्य, इतिहास की भाँति, वस्तु का यथावत् चित्रण नही होता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है कि कवि कहलाने का अधिकार इतिवृत्त के वर्णन से नही मिलता है यह तो इतिहास आदि का ही कार्य है—

न हि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेन आत्मपदलाभः। इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।

प्राचीन आचार्यों ने इसी प्रकार वर्णन को वार्ता की सज्ञा दी थी। वस्तुतः जब कवि का वर्ण्य विषय मुख है तो वह मुख का बाह्य और स्थूल वर्णन न करके मुखदर्शन से उत्पन्न अपनी सौन्दर्य-भावना को अभिव्यक्त करता है। अलकार कविसमर्पित धर्म की वर्णना है। यह सौन्दर्य-भावना वस्तु के स्थूल सौन्दर्य से भिन्न है, इस मन्तव्य को रुय्यक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

कविसमर्पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्। न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्निवेशिनाम्। —अ० स० पृ० २२६।

कवि की वर्णना ही वस्तु की सौन्दर्यभावना को उभार पाती है। भाविक के प्रसग मे रुय्यक कहते हैं—

इह क्वचिद्वर्णनीयस्य वर्णनावशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्।

—अ० स० पृ० २२६।

औपम्य के द्वारा कवि एक वस्तु से स्वरूपतः समान दूसरी वस्तु का बिम्ब उपस्थित कर देता है। रुद्रट ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर औपम्य की निम्नलिखित परिभाषा दी थी—

सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥

—काव्यालंकार, ८।१।

मुख के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि कमल, चन्द्र आदि ऐसी वस्तुओं से मुख का सादृश्य बताता है जो लोक मे अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। औपम्य के लिए इसीलिए यह आवश्यक माना गया है कि उपमान सदा प्रतीत या प्रसिद्ध ही होना चाहिए। सर्वथा अप्रतीत वस्तु से सादृश्य सहृदय की अनुभूति को नहीं छू सकता अत उसे सदोष समझा जाता है। सदृशता का यह काव्य-विधान बिम्बो को स्पष्टत· उभाड कर चेतना के एकत्व का स्पर्श करता है अत. रमणीय बन जाता है।

अनेकधा यह सादृश्य निषेध, अपह्नव, अतिशय, कार्यकारणभाव आदि के द्वारा आता है। रुय्यक के वर्गीकरण पर यदि दृष्टिपात करें तो यह प्रतीति होगा कि सादृश्य का प्रत्यायन विभिन्न रूपो से सम्भव है। प्रथमतः सादृश्य वाच्य या गम्यमान माना जा सकता है। गम्यमान औपम्य से अभिप्राय उस सादृश्य से है जो निगूढ हो। उदाहरण के लिए उपमा में मुख को चन्द्र के समान बताने में औपम्य निगूढ न होकर स्पष्ट रहता है किन्तु तुल्ययोगिता, दीपक अथवा समासोक्ति में प्रकृत और अप्रकृत की यह सधर्मिता प्रकारान्तर से प्रत्यायित होती है। जैसे कि समासोक्ति मे नायक-नायिका का व्यवहार-साम्य सहृदय को स्पष्ट रूप में कवि नही बताता है उसे कार्य या विशेषण में छिपाए रहता है अत· स्पष्ट और साक्षात् सादृश्य कवि के अभिधान का जहां उद्देश्य होता है वहाँ वह वाच्य औपम्य की विधा अपनाता है अथवा कुछ निगूढ पथा का सहारा लेता है। वाच्यौपम्य वाले अलकार मे उपमा प्रधान है। कवि सादृश्य-वर्णन की यात्रा यही से प्रारम्भ करता है। गुण, आकृति, देश, काल आदि को लेकर दो वस्तुओ मे विद्यमान सादृश्य की ओर वह उपमा और तन्मूलक अलकारों से ही इगित करता है। दो वस्तुओ का सादृश्य जब भेद और अभेद दोनों को समान बनाए रखता है तो उपमा, अनन्वय, स्मरण आदि अलकार कहलाते हैं। 'मुख चन्द्र की भाँति है' उपमा की यही उक्ति, 'मुख मुख की भाँति है' 'मुख चन्द्र की भाँति है और वह चन्द्र मुख की भाँति है,' 'मुख देखकर मुझे चन्द्र का स्मरण हो आता है' इन अनन्वय, उपमेयोपमा और स्मरण की अभिव्यक्तियों में क्रमश· उद्भासित होने लगती है। जिस मुख का चन्द्र के साथ इन अलकारों मे भेद और अभेद समान था उस मुख को ही रूपक की स्थिति में चन्द्र मान लिया जाता है। इस प्रकार मुख ही प्रधान होने लग जाता है, चन्द्र गौण। परिणाम मे कवि इस अभेद से कार्य भी लेने लग जाता है मुख-चन्द्र के अभेद से सहृदय का ताप परिशान्त होता है अतः रूपक में 'मुख ही चन्द्र है' यह कहा

जाता है तो परिणाम में 'मुखचन्द्र से ताप शान्त हो रहा है' यह कथन होता है। अभेद की इस स्थिति में मुख को चन्द्र समझने की भ्रान्ति होना स्वाभाविक है—मुख को देखकर चकोर प्रफुल्लित हो उठते हैं। कवि प्रयोग करता है कि 'चन्द्रसमझकर चकोर प्रफुल्लित हो रहे हैं।' आलकारिक चकोर की इस चित्त-वृत्ति को भ्रान्तिमान् अलंकार बतलाता है। उल्लेखालकार में मुख को चन्द्र के ही क्यो, अपितु अनेक रूपों में उल्लिखित किया जाता है। मुख को 'चकोर चन्द्र समझते हैं, चञ्चरीक उसे कमल समझते हैं'। अपह्नुति अलकार मे मुख और चन्द्र दोनो का नाम लेकर कवि कहता है 'यह चन्द्र ही है मुख नही'। यह निषेध भी अभेद-प्रधान सादृश्य का प्रत्यायन करता है। अभेद की इन स्थितियो में प्रकृतोपयोग, सन्देह, भ्रान्ति, अनेकधा ग्रहण तथा अपह्नव के माध्यम से मुख और चन्द्र दोनो का उपादान होता था। उपादान द्वारा भेद का निर्देश कर अभेद का प्रत्यायन था। सहृदय मुख और चन्द्र के इस कवि-कृत अभेद को इतना समझने लगा कि कवि आगे चलकर मुख का उपादान ही नही करता है। 'मानो चन्द्र है' वह इतना भर कहता है सहृदय समझ लेता है कि कवि का लक्ष्य अभेदप्रधान सादृश्य का प्रत्यायन है जिसमें वह विषय (मुख) का उपादान अभीष्ट या आवश्यक नही समझ रहा है। अध्यवसाय की यह साध्य स्थिति अतिशयोक्ति अलकार में सिद्ध अवस्था में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में कवि केवल चन्द्र का ही नाम लेता है। मुख को बताने के लिए वह कहता है—'चन्द्र को देखो'। जिस सहृदय ने उपमा की अभिव्यक्तियो से लेकर उत्प्रेक्षा तक की अभिव्यक्तियो से अपना परिचय कर लिया है उसे कवि की अतिशयोक्ति का लक्ष्य पहिचानने मे कठिनता नही होती है।

परोक्ष को अपरोक्ष, व्यवहित को अव्यवहित, व्यष्टिगत को समष्टिगत, सूक्ष्म को सवेद्य एवं प्रत्येय बनाने के लिए ही कवि सादृश्य का विधान करता है। उसके इस उद्देश्य में स्मरण, भ्रान्ति, अपह्नव, अनेकधा उल्लेख, उत्प्रेक्षण या सम्भावन आदि तो सहायक हैं ही अतिशय-वचन या किसी बात को थोडा बढा-चढ़ाकर कहना विशेष रूप से सहायक होता है। विना अतिरजना के कवि का सूक्ष्म सहृदय को कदाचित् प्रतीत ही न हो पाए। अतिशय-वचन में वक्ता का अति-शयित के प्रति राग भी छिपा रहता है। कोई भी व्यक्ति किसी बात को बढा-चढ़ाकर तभी कहता है जबकि उस व्यक्ति में उस वस्तु के प्रति राग या मोह होता है। अस्तु, वस्तु को परोक्ष से अपरोक्ष बनाने के लिए, साथ ही अपने राग और भावबन्धन को हृदय खोलकर कहने के लिए अतिशयोक्ति काव्य के धरातल

पर आवश्यक विधान हो जाती है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस मन्तव्य को अपनी भावमय शैली मे इस प्रकार बताया है—

'मेरा सुख-दुःख मेरे निकट अव्यवहित है, तुम्हारे निकट तो वह वैसा नही है। मुझसे तुम दूर हो, इसी दूरी का विचार कर अपनी बात तुम्हारे निकट कुछ बढ़ा कर ही कहनी पड़ती है। सत्यरक्षण करते हुए इस बढाने की क्षमता द्वारा ही साहित्यकार का यथार्थ परिचय मिलता है। जैसा है, ठीक वैसा ही लिखना साहित्य नही है, क्योंकि प्रकृति मे जो देखता हूँ, वह मेरे निकट प्रत्यक्ष है, मेरी इन्द्रियाँ उसकी साक्षी देती हैं। साहित्य मे जो दीख पड़ता है, वह प्राकृतिक होने पर भी प्रत्यक्ष नही है; अतः साहित्य में उसी प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति करनी पडती है।'[1]

महिमभट्ट ने इसी बात को दूसरे शब्दो मे कहा है जो अतिशय की उत्कर्ष या अपकर्ष की दोनो विधाओ पर चरितार्थ होता है। उनका कहना है कि उत्कर्ष या अपकर्ष के विना वस्तु मे स्वाद नही आ पाता है अतएव कवि अलकारो का विधान करते है।[2]

'इस प्रावृट् में मुख और चन्द्रबिम्ब कान्तिहीन है, शरद् मे वह रमणीय हैं'—तुल्ययोगिता के ये दो भेद है। 'यह भी सुन्दर है और वह भी'--यह दीपकालकार है। 'मुख ही रमणीय है चन्द्र ही हृद्य है'—यह प्रतिवस्तूपमा है। 'धरती पर मुख और आकाश मे चन्द्र'— यह दृष्टान्त है। 'मुख को दोष लगाना, चन्द्रमा को मलिन बनाना है'---यह निदर्शना है। 'चन्द्र से बढकर है मुख और मुख से बढ़कर है चन्द्र'—यह व्यतिरेक अलकार है। 'चन्द्रमा के साथ मुख'—यह सहोक्ति अलकार है। उपर्युक्त इन सभी अलकारो में मुख और चन्द्र के भेद का उपादान है। सहृदय को अतिशयोक्ति तक मुख और चन्द्र की अभेद-प्रतीति हो चुकी थी अब कवि इन दोनो को भिन्न बताता है पर चाहे कवि भेदाभेद का सहारा ले या अभेद का अथवा भेद का, सहृदय मुख और चन्द्र की सादृश्य-प्रतीति को नही भूल सकता है। दर्शन के क्षेत्र में ईश्वर और जीव मे जिस प्रकार भेद, अभेद और भेदाभेद बताने वाले विभिन्न प्रस्थान जिस प्रकार अन्ततः जीव और ईश्वर के सादृश्य-सम्बन्ध के प्रत्यायक हैं उसी प्रकार काव्य-लोक में

१. उपमा कालिदासस्य, पृ० ६-७ पर उद्धृत।

२. विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते। —व्य० वि० २।१४।

भेदाभेद, अभेद और भेद की विचित्र भंगिमाओं द्वारा मुख और चन्द्र के सम्बन्ध का काव्यमय वर्णन भी अन्ततः इन दोनों के सादृश्य-वर्णन की ओर ही प्रवृत्त होता है।

'मुख के बिना चन्द्र अच्छा नहीं लगता है'—यह विनोक्ति है। 'कला से अभिराम पूर्ण मुख'—यह समासोक्ति है। '**अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितसक्तिना**' यह श्लेषालंकार है।[1] 'नमस्ते चन्द्र, प्रसन्न हो'—यह अप्रस्तुतप्रशंसा है। 'मुख का रोष दोष नहीं है, कलंकरेखा इन्दु की निन्दा के लिए नहीं होती है'—यह अर्थान्तरन्यास है।

इस प्रकार उपमा से लेकर अर्थान्तरन्यास तक के अलंकार (रुय्यक की सूची के अनुसार) उपमा-बीज के ही आतान-प्रतान हैं। इनमें एक-दो अलंकारों को छोड़कर सभी सादृश्यमूलक या औपम्यमूलक अलंकारों में परिगणित होते हैं। ऊपर हमने जो उदाहरण दिए थे वे प्रायः सभी संजीविनी टीका के अनुसार थे। इनमें से एक-दो अलंकार वहाँ उदाहृत नहीं हैं।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने उपमा के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास तक के अलंकारों में उपमामूलकता का निरूपण किया है। हम उसे यहाँ अविकल उद्धृत कर रहे हैं।

मुखं चन्द्र इवेत्युपमा। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः। मुखं चन्द्र इव स तदिवेत्युपमेयोपमा। दृष्ट्वा मुखं चन्द्रमनुस्मरामीति स्मरणम्। मुखमेव चन्द्र इति रूपकम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यतीति परिणामः। किं चन्द्र आहोस्वित् पद्ममिति सन्देहः। चन्द्र इति चकोरा नन्दन्तीति भ्रान्तिमान्। चन्द्र एव न मुखमित्यपह्नुतिः। नूनं चन्द्र इवेत्युत्प्रेक्षा। चन्द्रं पश्येत्यतिशयोक्तिः। अस्यां प्रावृषि मुखं चन्द्रबिम्बं च विच्छायमित्येका तुल्ययोगिता। शरदि रम्यमिति द्वन्या। इदं च तच्च रमणीयमिति दीपकम्। मुखमेव रम्यं चन्द्र एव हृद्य इति प्रतिवस्तूपमा। भुवि मुखं दिवि चन्द्र इति दृष्टान्तः। मुखदूषणं चन्द्रमसो मलिनीकरणमिति निदर्शना। चन्द्रादधिकं मुखं, मुखादधिकश्चन्द्र इति च व्यतिरेकः। चन्द्रेण सह मुखमिति सहोक्तिः। न मुखेन विना चन्द्रः समीचीन इति विनोक्तिः। कलाभिरामं पूर्णं मुखमिति समासोक्तिः। कलाभिरामौ मुखचन्द्राविति श्लेषः। नमस्ते चन्द्र प्रसन्नोऽसीत्यप्रस्तुतप्रशंसा। मुखे रोषो न

---

१. अब्ज का अर्थ चन्द्र तथा कमल दोनों होते हैं। 'अप् से जात'—समुद्र से उत्पन्न—यह अर्थ चन्द्र का अभिधान करता है।

षोषः, नहीन्द्रोर्निन्द्यायै कलंकरेखेत्यर्थान्तरन्यासः। —संजी० पृ० ३९-४०।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने सादृश्यमूलक इस सूची मे अलंकारों का क्रम सर्वस्व के अनुमार रखा है। उपर्युक्त सूची मे उल्लेख, परिकर, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप को छोड़ दिया गया है; उन्हें औपम्यमूलक अलकारो के अन्तर्गत रखना श्रीविद्याचक्रवर्ती को अभीष्ट प्रतीत नही होता है।

अप्पय्यदीक्षित ने अलकारों की इस उपमामूलकता का, श्रीविद्याचक्रवर्ती की भाँति, वर्णन किया है।[1] उन्होने उल्लेख तथा प्रतीप को भी उपमामूलक सूची मे रखा है। तथा परिकर, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप को श्रीविद्याचक्रवर्ती की भाँति, सादृश्यमूलक नही माना है। सादृश्यमूलक अलकारों की इस सक्षिप्त चर्चा के बाद अब उपमालकार का विवेचन करना उचित होगा।

उपमालंकार

उपमा प्राय प्राचीनतम अलकार है। सादृश्य का भाव बताने के लिए वेदो में उपमा शब्द का प्रयोग मिलता है। मैत्र्युपनिषद् में उपमा को अलकार

---

१. चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालङ्कारभावं भजते। तथा हि—'चन्द्रइव मुखं मुखमिव चन्द्रः, इत्युपमेयोपमा। 'मुखं मुखमिव' इत्यनन्वयः। 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपम्। 'चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि' इति स्मरणम्। 'मुखमेव चन्द्रः' इति रूपकम्। 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इति परिणामः। 'किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः' इति सन्देहः। 'चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति' इति भ्रान्तिमान्। 'चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति' इत्युल्लेखः। 'चन्द्रोऽयं न मुखम्' इत्यपह्नवः। 'नूनं चन्द्रः' इत्युत्प्रेक्षा। 'चन्द्रोऽयम्' इत्यतिशयोक्तिः। 'मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते' इति तुल्ययोगिता। 'निशि चन्द्रस्त्वन्मुखं च हृष्यति' इति दीपकम्। 'त्वन्मुख एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते' इति प्रतिवस्तूपमा। 'दिवि चन्द्रो भुवि त्वन्मुखम्' इति दृष्टान्तः। 'मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्ति' इति निदर्शना। 'निष्कलङ्कं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते' इति व्यतिरेकः। 'त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु हृष्यति' इति सहोक्तिः। 'मुखं नेत्राङ्करुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितम्' इति समासोक्तिः। 'अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितसक्तिना' इति श्लेषः। 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इत्यप्रस्तुतप्रशंसा। एवमुक्तानेकालङ्कारविवर्तवतीयमुपमा। —चित्रमी० पृ० ६०

के रूप मे माना गया है तथा इसके अनेक भेदों का भी निरूपण है। अलकार-शास्त्र उपमा शब्द और उसके अर्थ के लिए वैयाकरणो का ऋणी है। उपमा के व्याकरण से प्रभावित अनेक भेदोपभेदो से यह बात समझी जा सकती है कि यास्क से लेकर आजतक के आलकारिकों पर व्याकरण का कितना प्रभाव है।

रुय्यक का उपमा-लक्षण है—**उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेद-तुल्यत्वे उपमा।**

सस्कृत के आचार्य अपनी परिभाषाओ की पूर्णता का सदा ध्यान रखते आए हैं। रुय्यक के उपमा-लक्षण का प्रत्येक पद इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उनके लक्षण में चार पद हैं। प्रथम पद **'उपमानोपमेययोः'** न केवल अप्रतीत उपमान और उपमेय की व्यावृत्ति करता है अपितु वह इस बात का भी सकेत करता है कि उपमान और उपमेय दोनो का उपादान आवश्यक है। अनन्वय मे उपमेय ही उपमान बन जाता है अत उसकी व्यावृत्ति भी उपर्युक्त पद से होती है। साधर्म्य पद का उपादान उपमा को व्यतिरेक अलकार मे भिन्न करता है। साधर्म्य के तीन भेद है। एक मे भेद प्रधान होता है जैसे कि व्यतिरेक में। कही अभेद प्रधान होता है जैसे कि रूपक मे। उपमा मे भेद और अभेद दोनो की प्रधानता होती है। **'भेदाभेदतुल्य'** पद इसी मान्यता का सूत्रण है।[1] सादृश्य वही होता है, जहाँ कुछ साधारण तत्त्व हो जो अभेद की प्रतीति करा सके और कुछ असाधारण धर्म हो जो भेद का ज्ञान कराएँ। अन्तिम पद अलकार का नाम सूचित करता है। रुय्यक से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण निम्नलिखित है--

यत् किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥

—ना० शा० १७।४४।

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥

—भामहालंकार, २।३०।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ३२। विद्याधर का उपमालक्षण रुय्यक का अनुवाद है, उसमें प्रत्येक पदों की चरितार्थता का विशेषतः निरूपण है। देखिए—एका० पृ० १६५-१६७।

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं निदर्श्यते ॥
—काव्यादर्श, २।१३ ।

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
मिथोविभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ॥
—का० अ० स० १।३२ ।

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ।
—का० अ० सू० वृ० ४।२।१ ।

उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद् यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत् साध्यत इति सोपमा त्रेधा ॥
—का० अ० ८।४ ।

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥—स० क० ४।५ ।

वस्तुतः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा । —व० जी० ।

साधर्म्यमुपमा भेदे । —का० प्र० ।

इन लक्षणो पर ध्यान देने से यह प्रतीत होगा कि उपमान या उपमेय अथवा दोनो शब्दो का प्रयोग, साधर्म्य, साम्य या सादृश्य का प्रयोग, इवादि का प्रयोग, दूसरे अलकारो से भेदक शब्द 'भेदाभेदतुल्यत्वे' आदि का प्रयोग तथा चेतोहारि, हृद्य अथवा उसके पर्यायवाची वाक्यार्थोपस्कारक आदि शब्दो का प्रयोग (जिसकी प्रवृत्ति परवर्ती लक्षणो मे अधिक है) लक्षणनिरूपण में किया जाता रहा है ।[1] मेरा अपना अभिमत है कि जगन्नाथ प्रभृति जो आचार्य 'सुन्दर' या

१. विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों के उपमालक्षणों में भी यही बात चरितार्थ होती है । इनके लक्षण हैं—

स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा ॥ —प्रतापरुद्र० ।
विलसति सति साधर्म्ये स्यादुपमानोपमेययोरुपमा । —एका० ।
साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः । —सा० द० ।
सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः । —रसग० पृ० २०४ ।

'वाक्यार्थोपस्कारक' शब्द का प्रयोग अलकारत्व को बताने के लिये करते हैं, वह उचित नही है क्योंकि सौन्दर्य तो सभी अलकारो का समान तत्त्व है, अत प्रत्येक में उसका प्रयोग अवाञ्छनीय है। उपमान के साधर्म्य को उपमालकार कहा जाता है। समानधर्मों के सम्बन्ध को साधर्म्य कहते है (समानेन धर्मेण सम्बन्धः)। यह सम्बन्ध उपमान और उपमेय में ही सम्भव है। साधारण धर्म प्रतियोगी है जिसके स्वाभाविक अनुयोगी उपमेय तथा उपमान होगे। इस प्रकार 'साधारणधर्मप्रतियोगिकः उपमानोपमेयोभयानुयोगिकः सम्बन्धः' (का० प्र० झलकीकर, पृ० ५४१) यह साधर्म्य का स्वरूप है। अत साधर्म्य शब्द का प्रयोग करने पर लक्षण मे उपमानोपमेय पदो का प्रयोग क्या वाञ्छनीय है ? यह प्रश्न जयरथ तथा समुद्रबन्ध दोनो ने उठाया है।[1] उपमा के लक्षण मे मम्मट ने इन शब्दो का प्रयोग नही किया था।[2] रुय्यक इसका प्रयोग आवश्यक समझते हैं क्योकि उपमा के लिए यह अपेक्षित है कि ऐसे उपमान तथा उपमेय का प्रयोग किया जाए जो उस रूप मे प्रतीत या प्रसिद्ध हो। मुख के साथ कमल की तुलना दी जाती है। कमल प्रतीत उपमान है, कुमुद नही। अतः कुमुदमिव मुखं तस्याः उपमा का उदाहरण नही माना जा सकता है क्योकि कुमुद की मुख के उपमान के रूप में प्रतीति सहृदय को नही हो पाती है। उपमान की अप्रतीति लिंगभेद द्वारा भी हो सकती है। उदाहरणत. बाण के 'कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव' (कादम्बरी, श्लोक सख्या ६) इस श्लोकार्ध मे खल उपमेय है और उसका 'बन्धन-शृखला' उपमान है। 'कटु क्वणन्' साधारण धर्म है। उपमेय खल के साथ इस साधारण धर्म मे लिग-विपर्यय की आवश्यकता नही पडती है किन्तु उपमान बन्धन-शृखला के साथ

---

१. ननूपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं सम्भवति न कार्यकारणादिकयोरिति किं तदुपादानेन ? —वि० पृ० ३१।

ननु साधर्म्यं समानधर्मसम्बन्धः। सचोपमानोपमेययोरेव सम्भवति, न कार्य-कारणादिकयोरिति साधर्म्यमित्यनेनैव गतार्थत्वादुपमानोपमेययोरिति न निर्देष्टव्यम्। —समुद्र० पृ० २२।

२. इन पदों के प्रयोग न करने का औचित्य मम्मट की इन पंक्तियों से जाना जा सकता है—

'उपमानोपमेययोरेव ननु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवति...।'

—का० प्र० दशम उल्लास।

इसमें लिंगभेद आवश्यक हो जाता है। 'क्वणन्तः' के स्थान पर बन्धनशृंखला की दृष्टि से 'क्वणन्त्य.' करना पडेगा। 'क्वणन्तः' के प्रयोग से लिंगभेद होता है। यह दोष उपमान की सहज प्रतीति मे बाधक सिद्ध होता है। अतः इसे भी विमर्शिनी के अनुसार उपमा का सुन्दर उदाहरण नही माना जा सकता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ कविवर्णन का विषय बन सकता है पर सभी को उपमेय कह देना कदाचित् अनुचित होगा। जो वर्ण्य वर्णन की दृष्टि से अनुचित हो वह अप्रतीत रहता है क्योकि सहृदय उसकी उपमेय रूप में अनुभूति नही कर पाता।[1] उपमालकार ऐसे अप्रतीत, अनुचित तथा दोषग्रस्त उपमान और उपमेय के समानधर्माभिसम्बन्ध मे नही माना जा सकता अत. उपमालक्षण में उपमान और उपमेय पदो का ग्रहण आवश्यक है।[2]

उपमानोपमेययोरित्यप्रतीतोपमानोपमेयनिषेधार्थम्।—अ० स० पृ० ३१।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रुय्यक के उपमा लक्षण को सदोष सिद्ध करते हुए अप्रतीत पद पर भी एक अर्थ मे आपत्ति की है, उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि अप्रतीत का प्रयोग कितना आवश्यक था। वस्तुत. प्रतीत के सादृश्य का प्रत्यायन ही सादृश्य का प्रमुख कार्य है। अप्रतीत के प्रत्यायन का सौन्दर्य दूसरे वर्ग के अलंकारो मे पाया जा सकता है किन्तु उपमामूलक अलकारो मे हम अप्रतीत का समादर नही कर सकते है।

उपमातत्त्व

उपमालकार में उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द प्रमुख तत्त्व है। इन पर सक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा। कतिपय आचार्य यह मानते है कि उपमान सदा उपमेय से अधिक या उत्कृष्ट गुण वाला होता है और उपमेय उसकी अपेक्षा हीन या निकृष्ट गुण वाला। मुख की उपमा चन्द्र से इसीलिये अभीष्ट होती है क्योकि कदाचित् चन्द्र अधिक

---

१. उदाहरण के लिए देखिए—वि० पृ० ३१।

२. संजी० का उल्लेख भी इस सम्बन्ध में आवश्यक है—

... प्रसिद्धयोरेवोपमानोपमेययोरलंकारविषयत्वमिति नियमाय। अतो मेरुसर्षपादौ विवक्षया परिकल्पयितु शक्योऽप्युपमानोपमयेभावो नालंकारविषयः। —पृ० ३८।

शोभन है। आचार्य वामन ने उपमेय और उपमान की परिभाषा में यही बात व्यक्त की है—

उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्, यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्। —का० अ० सू० वृत्ति, पृ० ५४।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भी यही मत व्यक्त किया है—

उपमिमीते साधर्म्यं नयतीत्युपमानमप्राकरणिकोऽर्थः। तच्च नियमेनाधिकगुणमेव भवति गुणाधातृत्वात्। उपमीयते साधर्म्यं नीयते इत्युपमेयं प्राकरणिकोऽर्थः। तच्च नियमेनाधेयगुणत्वान्न्यूनगुणमेव भवति। —सजी० पृ० ३८।

सजीविनीकार के अनुसार अप्राकरणिक अर्थ (उपमान) प्राकरणिक अर्थ मे गुण का आधान करता है अत वह नियमत अधिक-गुण होता है और उपमेय सदा न्यून-गुण क्योकि उसमे गुण का आधान होता है। वामन तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती का यह मत अनुचित है। उपमेय के लिए उपमान खोजने की मानसिक प्रक्रिया का यदि हम विश्लेषण करे तो यही प्रतीत होगा कि उपमेय में गुण का आधान करने के लिये कवि प्रवृत्त नही होता है अपितु वह तो अपने उपमेय का सदृश उपमान पाना चाहता है ताकि उपमेय को, उसके समग्र सौन्दर्य को बिम्बविधा से वह बना सके। कालिदास का विरही यक्ष जब अपनी प्रियतमा के रूपसौन्दर्य और भावसौन्दर्य के लिए उपमान खोजने की कल्पना करता है तो पहिले उसे श्यामा लताओ में अङ्ग का सादृश्य दिखाई पडता है, चकित-हरिणी के नेत्र मे दृष्टिपात, चन्द्र में मुख की कान्ति, मयूरो के चित्र विचित्र बर्हभार मे केशपाश, नदी की तरल तरगो मे भ्रूविलास, पर अन्त में उसे अनुभूति होती कि इनका सादृश्य कही एक साथ नही मिला। कवि द्वारा सादृश्यविधान की इस प्रक्रिया और अन्तत उसकी निराशा से स्पष्ट है कि वह उपमेय को न्यूनगुण मानकर नही चला है। वस्तुत उसने जिस लावण्य और सम्पत्ति का साक्षात्कार किया था उसका विशदता के साथ प्रत्यायन उसे अभीष्ट है और यह कार्य वह विभिन्न उपमानो की कविता मे करता है। उपमालकार के अतिरिक्त दूसरे अलकारो के विश्लेषण से तो यह बात और भी स्पष्ट लगती है। उपमेयोपमा को ही ले। यदि उपमान सचमुच उत्कृष्ट गुण वाले होते तो उपमेय को उपमान बनाने की कवि को क्या आवश्यकता थी। अस्तु, यही मानना होगा कि उपमेय की भाव-रूप-सम्पत्ति की सदृश धर्म के माध्यम से स्पष्ट अभिव्यक्ति और साक्षात्कार कराने के लिए ही उपमान प्रकल्पित होता है अतः उसे अधिक-गुण मान लेना नितान्त अनुचित है।

कल्पितोपमा भी उपमा का ही एक भेद है। कतिपय आचार्य इसे भिन्न अलकार मानते है।[1] उपमान के असभावित होने पर असभावितोपमा को भी एक भिन्न अलकार माना गया है पर उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट होजाएगा कि उपमान के ये सारे रूप उपमेय का साक्षात्कार कराने के लिए होते हैं अतः उनका थोडा बहुत भेद होने पर भी, उन्हे उपमा के भिन्न रूप मानने पर भी उपमा से पृथक् अलकार मानना ठीक नही है।

वस्तुत कल्पित अथवा असम्भावित उपमान तथा उपमेय में सादृश्य सम्भव है अत. कल्पितोपमा या असम्भावितोपमा को उपमा से भिन्न अलकार मानना उचित नही है। उपमा में उपमान या उपमेय इन दोनों मे से कोई कल्पित या असम्भावित नही होता इस आधार पर कल्पितोपमा या असम्भावितोपमा को भिन्न अलकार मान लेने पर समुच्चितोपमा आदि को भी पृथक् अलकार मानना पडेगा क्योकि 'समुच्चय' आदि विशेषतत्त्व उनमे भी पाए जाते है। उपमा में द्वितीय सदृश की निवृत्ति नही होती और अनन्वय मे वह होती है। दोनो मे फलभेद है। इस आधार पर जैसे इन दो अलकारो को भिन्न माना जाता है उसी प्रकार कल्पितोपमा में दूसरे उपमान का अभाव प्रतीत होता है क्योकि इसमे उपमेय का ज्ञान उपमानगुणविशिष्ट रूप मे होता है जो उपमा मे नही होता। जयरथ के अनुसार इस प्रकार फलभेद की कल्पना उचित नही है क्योकि उपमेय की प्रतीति उपमालकार मे उपमागुणविशिष्ट रूप में ही होती है अत फलभेद नही माना जा सकता। और फिर जिस प्रकार दृढारोप रूपक में विषय-विषयी का अभेद दृढ बताने के लिए उनमे से किसी एक के धर्म को अधिक या कम बताया जाता है पर प्रतीति अभेद की ही होती है इसी प्रकार कल्पितोपमा मे भी प्रतीति सादृश्य की ही करानी होती है, चमत्कार उसी में होता है। हाँ, चूंकि इसमे साम्यदार्ढ्य का एक विशेष तत्त्व है, अतः इसे उपमा का भेद अवश्य माना जा सकता है। पर थोडे से भेद को लेकर गाय को घोडा तो नही बता सकते। यही जयरथ का आलोचनापूर्ण प्रतिपादन है[2] जिसे

---

१ शोभाकर ने कल्पितोपमा को भिन्न अलंकार माना है 'कल्पितेन कल्पितोपमा' लक्षण के अनुसार काल्पनिक उपमान से उपमेय का काल्पनिक सादृश्य इसका लक्षण है। शोभाकर उपमेय का कल्पित होना नहीं मानते। विमर्शिनीकार के अनुसार दोनों काल्पनिक हो सकते हैं और उनमें से एक का काल्पनिक होना कल्पितोपमा होने के लिए पर्याप्त है।

२. देखिए—वि० पृ० ३६-३७।

पण्डितराज ने दूसरे शब्दो मे इस प्रकार व्यक्त करते हुए अवान्तर विशेष वाले सभी प्रभेदो को सादृश्य-चमत्कार के सामान्य आधार पर उपमा का ही भेद माना है—

परे तु अस्याः कल्पितोपमाया उपमानान्तरभावफलकत्वेनालंकारान्तरतामाहुः। तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्। संनिरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्। उपमानान्तराभावफलकत्व ह्युपमाविशेषत्वे साधकम् नतूपमाबहिर्भावे। — रसग०, पृ० १५८।

उपमान तथा उपमेय के सम्बन्ध में अन्त में एक दो बात कहना और आवश्यक है। एक तो यह कि इन दोनो को भिन्न होना आवश्यक है। रुय्यक के लक्षण मे उपमेय और उपमान पदो का पृथग् उपादान तथा समस्यन्त पद मे द्विवचन का प्रयोग इसी बात की ओर इगित करता है। उद्भट के 'मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोः' का यही अभिप्राय है।[1] कतिपय आलकारिक इस भिन्नता के लिए यह आवश्यक समझते है कि उपमान और उपमेय मे सामान्य-विशेषभाव न हो क्योकि उसके होने पर इनमे भेदाभेद की प्रतीति होगी और सादृश्य के लिए भेद होना आवश्यक है।

साधारण धर्म

धर्म का अर्थ है किसी पदार्थ मे रहने वाला गुण। धर्म सदा पराश्रित होता है उसकी स्वत स्थिति होती है पर पृथग् स्थिति नही होती है। 'धर्म' को साधारण इसलिए कहते है क्योकि यह उपमेय तथा उपमान दोनो मे समान रूप से रहता है। जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के रूप में धर्म या धर्मी चार प्रकार का होता है। कोई भी धर्मी धर्म बन सकता है और कोई भी धर्म धर्मी। जो आश्रय है वह धर्मी है तथा जो आश्रयी है वह धर्म—

धर्मिधर्मभावस्याश्रयाश्रयिभावेन भावात्। —वि० पृ० ३२।

कुछ आलकारिक जैसे कि शोभाकर साधारण धर्म को वैशेषिक दर्शन के अनुसार भाव तथा अभाव के रूप मे दो प्रकार का मानते हैं। भावरूप साधारण धर्म उनके अनुसार जाति, गुण, क्रिया, समवाय तथा विशेष इन पाँच

---

१. गौरिवायं गौरित्यभिधाने तु न प्रवृत्तिनिमित्तभेदः गोत्वस्यैवैकस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् तेनैवंविध उपमानोपमेयभावो न भवति।—लघुवृत्ति, पृ० १९-२० तथा देखिए—काव्यानु० पृ० २८७।

भेदों में बाटा जा सकता है। उनके अनुसार जाति साधारणधर्म है अवश्य, पर वह सादृश्य का निमित्त नही बन सकता। सादृश्य के लिए तरतमरूप विशेष का होना आवश्यक है। जाति या सामान्य एक ऐसा साधारणधर्म है जो इस तरतम को समाप्त कर एकत्व (सामान्य) की प्रतिष्ठा करता है। यह मत उचित नही। जहाँ जातिरूप साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बरूप में निर्देश होता है, वहाँ वह सादृश्य का निमित्त बन सकता है। समवाय तथा विशेष को साधारण धर्म माना गया है किन्तु इन दोनों के नित्यपरोक्ष होने के नाते इन्हे काव्याग नही माना जा सकता। विशेष (अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः) एक ऐसा पदार्थ है जो पदार्थों को एक दूसरे से तथा अपने को भी व्यावृत्त करता है। अत उसे साधारण धर्म मानना अनुचित है। इसी प्रकार समवाय, जिसका कुछ नैयायिक प्रत्यक्ष भी मानते है, एक है।[1] उसे भी जाति की भाँति सादृश्य का निमित्त नही माना जा सकता है। इस प्रकार वैशेषिक-मतानुयायी आलकारिकों के अनुसार भावरूप साधारण धर्म दो प्रकार का है गुण तथा क्रियारूप। शोभाकर ने इसमे धर्ममात्र को भी सम्मिलित किया है।[2] अभावरूप साधारण धर्म को मिलाकर चार प्रकार के साधारण धर्म होगे। वस्तुत वैशेषिक प्रक्रिया का यह अहेतुक अनुसरण अनुचित है। भावाभावरूप मे विभाजन चमत्कारी नही है। रुय्यक ने इसीलिए केवल भावरूप साधारण धर्मों के आधार पर सादृश्य का निर्देश अपने सभी उदाहरणो मे किया है। गुण और क्रिया को सभी ने साधारण धर्म माना है। जाति को साधारण धर्म मानने का निरूपण अभी किया जा चुका है। द्रव्य धर्मी तो है ही, पर कोई भी धर्मी दूसरे धर्मी की दृष्टि से साधारण धर्म बन सकता है अत इसे भी साधारण धर्म मानना उचित होगा। इसी आधार पर किसी को धर्ममात्र कहना असगत है। विमर्शिनीकार का इस सम्बन्ध में आलोचनापूर्ण मन्तव्य उल्लेखनीय है--

. . . . धर्मधर्मिभावस्य न वास्तवत्वम्। जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि

---

१. समवायस्त्वेक एव—तर्कसंग्रह।

२. गुणादेर्धर्ममात्रं साधारणं चारुत्वाचारुत्वादिवदस्त्येव। तस्य च क्वचिद् द्रव्यवर्तित्वेऽपि न गुणत्वम्। गुणानां परिगणितत्वात् गुणक्रियावृत्तित्वाच्च। एवं गुणः क्रिया धर्ममात्रमिति त्रिविधो भावरूपः समानो धर्मः।

—अ० र० पृ० ६।

कदाचिदन्याश्रितत्वे धर्मत्वात् । एवं च तद्‌तिरिक्तं धर्ममात्रमपि साधारणं किंचिद् न वाच्यम् । —वि० पृ० ३२ ।

धर्म तथा धर्मी के इन चारो रूपो के दो उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा ।

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥—रघुवंश, १३ ।

यहाँ 'विभक्त' क्रियापद क्रियारूप धर्म का, 'राम', 'सेतु', 'छायापथ' द्रव्यरूप धर्म के, फेन और तारक जाति रूप धर्म के तथा 'प्रसाद' गुण रूप धर्म के वाचक शब्द है। जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य रूप धर्मी का उदाहरण निम्नलिखित है—

घनोद्यानच्छायामिवमरुपथाद्दावदहना-
तुषाराम्भोवापीमिव विषविपाकादिव सुधाम् ।
प्रवृद्धादुन्मादात् प्रकृतिमिव निस्तीर्य विरहा-
ल्लभेय त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शंकर कदा ॥
—वि० पृ० ३२-३ ।

इस श्लोक मे छाया, वापी, सुधा तथा प्रकृति उपमान है जो जात्यादि-रूप है । मरुपथ, दावाग्नि, विषविपाक तथा उन्माद उपमेय है । उन्हे भी इन्ही चार रूपो मे विभाजित किया जा सकता है, समग्र वाग्विवर्त उसी में आता है—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । —महाभाष्य ।

साधारण धर्म का त्रिविध निर्देश

साधारण धर्म का निर्देश तीन रूपो मे किया जा सकता है—अनुगामी रूप मे, वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप मे तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप मे । जब साधारण धर्म उपमेय तथा उपमान मे एक रूप से रहता है तो उसे अनुगामी कहते हैं । साधारण धर्म एक होने पर भी विभिन्न वाक्यो में भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट रहता है तो उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहा जाता है । यदि उपमेय-वाक्य तथा उपमान-वाक्य में धर्म भिन्न-भिन्न हो तो वह बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव कहलाता है ।[1] रुय्यक ने इस आधार पर उपमा तथा अन्य अनेक

---

१. वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कुछ प्रसिद्ध लक्षण इस प्रकार हैं—
एकस्यैव धर्मस्य वारद्वयमुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः ।
भिन्नयोरेकधर्मयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः ।—एका० पृ० २०५ ।

अलंकारों के भेद किए है जिनका उपबृंहण जयरथ ने किया है।[१] सर्वस्व के सभी टीकाकार इस बात पर सहमत हैं कि रुय्यक ने ही सर्वप्रथम उपमा के इन तीन भेदों की उद्भावना की है।[२] जयरथ ने रुय्यक के सिद्धान्तसूत्र को लेकर प्राय सभी सादृश्यालकारो में साधारण धर्म के इस त्रैविध्य पर आधारित भेदो का सोदाहरण विवेचन किया है।[३] साधारण धर्म का दो प्रकार से निर्देश सम्भव है।[४] एकबार (सकृत्) और अलग-अलग (पृथक् या असकृत्)। पहले को ऐक्यरूपेण या अनुगामितया निर्देश भी कहा जा सकता है। दूसरे को रुय्यक ने वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथक् निर्देश कहा है। इसमें साधारण धर्म का जब दो बार निर्देश होना है तो या तो उन दोनों में शाब्दिक भेद होगा या वास्तविक भेद। जहाँ केवल शाब्दिक भेद होता है वहाँ साधारण धर्म भिन्न इसलिए मालूम पडते है क्योंकि उनके सम्बन्धी भिन्न होते है। जहाँ वास्तविक भेद या स्वरूपभेद होता है वहाँ वस्तुत उन दोनो साधारण धर्मों मे किसी प्रकार की एकता नही होती है, किन्तु सादृश्यप्रत्यायन की इच्छा या कविविवक्षा उनमें एकता का प्रत्यायन करती है। जगन्नाथ ने बिम्बप्रतिबिम्बभाव को इसीलिए सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय कहा है क्योंकि इसमे भेद होने पर भी अभेद का अभिमान होता है।

एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः। वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः। —चित्रमी० पृ० २१।

तथा—

वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः। —कुवलया० पृ० ४।

१. संजीविनी के अनुसार उपमा के पूर्णा, लुप्ता आदि भेदों का भी अन्तर्भाव इन्हीं तीन भेदों में किया जा सकता है—
या यावती सम्भवत्युपमा पूर्णा लुप्ता च सप्रभेदप्रपञ्चा सा सर्वैवास्मद्दर्शितेन वैचित्र्यत्रयेण त्रिधा प्रथते। —सजी०, पृ० ४१।

२. यथासम्भवं प्रकारत्रैविध्यमन्यैरप्रदर्शितं दर्शयति ..। —समुद्र० पृ० २४।

३. एतच्च भेदत्रयं प्रायः सर्वेषामेव सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां जीवितभूतत्वेन सम्भवतीत्यत्र एव तत्र तत्रोदाहरिष्यामः। —वि० पृ० ३४।

४. देखिए—अ० स० पृ० ३३।

उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः । . ... अयमेव बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति प्राचीनैरभिधीयते । —रसग० पृ० १५६ ।

मेरी दृष्टि में वस्तुप्रतिवस्तुभाव मे भी यह भेद कभी कभी होता है। चन्द्र का लावण्य तथा मुख का लावण्य भले ही एक शब्द द्वारा कहा जाए पर कोई भी यह मानने को तैयार न होगा कि दोनो लावण्य एक ही हैं। जहाँ साधारण धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है वहाँ तो उनमे अर्थसाम्य की एकता नही होती है।

तीनों के उदाहरण

'मुखं चन्द्र इव हृद्यम्' मे हृद्यत्व साधारण धर्म है। इसमे एकबार एक ही रूप मे हृद्यत्व का निर्देश है। कालिदास द्वारा उमा के वर्णन में—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥

इस पद्य मे 'पूतत्व' तथा 'विभूषितत्व' दो साधारण धर्म है जिनका समानरूप से उपमेय तथा उपमान से सम्बन्ध है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यद्यपि धर्मी भी दूसरे धर्मी की दृष्टि से धर्म बन सकता है, किन्तु इस प्रथम भेद में ऐक्यरूपेण निर्देश धर्म का ही किया जा सकता है, धर्मी का नही—

तत्रैकरूप्येण निर्देशो धर्मरूपस्यैव। —समुद्र० पृ० २४।

भवभूति (मालतीमाधव) का—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्, आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्याः, गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

यह पद्य वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण है। 'वलित' और 'आवृत्त' दोनों का अर्थ 'मुड़ी हुई' है। इन दो साधारण धर्मों का विभिन्न शब्दों से पृथक् निर्देश हुआ है। यद्यपि दोनो शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं किन्तु उनमे अपने सम्बन्धी 'कन्धरा' तथा 'वृन्त' की दृष्टि से कुछ भेद है ही उसी प्रकार जैसे 'चन्द्रसौन्दर्य' और 'मुखलावण्य' में। दूसरे शब्दो मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव मे साधारण धर्म में भेद उपमेय और उपमान की दृष्टि से आता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव सदा दो धर्मों या दो धर्मियो मे होता है, धर्म और धर्मी मे नही होता। अप्पय्यदीक्षित के अनुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्ध रूप से न होकर केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषण तथा विशेष्य के रूप में रहता है।

स तु शुद्धो न संभवति । किन्तु विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बकरम्बितः । —चित्रमी० पृ० २१ ।

उपर्युक्त उदाहरण में 'वलितत्व', 'आवृत्तत्व' धर्मों मे तो वस्तुप्रतिवस्तुभाव है, किन्तु उनके धर्मी 'आनन' तथा 'शतपत्र' में आपस में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है । दीक्षित के अनुसार यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है ।

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टयोः कन्धरावृन्तयोर्वलितावृत्तशब्दाभ्यामेक एक धर्मो विशेषणतया निर्दिष्टः । —वही, पृ० २२ ।

पर वस्तुत वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धरूप से भी हो सकता है ।

विमलं वदनं तस्या निष्कलंकमृगांकति । —रसग०, पृ० १७५ ।

यहाँ वदन का सादृश्य मृगाक से दिखाया गया है । वदन मे वैमल्य है तथा मृगाक में निष्कलकता । इन दोनों में अन्तर केवल शब्दों का है; अर्थ दोनो का एक ही है । अत इनमे बिम्बप्रतिबिम्बभाव न होकर वस्तुप्रतिवस्तुभाव है और इसी के द्वारा वदन का मृगाक से सादृश्य दिखाया गया है । रसगगाधरकार का भी यही मत है ।[1] बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेष्यरूप में प्रयुक्त वस्तु-प्रतिवस्तुभाव का उदाहरण है—

सा तेन जगृहे साध्वी हठात् साध्वसकम्पिता ।
वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी ॥
—चित्रमी०, पृ० २२ ।

यहाँ साध्वी का सादृश्य वल्लरी से दिखाया गया है । वल्लरी तथा 'वात' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है । तथा कम्पितत्व और धूतत्व में वस्तुप्रतिवस्तु-भाव । यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव का विशेष्य है ।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण है—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्‌गार इवाद्रिराजः ।
—अ० स०, पृ० ३४ ।

यहाँ पाण्ड्य को अद्रिराज के सदृश बताया गया है । पाण्ड्य में हार तथा अगराग धर्म हैं, तथा अद्रिराज के निर्झर और बालातप ये साधारण धर्म

१. देखिए—रसग०, पृ० १७५ ।

असकृदुपात्त हैं तथा इन दोनों में स्वरूपभेद है। एक बिम्ब है, दूसरा प्रतिबिम्ब। यदि वस्तुतः इन दोनों धर्मों में सर्वथा भेद है तो इनके आधार पर सादृश्य कैसे माना जा सकता है और इन्हें साधारण धर्म ही कैसे कहा जा सकता है क्योंकि साधारण धर्म तो तदतद्गामी होता है। उपमा का जीवातु है साधर्म्य पर कही भी कोई दो वस्तु एक नही होती हैं। पर प्रातीतिक एकता दो भिन्न पदार्थों में भी मानी जा सकती है। कवि हार तथा निर्झर इन दो भिन्न धर्मों का निर्देश कर, उपमेय तथा उपमान के परस्पर औपम्य की प्रतिपत्ति के लिए इन दोनो को एक बताना चाहता है। भेद होने पर भी उस की विवक्षा अभेद में है। बिम्ब प्रतिबिम्ब से भिन्न है, किन्तु मानव दर्पण मे अपने मुख को देखकर उसे अपना ही प्रतिबिम्ब मानता है। प्रतिबिम्ब को देखकर उसे कृश या स्थूल होने पर दुख-सुख की अनुभूति होती है। दूसरी वस्तुओ के साथ मानव द्वारा यह स्वात्मा का 'अभिमान' जगत् का अविरत गतिचक्र है। शकर ने इसे अध्यास कहा। शैव दार्शनिक इसे अभिष्वग या राग कहेगा, साख्य इसे पुरुष का अहभाव कहेगा और आलकारिक इस अभेदाभिमान को प्रातीतिक एकता या कवि की अभेदविवक्षा बतलाता है। दुनिया भ्रम में अनजाने पडी है, कवि जानबूझ कर पड़ता है। यही है लोक तथा काव्य का अन्तर। जगत् का कार्य प्रतिबिम्ब को बिम्ब मानकर चलता है। अपने दर्पण मे पड़े कण्ठ-प्रतिबिम्ब को देख कामिनी हार पहिनती है, केशो में कुसुम सजोती है। कवि भी कल्पना की भूमि में 'पाण्ड्य' और 'अद्रिराज' को एक समझता है; अभेद की प्रतीति उसका प्राण ठहरा।

ततश्च धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि प्रतीतावेकतावसायाद्भेदेऽप्यभेदः एवं चात्राभेदविवक्षैव जीवितम्। —वि० पृ० ३५-३६।

'पाण्ड्योऽयमंसार्पित...' को लेकर आलकारिको में एक विवाद चल पड़ा है। अलंकारसारकार (जिनका ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है) का कहना है कि इस पद्य में पाण्ड्य अद्रिराज की भाँति अंगराग उपमेय तथा बालातपउपमान है और गम्यमान धवलता उनका साधारण धर्म है। इस प्रकार धर्मों में भी उपमानोपमेयभाव है और वह बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक है। जहाँ तक धर्मों के बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का प्रश्न है मैं अलकारसार की धारणा से सहमत हूं, किन्तु उपमान और उपमेय होने पर भी पाण्ड्य और अद्रिराज की दृष्टि से इन्हें साधारण धर्म मानना आवश्यक है। साथ ही यह भुलाना न चाहिए कि यहाँ कवि को पाण्ड्य तथा अद्रिराज का औपम्य विवक्षित है। अगराग तथा बालातप की समानधर्मिता अपेक्षित है, किन्तु उनका उपमानोपमेयभाव अप्रासंगिक होने के नाते

इस पद्य को धर्मी (पाण्डय तथा अद्रिराज) की दृष्टि से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण मानना अधिक प्रासंगिक है, संभवतः इसीलिए रुय्यक ने 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धर' (पृ० ३६) मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव बताने के बाद भी एक और स्पष्ट उदाहरण देना (असंकीर्णप्रकटनाशयेन, वि०, पृ० ३४) आवश्यक समझा था ताकि यह बताया जा सके कि बिम्बप्रतिबिम्बभाव दो धर्मों में ही नही अपितु दो धर्मियो में भी होता है। मम्मट,[1] विमर्शिनीकार, सजीविनीकार और समुद्रबन्ध मे इस निष्कर्ष का समर्थन मिलता है।

वस्तुप्रतिवस्तुभावोऽयं धर्मापेक्ष एव । बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तु धर्म्यपेक्षः ।

—सजी०, पृ० ४३।

बिम्बप्रतिबिम्बभावो मिथ. सादृश्यम्, अयन्तु धर्मधर्मिणोरुभयोरपि भवति ।

—समुद्र०, पृ० २५।

दो धर्मियो में आपस मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव सम्भव है। वाक्यार्थोपमा मे भी दो धर्मियो का साम्य निर्दिष्ट रहता है फिर बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमा और वाक्यार्थोपमा मे क्या भेद है? जयरथ ने इन दोनो का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि वाक्यार्थोपमा मे धर्मी परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और उन परस्पर सम्बद्ध धर्मियो का उसी प्रकार के धर्मियो से जब साम्य होता है तो वाक्यार्थोपमा होती है।[2]

जनयित्र्याः कुलाल्याश्च रुक्मिण्या विदितोऽभवत् ।
रत्नसूतेर्भुजंग्याश्च प्रच्छन्न इव शेवधिः ॥

—वि० पृ० ३४।

वाक्यार्थ के विश्लेषण से इसमे जनयित्री (जननी) तथा रत्नसूति उपमेय तथा उपमान मालूम पड़ते हैं दोनो ही धर्मी हैं जो आपस में सम्बन्धित हैं। यह धर्मी का परस्पर साम्य है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव ऐसे धर्मों का होता है जो धर्मी में वैशिष्ट्य का आधान करने के लिए उन्मुख होते हैं।

बिम्बप्रतिबिम्बभावो पुनर्धर्मविशेषप्रतिपादनोन्मुखानां धर्माणां भवति ।

—वि० पृ० ३५।

---

१. मम्मट के 'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्' की व्याख्याएं देखिए।

२. सा चानेकेषां धर्मिणां परस्परावच्छिन्नानां तादृशैरेव धर्मिभिः साम्ये भवति......। —वि० पृ० ३४।

उदाहरणतः 'पाण्ड्योऽमंसार्पित'—पद्य में हार तथा अंगराग का उपादान इन्दुमतीप्रेम के आलम्बन विभाव पाण्ड्य में वैशिष्ट्य लाने के लिए किया गया है। अद्रिराज के बालातप तथा निर्झर धर्मों की पाण्ड्य में वैशिष्ट्य-प्रतीति कराने के लिए उत्सुक हार तथा अंगराग के साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव है अत. बिम्बप्रतिबिम्बभाव धर्मों का होता है, वाक्यार्थोपमा धर्मियो के परस्पर साम्य मे होती है। जहाँ तक बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमा तथा धर्मसाम्यमूलक वाक्यार्थोपमा के अन्तर बताने का प्रश्न है, विमर्शिनी का यह प्रतिपादन उचित है किन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभाव को केवल धर्मों में मानना उचित नही। विमर्शिनीकार ने भी दृष्टान्तप्रकरण मे यह स्वीकार किया है—

> अतश्च धर्माणां धर्मिणां च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देशेऽयमलंकारः।
> —वि० पृ० ९६।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट साधारण धर्म दो प्रकार का हो सकता है, सादृश्य-निर्वाहक तथा तदुत्कर्षक—

> तस्मात् कश्चिद्धर्मः सादृश्यनिर्वाहकः कश्चित्तु तदुत्कर्षकः।
> —अलकारकौस्तुभ, पृ० ४७।

उपर्युक्त उदाहरण में यह सादृश्यनिर्वाहक है क्योकि पाण्ड्य तथा अद्रिराज का सादृश्य अन्य किसी प्रकार से सगत नही।

अप्पय्यदीक्षित अनुगामी साधारण धर्मों के अतिरिक्त बिम्बप्रतिबिम्बभावादि से निर्दिष्ट अन्य साधारण धर्मों को केवल वाच्य मानते हैं अत· उनके अनुसार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य नही हो सकता। वस्तुत. बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए यह आवश्यक नही है कि उसका शब्द द्वारा उपादान हो, वह-अर्थगम्य भी हो सकता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के समान सादृश्यनिर्वाहक तथा सादृश्योत्कर्षक भेद से दो प्रकार का माना जा सकता है।

रुय्यक के साधारण धर्म के त्रैविध्य को विद्यानाथ, विद्याधर तथा विश्वनाथ आदि ने स्वीकार किया है। अप्पय्यदीक्षित ने इस त्रैविध्य के अतिरिक्त साधारण धर्म के अन्य भेद भी माने हैं। ये श्लेष, उपचार तथा समास हैं।[1] श्लेष को सभी स्थितियों में (विशेषकर केवल शब्दसाम्य की

---

१. देखिए—चित्रमीमांसा, पृ० २१।

स्थिति में) सादृश्य का आधार मानना मेरी दृष्टि में अनुचित है। उपचार के द्वारा उपमेय तथा उपमान में सादृश्य सम्भव है। विकास यद्यपि कमल का धर्म है पर उसका वर्णन नेत्रविकास में होता है। गौणी लक्षणा सादृश्यमूला होती है, अत: उस पर आधारित भेद सादृश्य के प्रत्यायक हो सकते हैं। समासभेद तभी सादृश्य का आधार माना जाना चाहिए जब कि उसमें अर्थसम्बन्धी सादृश्य हो। केवल शब्दसादृश्य को लेकर समासभेद को प्रत्येक दशा में सादृश्य का आधार मानना उचित नही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारण धर्म के इन तीनों भेदो तथा उनके उपभेदो के अतिरिक्त उपचरित तथा केवलशब्दात्मक धर्म के आधार पर भी उपमा के भेद माने हैं।

तत्र क्वचिदनुगाम्येव धर्मः, क्वचिदसन्नप्युपचरितः, क्वचिच्च केवल-शब्दात्मकः। —रसग०, पृ० १७४।

तथा—

तृतीयोऽपि त्रिविधः–विशेषणमात्रयोर्विशेष्यमात्रयोस्तद्युगलयोर्वा वस्तु-प्रतिवस्तुभावेन कल्पितः। —वही।

इन भेदो के सम्बन्ध में, जिसका अन्यत्र सूक्ष्म प्रतिपादन इन आचार्यों ने किया है, मेरा केवल इतना निवेदन अवश्य है कि जहाँ केवल शाब्दिक साम्य हो, विशेषण, उपचार, समास आदि के शब्द आधार पर ही जहा साम्य दिखाई पड़ता हो उसे औपम्य की कल्पना में स्वीकार करना उचित नही। शब्द-साम्य का समग्र सौन्दर्य शब्दालकारो के वर्ग में ही रखना चाहिए। अस्तु, जबतक अर्थ द्वारा उत्पन्न, शब्द उसमे निश्चित ही सहायक होगा, सादृश्य प्रतीति का विषय न बनें तब तक अर्थालंकार उपमा आदि मानना उचित नही है। इसी आधार पर श्लेष, उपचार, समास आदि के भेदो पर आपातत: शब्दोत्पादित साम्य में मैं उपमा आदि अर्थालकार मानना अनुचित समझता हूँ।

उपमालक्षण की वृत्ति में सर्वस्वकार ने 'अर्थालंकारप्रकरणमिदम्'[1] लिखकर तथा श्लेषप्रकरण में 'न गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम्' कहकर यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि शब्दसाम्य को उपमा-सादृश्य का

---

१. समुद्रबन्ध की इस पर व्याख्या उल्लेख्य है—
अर्थालंकारप्रकरणमिदमित्यनेनोपमादेर्भोजेनोक्तमुभयालंकारत्वं, शब्दसाम्ये रुद्रटस्याभिमतं शब्दालंकारत्वमर्थश्लेषादेश्च काव्यप्रकाशकारोक्तं शब्दालंकारत्वं च निरस्यति। —समुद्र०, पृ० २३।

प्रयोजक मानना अनुचित है। रुय्यक की इस मान्यता का अनुसरण करते हुए विद्यानाथ ने उपमा की परिभाषा में 'धर्मतः' शब्द का सन्निवेश किया है। धर्मतः पद की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है—

धर्मत इत्यनेन श्लेषालंकारवैलक्षण्यम्। श्लेषे शब्दसाम्यमात्रमभ्युपगतं न गुणक्रियासाम्यम्। —प्रताप०, पृ० २५५।

इसी प्रकार प्राचीन आचार्य भामह, वामन आदि द्वारा उपमालक्षण मे 'गुणलेश' शब्द का सन्निवेश इस बात का द्योतक है कि केवल शब्द-साम्य के आधार पर सादृश्य सम्भव नही है।

उपमावाचक

उपमा का तीसरा तत्त्व है—प्रतिपादक, द्योतक या वाचक शब्द जैसे कि 'इव', 'यथा', 'वा', 'तुल्यादि'। इन शब्दो की उपस्थिति से उपमान की उपमानतया प्रतीति सहज सम्भव हो जाती है अत द्योतक शब्दो को उपमान-विशेषण कहा गया है—**उपमानं उपमानतया विशिंषन्ति व्यवच्छिन्दन्ति।**[1] इन्हे उपमान का भेदक भी कहा जा सकता है। वस्तुत द्योतक शब्दो का साक्षात् सम्बन्ध उपमान से ही होता है, जिनसे उपमा श्रौती या शाब्दी कहलाती है।

यथेवैवादयो हि शब्दाः यतः पराः प्रयुज्यन्ते तस्यैव शब्दस्यार्थं उपमानतया नियमेन प्रतीयत इति उपमानस्यैव भेदका एते, उपमेयाभिसंबंधस्त्वार्थं इति यद्यपि प्रतिभासस्तथापि साधर्म्यस्यैकत्वात् शब्देनैव साधर्म्यं प्रतिपादयन्ति। —सम्प्रदाय०, पृ० २५३।

जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति दो मे विद्यमान सम्बन्ध को सुनते ही बता देती है उसी प्रकार इव, वा शब्द उपमेय और उपमान के सम्बन्ध को स्वभावत. सुनते ही बता देते है। इस सम्बन्ध मे एक श्लोक है—

भेदकत्वेऽपि नियते षष्ठीवदिववादयः।
द्विष्ठं श्रुत्यैव सम्बन्धं गमयन्ति स्वभावतः॥ —वही।

इव के अर्थ में जहाँ पाणिनि के सूत्र (तत्र तस्येव, ५-१-११६) के अनुसार वति होता है वहाँ भी उपमा को श्रौती ही माना जाता है किन्तु तुल्य आदि उपमाप्रतिपादक शब्दों के प्रयोग में जहाँ इन शब्दों का नियमतः किसीएक का विशेषण होना नहीं पाया जाता है वहाँ उपमा को आर्थी माना जाता है। 'तेनेद

---

१. देखिए—सा० चू० पृ० २५३।

तुल्यम्', 'तत् तुल्यमस्य' तथा 'इदं च तच्च तुल्यम्' तुल्य शब्द से इन तीन प्रकार के प्रयोगो मे तुल्य शब्द क्रमशः उपमेय, उपमान तथा उभय के विशेषणरूप में आया हैं अत. तुल्य, सदृश, सन्निभ आदि ऐसे उपमावाचक शब्द हैं जो नियमतः किसी के विशेषण नही होते हैं अतएव इनके द्वारा औपम्य की प्रतीति शाब्द न मानकर आर्थ ही मानी जाती है। इन शब्दों का दण्डी ने सविस्तार उल्लेख किया हैं।[1]

भेदोपभेद

उपमा के तीनो तत्त्व (१) उपमान-उपमेय (२) साधारण धर्म तथा (३) द्योतक शब्द का जब निर्देश होता है तो पूर्णोपमा होती है।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाद्योतकानामुपादाने पूर्णा।

—समुद्र० पृ० २२।

इनमें से किसी के निर्देश न रहने पर लुप्ता।[2] पूर्णा, लुप्ता आदि उपमा के अनेक भेदोपभेद भरत से लेकर अर्वाचीनतम आलकारिको ने किए हैं।

अस्याश्च पूर्णालुप्तात्वभेदाश्चिरन्तनैर्बहुधित्वमुक्तम्।

—अ० स० पृ० ३३।

किन्तु इन भेदोपभेदो का उपबृंहण रुय्यक ने उचित न समझा था।[3] सम्भवत. यह सभी भेदजाल साधारण धर्म के त्रिविध वैचित्र्य की चारुता से बढकर नही है। इनकी गणना मे कोई वैचित्र्य या मौलिकता के लिए स्थान भी नही है कदाचित् इसीलिए रुय्यक ने भेदोपभेद की चर्चा नही की है—

एवं चैतेषां गणने तथा न वैचित्र्यं किञ्चित्। —वि० पृ० ३३।

उपमा के भेदोपभेद का इतिहास भरत से ही प्रारम्भ हो गया था। उस सारे इतिहास या उसके स्वरूप की चर्चा मुझे नही करनी है तथापि रुय्यक से पूर्व तक का कुछ उल्लेख कदाचित् आवश्यक है ताकि हम उपमा-प्रपच की रूपरेखा से थोड़ा बहुत परिचित हो सकें जो दूसरे अलकारों का विकास समझने के लिए उपयोगी है। भरत ने प्रशसा०, निन्दा०, कल्पिता०,

---

१. काव्यादर्श, २५७-६५।

२. एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता। —समुद्र० पृ० २३।

३. अतश्च किमस्माकं तदाविष्करणेन। —वि० पृ० ३३।

सदृशी० तथा किंचित् सदृशी० के भेद से उपमा को पांच प्रकार का माना था।[1] भामह ने (१) यथा इव आदि शब्दों के प्रयोग पर आधारित, (२) समासगा और (३) वति प्रत्यय से युक्त क्रियासामान्यवाली उपमा इस प्रकार तीन भेद माने हैं। उपमा का सबसे अधिक विस्तार दण्डी ने किया था जिन्होने इसके ३० से ऊपर भेदो का निर्देश किया है। परवर्ती आचार्यों ने उपमा के जिन भेदो की प्रकल्पना की है उनसे ये भेद नही मिलते हैं। दण्डी की विपर्यासोपमा, अन्योयोपमा, मोहोपमा, सशयोपमा तथा प्रतिवस्तूपमा नाम के उपमाभेदो मे बाद के क्रमश. प्रतीप, उपमेयोपमा, भ्रान्तिमान्, सन्देह तथा प्रतिवस्तूपमा अलकारो का स्वरूप समाविष्ट है। उनकी निर्णयोपमा को ही बाद के आलकारिको ने निश्चय नामक अलकार मान लिया है। वामन ने सर्वप्रथम लौकिकी तथा कल्पिता के रूप में उपमा को दो प्रकार का माना है। इनके पदवृत्ति तथा वाक्यवृत्ति के रूप मे दो भेद है। वामन ने पूर्णा तथा लुप्ता का भी सकेत किया है पर इनके भेदोपभेद मे वे नही गए है। उद्भट ने सर्वप्रथम व्याकरण के आधार पर उपमा का भेद-प्रभेद किया है। उन्ही के आधार पर बाद के आलकारिक मम्मट आदि ने इन समग्र भेदो का निरूपण किया है। उद्भट ने उपमा के कुल कितने भेद माने है इस सम्बन्ध मे उनके टीकाकार परस्पर सहमत नही हैं। प्रतीहारेदुराज के अनुसार उद्भट को उपमा के सत्रह भेद अभीष्ट है जबकि तिलक के अनुसार इक्कीस। मम्मट ने उपमा का जो कुछ प्रपञ्च उनके समय तक हो चुका था उसे व्यवस्थित रूप मे अपने काव्यप्रकाश में स्थान दिया है। इनके अनुसार उपमा के कुल भेद पच्चीस है, पूर्णा के छह तथा लुप्ता के उन्नीस। बाद में विश्वनाथ ने १९ के स्थान पर लुप्ता के २१ भेद मानकर उपमाभेदो की सख्या २७ तक पहुँचा दी थी। पण्डितराज के समय तक उपमाभेद की यह परम्परा बत्तीस तक पहुँच गई थी —

एवं च द्वात्रिंशद्भेदाः। —रसग०, पृ० २२२।

मम्मट के अनुसार उपमाभेदो की तालिका निम्नलिखित है—

पूर्णा के ६ भेद—श्रौती पूर्णा ३ (वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा)।
आर्थी पूर्णा ३ (वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा)।

लुप्ता के १९ भेद—श्रौती धर्मलुप्ता २ (वाक्यगा, समासगा)।
आर्थी धर्मलुप्ता ३ (वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा)।

1. ना० शा० १७।५० ।

उपमानलुप्ता २ (वाक्यगा, समासगा) केवल आर्थी ।

वादिलुप्त ६ (समास १, क्यच् २, क्यङ् १, तथा णमुल् २, में होने वाली)—केवल आर्थी ।

धर्मवादिलुप्ता २ (क्विप् तथा समास में)—केवल आर्थी ।

धर्मोपमानलुप्ता २ (समास तथा वाक्य मे)—केवल आर्थी ।

वाद्युपमेयलुप्ता १ (क्यच् मे)—केवल आर्थी ।

त्रिलोपा अथवा वादिधर्मोपमानलुप्ता १ (समास मे)—केवल आर्थी ।

पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा विश्वेश्वर आदि ने तो इसके अनेक आधारो पर भेद कर डाले है जिनकी चर्चा यहाँ प्रासङ्गिक नही है। अलकारशास्त्र का प्रथम आचार्य भामह ही इसके भेदोपभेद की स्थिति और सम्भावना से ऊबने लगा था तभी तो उसने कहा था—मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा । —२।३८ ।

उपमामूलक अलंकार : अनन्वय

भामह ने सर्वप्रथम इस अलकार का नामतः उल्लेख किया है। इसके पूर्व भरत की सदृशी उपमा तथा दण्डी की असाधारणोपमा मे इसका स्वरूप मिलता है। रुद्रट ने आगे चलकर पुनः इसे उपमा का ही भेद माना। उद्भट ने अनन्वय की परिभाषा यह दी है—

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥—६।७।

वामन ने भामह या उद्भट की भाँति अपनी परिभाषा में 'असादृश्यविवक्षा'[1] या इसी के समान 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' पद का सन्निवेश करना उचित नही समझा। उनका लक्षण है—

एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः। —का० अ० सू० ४।३।१४।

यही लक्षण रुय्यक, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनाथ, दीक्षित आदि अनेक आचार्यों को अभिमत है। वे अनन्वय की परिभाषा मे भामह, रुद्रट या जगन्नाथ की भाँति 'असादृश्यविवक्षा' इस तत्त्व का समावेश करना उचित नही समझते। इन सभी के अनुसार एक वस्तु का ही उपमेय तथा उपमान होना अनन्वय का पर्याप्त लक्षण है। 'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वे' कहने से ही 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' का भी अर्थात् समावेश हो जाता है अतः इन शब्दो का प्रयोग वस्तुतः अनावश्यक है। 'एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गो द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः' से रुय्यक का यही मन्तव्य है। अनन्वय शब्द भी इस अलकार के स्वरूप को (यद्यपि पूरी तरह से नही) बताता है। अनन्वय का अर्थ है सम्बन्ध का न होना। एक उपमेय को ही उपमान बताने का अर्थ है कि इसका (किसी दूसरी से) अन्वय या सम्बन्ध सम्भव नही है।[2]

---

1. इसका अर्थ है जिसके समान दूसरा नहीं है—नान्यत् तत्र (? तस्य) सदृशम्। —विवृति, पृ० ५०।
2. सदृशान्तरस्यानन्वयः। —संजी०।
सदृशान्वयाभावात्। —समुद्र०।
दीक्षित का कथन है: 'धर्मैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इत्यन्वर्थं नाम'। —चित्रमी० पृ० ४६।

एकस्यैव सिद्धसाध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वयः सम्बन्धो यत्र स तथोक्तः। —वि० ३८।

एक ही का उपमेय और उपमान—सिद्ध तथा साध्य होना—असगत भी है। इस असंगति के कारण भी इस अलकार को अनन्वय कहना उचित है। सम्भवत· रुय्यक का यही अभिप्राय है।

एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गः द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः। अत एवानन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति। —अ० स० पृ० ३८।

सादृश्य सदा दो भिन्न वस्तुओ मे रहता है। यह द्विष्ठ धर्म है। अनन्वय मे उपमेय तथा उपमान एक ही होता है। फिर इस अलकार को सादृश्यमूलक कैसे कहा जा सकता है ?

सादृश्यस्योभयनिष्ठत्वेनैव संभवादेकस्य च तदभावात्। कथमिहातदा-श्रयस्याप्यस्य वचनम् ? —वि० पृ० ३८।

अनन्वय मे उपमेय तथा उपमान होता एक ही है किन्तु उन दोनो के लिए दो शब्दो का सदा प्रयोग होता है। जैसेकि अर्जुनः अर्जुन इव। एक ही अर्थ रखने वाले शब्दो का प्रयोग दो वस्तुओ का आभास दे देते हैं।[1] अत· यद्यपि इस अलकार मे वस्तुनिष्ठ भिन्नता नही होती पर शब्दकृत भेद अवश्य होता है। अत· अनन्वय मे हम शाब्दिक सादृश्य मान सकते है—

इत्थं शाब्दमेव सादृश्यानुगममाश्रित्येहास्य लक्षणम्। —वही।

सजीविनीकार ने अनन्वय की सादृश्यमूलकता सिद्ध करने के लिए इसी बात को दूसरी तरह से कहा है। उन्होने उपमेय के लिए आए शब्द को वाच्यदृष्टि से तथा उपमान के लिए आए हुए शब्द को व्यग्यार्थ की दृष्टि से भिन्न भिन्न

मम्मट 'संबन्धाभाव' के कारण इस नाम की सार्थकता समझते हैं। रुय्यक और दीक्षित के अनुसार अनन्वय की चरितार्थता 'अनन्वितत्व' के कारण है।

१. एक एवार्थः शब्देन द्विरभिहितो भिन्नवदवभासते। तस्मादर्जुनोऽर्जुन इवेत्यादौ एकस्यैवार्जुनशब्दद्वयस्य शब्दवाच्याकारपर्यालोचनेन भेदावभासात् पूर्वनिर्दिष्टस्य साधर्म्यादिरूपस्यानुगमः संबन्धो वेदितव्यः।

—समुद्र० पृ० २६।

माना है ।[1] उदाहरणतः 'अर्जुनः अर्जुन इव' इसमें प्रथम अर्जुन शब्द का (उपमेय का) प्रयोग युधिष्ठिर के भाई अर्जुन व्यक्ति को बताने के लिए किया गया है। दूसरा अर्जुन शब्द शौर्य आदि गुणो का प्रतीक है। इस प्रकार उपमेय और उपमान के लिए एक शब्द रहने पर भी अर्थ-भेद को लेकर वस्तुभेद माना जा सकता है और इस प्रकार उन दो वस्तुओ मे सादृश्य रह सकता है। पुनश्च सादृश्य अन्तत. दो वस्तुओ की एकता का प्रतिपादन करता है, यदि यह एकता एक को ही उपमेय तथा उपमान बताने से सिद्ध हो जाती है तो हम उसे सहज एकता भी कह सकते हैं। दो शब्दो का उपादान यही सिद्ध करता है कि शब्दभेद की उपाधि रहने पर भी वस्तुत द्वितीय सदृश वस्तु सम्भव ही नही है। यही इस अलकार का जीवातु है—

एवं चास्य द्वितीसब्रह्मचारिनिवृत्तिरेवालंकारत्वप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । —वही ।

यदि द्वितीय सब्रह्मचारि अथवा दूसरी सदृश वस्तु की निवृत्ति या सदृशान्तर के व्यवच्छेद की प्रतीति नही होती तो वहाँ अनन्वय अलकार नही माना जा सकता है।

तस्याश्रयैव परिपालयतः प्रजा मे कर्णोपकण्ठपलितंकरिणी जरेयम् ।
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सोऽयमद्यापि तन्मयि गुरोर्गुरुपक्षपातः ॥

इस उदाहरण मे वृद्ध तथा शिशु राजा को गुरु द्वारा दिए गए अनुशासन की दृष्टि से एक ही बताने की चेष्टा की गई है। पर इससे यह प्रतीति नही होती कि राजा के अतिरिक्त दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति नही है जिस पर किसी गुरु ने इस प्रकार अनुशासन किया हो, अत इस उदाहरण मे अनन्वय अलकार नही माना जा सकता।

द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यभावान्नायमलंकारः ।—वि० पृ० ३८ ।

---

१. पूर्वरूपमुपमेयत्वम् । तदनुगमो वाच्याभिप्रायेण यत् पुनरपूर्वरूपमुपमानत्वं तदनुगमो व्यंग्याभिप्रायेण । —सञी०, पृ० ४३ ।
रुय्यक के 'वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपावगमः' की एक व्याख्याकार ने इसी अभिप्राय से यह टीका की है।
अन्ये तु पूर्वमुपमानोपमेययोरेकतरप्रतिपादनायोपात्तस्य...वाच्याभिप्रायेण वाच्यस्यार्जुनादेः शब्दभेदोपाधिकभेदप्रतिभासापनयनेन वास्तवस्यैकत्वस्य स्फुटप्रतिपत्तिमभिप्रेत्य क्रियते... । —समुद्र० पृ० २६ ।

शोभाकर ने अनन्वय के तीन भेद किए हैं—

१. उपमेय को उपमान बनाकर सादृश्यकल्पना ।

२. उपमेय के एकदेश को उपमा मानकर साधर्म्य-कल्पना ।

३. तथा उपमेय को उसके प्रतिबिम्ब आदि के द्वारा भिन्न मानकर साधर्म्यकल्पना । इनमें से अन्तिम दो भेदो मे उपमानान्तरनिषेध की प्रतीति व्यग्य ही होती है, वाच्य नही, और अनन्वय अलकार वही होता है जहाँ यह प्रतीति वाच्य हो अतः अन्तिम दो भेदो को अनन्वय अलकार मानना उचित नही है ।

अस्य ह्य पमानान्तरनिषेधपर्यवसायि अभिधीयमानमेकस्यैवोपमानोपमेयत्वं स्वरूपम् । —वि० पृ० २६ ।

चूकि वाच्य अनन्वय को अनन्वयध्वनि से भिन्न मानना आवश्यक है[1] अत स्पष्ट है कि शोभाकर का अन्तिम दो भेदों पर आधृत अनन्वय वाच्यालकार नही माना जा सकता है । शोभाकर के—

तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन वानन्वयः । —अ० र० सू० पृ० ६, में निर्दिष्ट अनन्वय-लक्षण का इसी आधार पर जयरथ ने खण्डन किया है । जगन्नाथ इस सम्बन्ध में जयरथ से सर्वथा सहमत हैं ।[2]

अनन्वय और लाटानुप्रास

लाटानुप्रास उभयालकार है और अनन्वय अर्थालंकार । पहिले का चमत्कार शब्दार्थ की पुनरुक्ति या अनुप्रास[3] पर अवलम्बित है तो दूसरे का अर्थ पर या यो कहिए उपमानान्तर के व्यवच्छेद पर । कवि का उद्देश्य इस प्रकार इन अलंकारो मे भिन्न है और सहृदय की चमत्कारानुभूति का हेतु फलत. भिन्न है । अनन्वय मे उपमान और उपमेय की निर्बाध ऐक्य प्रतीति कराने के लिए

१. देखिए—वि० पृ० ३८-३६; तथा रसग० पृ० २०६-२०८ ।

२. विमर्शिनीकार के इस मत को रुय्यक का समझकर जगन्नाथ ने इसकी आलोचना की है । इससे मेरी इस धारणा को बल मिलता है कि पंडितराज ने न तो शोभाकर का अलंकाररत्नाकर देखा था न रुय्यक का अलंकारसर्वस्व और न जयरथ की विमर्शिनी । अवश्य ही इन तीनों आचार्यों के मतों से वे परिचित हैं जो इन्हें परम्परया प्राप्त हुए थे ।

३. चमत्कारस्त्वत्रानुप्रासकृतोऽवसेयः । —वि० पृ० १६ ।

कवि दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करता है जैसे कि 'अर्जुनः अर्जुन इव' मे। पर उसे शब्दपुनरुक्ति के चारुत्व से यहाँ प्रयोजन नहीं। असादृश्यविवक्षा के लिए अर्थ की पुनरुक्ति पर्याप्त है, शब्दैक्य इसलिए अनन्वय का स्वरूप या लक्षण नही, वह केवल आनुषगिक है जिसे जयरथ के शब्दों में कहेगे कि वह 'साक्षात् प्रयोजक' नही है। शब्दैक्य के बिना भी अनन्वय का प्रतिपादन सम्भव है।[1] अनन्वय मे शब्दभेद के कारण एकत्वप्रतीति में[2] विघ्न या विलम्ब[3] हो सकता है, उद्देश्य तथा प्रतिनिर्देश की एकरूपता नही रह सकती अतः इस दोष[4] से (जिसे पारिभाषिक शब्दो मे पर्यायप्रक्रमभंग कहते हैं) बचने के लिए शब्दैक्य का प्रयोग उचित है[5] पर इसका महत्त्व वस्तुतः केवल अभावात्मक है। शब्दैक्य लाटानुप्रास का साक्षात् लक्षण है पर अनन्वय का केवल आगन्तुक या आनुषगिक। पहला परस्परसापेक्ष[6] शब्दार्थ पर अवलम्बित है तो दूसरा अर्थ-पौनरुक्त्य पर जो अन्ततः उपमानान्तर के व्यवच्छेद का माध्यम है।

अन्योन्यापेक्षया शब्दार्थगतत्वेनार्थमात्रगतत्वेन च व्यवस्थितेर्भिन्नविषयत्वात्।
—अ० स० पृ० २६।

लाटानुप्रास और अनन्वय का भेद रुय्यक द्वारा उद्धृत इस प्रसिद्ध श्लोक मे इस प्रकार प्रतिपादित है—

अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषंगिकम्।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम्॥—वही।

अनन्वय और असमालंकार

सम्भवतः सर्वप्रथम शोभाकर ने इस अलकार का निरूपण किया है।

---

१. देखिए—वि० पृ० २६।

२. . अन्य इवाभासमाना अनन्वयप्रतीतिं विघ्नयन्तीति शब्दैक्याभावो नौचित्यमावहति न पुनरनन्वयस्याभावात्। —वहीं।

३. शब्दभेदेन अर्थान्तरतया प्रतिभासादुपमानोपमेययोरेकत्वप्रतीतिविलम्बः स्यात्। —समुद्र० पृ० १६।

४. तत्र यद्यप्यर्थपौनरुक्त्यं लक्षणमथापि शब्दपौनरुक्त्यं दोषभयादंगीक्रियत एव। —संजी० पृ० ३५ तथा देखिए—नि० का०।

५. देखिए—एका० पृ० १६३ तथा उसपर तरल टीका।

६. परस्परमपेक्षितयोः शब्दार्थयोः लाटानुप्रासः। अनन्वयस्त्वर्थमात्रपौनरुक्त्यम्।

उनके अनुसार उपमान का असम्भवरूप में प्रतिपादन असमालंकार है—

तद्विरहोऽसमः। —अ० र० सू० १०।

तथा

उपमानस्य विरहोऽसम्भवस्तत्प्रतिपादनमसमाख्योऽलंकारः।

—अ० र० पृ० ११।

इनके अनुसार लुप्तोपमा वही होती है जहाँ सम्भव उपमान का अनुपादान हो पर असम में उपमान की असम्भवता का वर्णन होता है अत. लुप्तोपमा में इसका अन्तर्भाव नही किया जा सकता।

यत्रोपमानस्य न संभवोऽस्ति तत्रासमः स्यादुपमा न लुप्ता।

संभाव्यमानस्य सतः समानधर्मादिकस्य त्वनुदीरणे सा॥—वहीं।

जगन्नाथ ने भी इसे पृथक् अलकार मानकर इसकी परिभाषा निम्नलिखित की है—

सर्वथैवोपमानिषेधः असमाख्योऽलंकारः। —रसग० पृ० २१०।

इनके अनुसार असमालकार मे सदृशान्तर का आत्यन्तिक निषेध होता है। उपमानलुप्ता या लुप्तोपमा में केवल क्वाचित्क निपेध। अतः उपमान का सर्वथा निषेध होने के नाते इसे उपमाप्रभेद के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है—

आत्यन्तिकः क्वाचित्कश्च सदृशनिषेधोऽसमोपमानलुप्तयोर्विषयः। सर्वथैवोपमानिषेधेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानान्नोपमागन्धोऽपि। —वहीं।

जहाँ तक असम और लुप्तोपमा के भिन्न होने का प्रश्न है इन आचार्यों का कथन तर्कसंगत है पर असम को अनन्वय से भी भिन्न बताना उचित नही है। 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' की प्रतीति कराने के लिए कवि की जो चित्तवृत्ति होती है वही उपमानान्तर का निषेध करने में, अत. अनन्वय और असम को भिन्न अलकार मानना उचित नही। अनन्वय में जिस प्रकार केवल स्वसादृश्य वाच्य होता है उसी प्रकार असम में भी सदृशान्तर के आत्यन्तिक निषेध द्वारा परम्परया स्वसादृश्य की ही प्रतीति होती है। अतएव प्राचीन आलंकारिकों का यह मत ही ठीक है कि असम एक भिन्न अलकार नही है—

प्राञ्चस्तु नेदमलंकारान्तरम् .....। —रसग० पृ० २१२।

उपमामूलक अलंकार : उपमेयोपमा

यह भी बहुत प्राचीन अलकार है। इसका निर्देश भामह से ही प्राप्त होता है। दण्डी ने उपमेयोपमा को अन्योन्योपमा कहकर उपमा के अन्तर्गत रखा है। नाम जो भी रखें पर उपमा मे इसका अन्तर्भाव उचित नही है। यह सादृश्य-मूलक अलकार अवश्य है। भामह ने उपमेयोपमा के नाम से ही (३।३७) इसका प्रतिपादन किया है। इनकी परिभाषा का प्रभाव मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर तथा विश्वनाथ पर है। विश्वनाथ की परिभाषा रुय्यक की परिभाषा से सर्वथा मिलती है। उद्भट, रुद्रट तथा जगन्नाथ की परिभाषाओं में 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' के तत्त्व का भी समावेश है। अनन्वय में द्वितीयसदृश के व्यवच्छेद की प्रतीत होती है; इस अलंकार मे तृतीयसदृश के व्यवच्छेद की।[1] उपमान और उपमेय का क्रमश उपमेय और उपमान होना—उपमेयेनोपमा—यह बताता है कि एक उपमेय का उपमान दूसरे के अलावा तीसरा नही है। उपमेयोपमा शब्द से इस प्रकार उपमानान्तर के तिरस्कार की प्रतीति स्वभावतः हो जाती है अत. तृतीयसदृशव्यच्छेद पद का लक्षण में निवेश अनावश्यक है।

अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम्। अतएवोपमेयेनोपमा इत्यस्या अन्वर्थाभिधानम्। —वि० पृ० ४०।

जहाँ उपमानान्तर के तिरस्कार की प्रतीति नही होती वहाँ यह अलंकार नहीं माना जा सकता है। शोभाकर ने

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति च दिनानि सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥
—अ० र० पृ० १८।

इस उदाहरण में उपमेयोपमा मानी है, क्योकि इनके अनुसार सविता उपमेय का उपमान निशाकर ही हो सकता है और निशाकर का सविता ही। इसी

---

१. एकेन धर्मेण एकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपितेऽपरप्रतियोगिकस्य एकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्यार्थतः सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्वमैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति —रसग० पृ० १६५।

प्रकार दिन और यामिनी परस्पर उपमेय तथा उपमान हैं। पर इस श्लोक में यह प्रतीति नही होती कि सविता तथा निशाकर का अथवा दिन और यामिनी का कोई दूसरा उपमान हो ही नही सकता। यहाँ केवल प्रतीति इतनी ही होती है कि सुख में उत्ताप सूर्य शीतल सुधाकर मालूम पड़ता है; दु.ख में सुधाकर तपनशील सूर्य बन जाता है। सुख-दु:ख मे प्रकृति भी सहायक या विरोधिनी बन जाती है। अत: इसे उपमेयोपमा का उदाहरण मानना समीचीन नहीं, क्योंकि उपमानान्तर का तिरस्कार यहाँ कविविवक्षा का विषय नही है। यही जयरथ का मत है

न ह्यत्र विधुसवित्रादीनामुपमानान्तरतिरस्करणं विवक्षितं किन्तु सुखदु:ख-वशीकृतमनसामेवं विपरीतं भवतीति। —वि० पृ० ४०

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रकार अनन्वय में 'द्वितीयसदृश-व्यवच्छेद' या इसी प्रकार के किसी दूसरे पद का लक्षण मे निवेश आवश्यक है उसी प्रकार उपमेयोपमा के लक्षण मे 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' या इसीके समान पद का निवेश आवश्यक है अन्यथा इसकी परस्परोपमा मे अतिव्याप्ति होगी। अतएव उद्भट, रुद्रट और जगन्नाथ के लक्षण ठीक हैं। अप्पय्यदीक्षित ने युग-पदुपमा[1] का अन्तर्भाव इस अलकार मे करना चाहा है, पर यह उचित नहीं। 'रामरावणौ मिथस्तुल्यौ' युगपदुपमा के इस उदाहरण मे 'तृतीयसदृश-व्यवच्छेद' की प्रतीति नही होती। इस प्रतीति के लिए यह आवश्यक है कि दो में सादृश्य देने के बाद तीसरे सादृश्य की सम्भावना को समाप्त किया जाए। युगपदुपमा के उपर्युक्त उदाहरण को उपमेयोपमा का बनने के लिए यह आवश्यक था कि राम रावण को समान बताने के बाद रावण के सादृश्य के लिए पुन: राम का उपादान होता। पर यहाँ तो प्रतीति दोनो के समान प्रतियोगी होने की है। यह परस्पर प्रतियोगिता, जिसे चित्रमीमासाकार ने भी युगपदुपमा में माना है,[2] उपमेयोपमा का जीवातु नही है अतः इसमें युगपदुपमा का अन्तर्भाव करना उचित न होगा।

उपमानान्तर का तिरस्कार सादृश्यमूलक होना चाहिए अन्यथा उपमेयो-पमा को अलकार नही माना जा सकता है। दण्डी की नियतोपमा[3] में सादृश्य का वर्णन न होने के नाते उसे उपमेयोपमा में नहीं रखा जा सकता।

---

१. चित्रमी० पृ० ४३।

२. देखिए—चित्रमी० पृ० ४३।

३. काव्यादर्श, २।१६।

वाक्यभेद

उपमेयोपमा में दो वस्तुओं की परस्पर उपमा दी जाती है, अत. दो वाक्य होना आवश्यक है। पर यह वाक्यभेद कही तो श्रौत हो सकता है और कही आर्थ। जहाँ उपमान तथा उपमेय की उपमानता और उपमेयता शब्दत. उपात्त हो, वहाँ श्रौत और जहाँ दोनों में एक का उपादान अर्थलभ्य हो वहाँ. वाक्यभेद आर्थ होगा। उदाहरण के लिए—

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ।। —वि० पु०३६।

इसमे भूतल की तरह आकाश को और आकाश की तरह भूतल को बताते हुए, ये दो वाक्य शब्दत उपात्त है। पर

भवत्पादाश्रयादेव गंगा भक्तिश्च शाश्वती ।
इतरेतरगादश्यसुभगामेति वन्द्यताम् ।। —वही ।

इस उदाहरण मे 'गगा और भक्ति वन्दनीय है' इस प्रकार वाक्य तो एक अवश्य है पर अर्थ पर ध्यान देने से गगा भक्ति की भाँति वन्दनीय है और भक्ति गगा की भाँति वन्दनीय है, इन दो वाक्यो की प्रतीति होती है। अत: इसमे वाक्यभेद आर्थ है। 'नयनद्वय परस्परात्मना तुलनामुदञ्चति' इस छोटे से एक वाक्य में अर्थ की दृष्टि से दो वाक्य है। एक नयन दूसरे नयन के समान है, और दूसरा पहिले के समान।

शब्दैक्य आनुषंगिक

मेरी दृष्टि में अनन्वय की भाँति उपमेयोपमा में भी एक ही शब्दो का होना उचित है। **'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला'** कहने से परस्पर उपमानापमेय-भाव की प्रतीति शीघ्रतया होती है। **'कमलेव मतिर्बुद्धिरिव लक्ष्मीः'** कहने से यह प्रतीति शीघ्र नही हो पाती। अत एक ही प्रकार के शब्दो का होना औचित्य की दृष्टि से आवश्यक है, परन्तु अपरिहार्य नही।

त्रिविध भेद

उपमेयोपमा में कहीं तो साधारण धर्म का निर्देश न होगा, जैसेकि **'खमिव जलं जलमिव खम्'** में। जहाँ निर्देश होगा, वहाँ साधारण धर्म या तो अनुगामितया या वस्तुप्रतिवस्तुभाव से या बिम्बप्रतिबिम्बभाव से होगा। मम्मट

का 'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला' आदि धर्म के अनुगामितया निर्देश का उदाहरण है। इसमें 'विभाति' यह क्रिया-रूप साधारण धर्म सभी के लिए एक-सा निर्दिष्ट है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के क्रमशः उदाहरण हैं। 'खमिव जलं जलमिव खं' तथा 'सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाम्बुजाः।'[1]

रुय्यक द्वारा उपमाप्रकरण में सामान्यतया संकेतित तथा जयरथ द्वारा उपबृंहित उपर्युक्त त्रिविध भेदों के आधार पर परवर्ती आलंकारिक जगन्नाथ तथा अप्पय्यदीक्षित ने भेदोपभेद का विस्तार किया है।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ४०।

उपमामूलक अलंकार : स्मरण

इस अलकार का प्रारम्भ रुद्रट के समय से होता है। बाद के सभी प्रमुख आलंकारिकों को यह मान्य है। शोभाकर ने इसका नाम स्मरण न रख स्मृति रखा है। अप्पय्यदीक्षित भी इसे स्मृति ही कहते हैं। जयरथ ने अलकारोदाहरण मे 'स्मृति' नाम से ही इसका उल्लेख किया है।

परिभाषा

रुय्यक ने 'सदृशवस्तु के अनुभव से दूसरी सदृश वस्तु का स्मरण' इस अलकार का लक्षण किया है। इसका प्रभाव शोभाकर, विद्याधर तथा विश्वनाथ आदि के लक्षणो में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्मरण के पूर्व मानसिक प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से गुजरती है (अ) अतीत काल में किसी वस्तु का अनुभव,[1] (ब) उस अनुभव द्वारा उत्पन्न सस्कार तथा (स) सदृशवस्तु के अनुभव से पुन उस सस्कार का उद्‌बोध। यही मानसिक प्रक्रिया स्मरणालकार के मूल मे भी है। तार्किक बुद्धि या ज्ञान को दो प्रकार का मानते हैं—स्मृति तथा अनुभव। स्मृति सस्कार से उत्पन्न होती है और अनुभव संस्कारजन्य नही होता।

जगन्नाथ का कथन है कि स्मरणालकार के लिए यह आवश्यक नही है कि सदृशान्तर वस्तु का स्मरण केवल सदृश वस्तु के अनुभव से ही हो, कभी सदृश वस्तु के स्मरण से उद्‌बुद्ध संस्कार भी 'स्मरण' को जन्म दे सकता है। उदाहरणत. चातक को देखकर कवि को मेघ का स्मरण हो जाता है और यह स्मरण मेघश्यामल कृष्ण की स्मृति जगा देता है। रसगगाधर के अनुसार अनुभव-स्मरण-स्मरण यह प्रक्रिया भी इस अलकार की सीमा में आती है। स्मरणालंकार सदृशवस्तु के अनुभव से भी हो सकता है और स्मरण से भी। इसी दृष्टि से जगन्नाथ के अनुसार स्मरण के लक्षण में अनुभव शब्द के स्थान पर ज्ञान शब्द का प्रयोग आवश्यक है। इसी आधार पर उन्होंने रुय्यक की परिभाषा का खण्डन भी किया है।[2] सदृश के स्मरण से सदृशान्तर के स्मरण

---

१. अनुभव शब्द का प्रयोग 'दर्शन' (मम्मट) की अपेक्षा उचित है। केवल दर्शन को स्मरणालंकार का आधार मानना उचित नहीं क्योंकि श्रवण आदि अनुभव के अन्य प्रकार भी स्मरण के कारण होते हैं।

२. देखिए—रसग० पृ० २२१-२२।

की मानसिक प्रक्रिया तो होती है, इससे किसी को कोई आपत्ति नही होगी पर सादृश्यविधान की दृष्टि से अनुभूयमान से स्मर्यमाण में चमत्कार अधिक प्रतीत होता है, उतना चमत्कार स्मर्यमाण से स्मर्यमाण के सादृश्य-विधान में नही रहता। अतः मेरी दृष्टि से स्मरणालकार वही मानना चाहिए, जहाँ अनुभूयमान-स्मर्यमाण में सादृश्य विवक्षित हो।

स्मरणालंकार की सादृश्यमूलकता

स्मृति न केवल सदृशवस्तु के अनुभव से अपितु अदृष्ट चिन्ता आदि अनेक कारणो से उत्पन्न हो सकती है—

सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।

भोज ने चिन्ता आदि को भी इस अलकार का आधार माना है। साहित्य-दर्पण में राघवानन्द महापात्र के मत का उल्लेख है। वे भी वैसादृश्य से इस अलकार को मानते थे।[1] पर स्मरण मे चमत्कार का आधार सादृश्य है। चिन्ता या सम्बन्धिज्ञान से उत्पन्न स्मृति को इसलिए स्मरणालंकार नही माना जा सकता। यदि गोदावरी नदी को देखकर राम को सीता के साथ बिताए हुए पुराने दिनो की स्मृति आ जाती है तो उसमे सदृशानुभव न होने से स्मरणालकार नही माना जा सकता। अतः

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥

रघुवंश, १३।३५।

[यहाँ (गोदावरी के पास) मैं शिकार से लौटता था, लहरो की हवा से मेरी थकावट दूर होती थी और एकान्त मे तुम्हारी गोद मे सिर रखकर वेतस के घर में मैं सो जाता था—यह याद कर रहा हूँ]

रघुवंश के उपर्युक्त उदाहरण में तथा

स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः॥

कुमारसम्भव (६।३) के इस पद्य में स्मरणालंकार नहीं माना जा सकता

---

१. राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात् स्मृतिमपि स्मरणालंकारमिच्छन्ति।
—सा० द० पृ० ५२१।

क्योंकि सादृश्य के बिना स्मृति को स्मरणालंकार मानना रुय्यक को कदापि अभिमत नहीं है।

साहश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः। —अ० स० पृ० १४।

परवर्ती आलंकारिकपरम्परा उनकी इस मान्यता से सहमत है।

सादृश्यव्यतिरिक्तं स्मरणं न कश्चिदलंकारः। —अ० र० पृ० २३।

अयं चालंकारिकाणां सम्प्रदायो यत् सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलंकारः। —रसग० पृ० २१०।

सादृश्य-विधान के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है जिसमें एक उपमेय होता है और दूसरा उपमान। स्मरणालंकार में अनुभूयमान तथा स्मर्यमाण दो वस्तुएँ होती हैं। इनमें से कौन उपमेय है और कौन उपमान? सर्वस्व के अनुसार

अतिशयितसुरासुरप्रभावं शिशुमवलोक्य तवैव तुल्यरूपम्।
कुशिकसुतमखद्विषां समाजे धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि॥
—उत्तरराम० ४।४।

[देव तथा दानव से अधिक पराक्रमी, राम के समान ही रूप वाले बालक को देखकर, विश्वामित्र के यज्ञ से द्वेष रखने वाले राक्षसों का विनाश करने के लिए धनुष धारण किए हुए राम का मुझे स्मरण हो आता है]

इस उदाहरण में अनुभूयमान लव उपमेय है और स्मर्यमाण राम उपमान। दूसरा उदाहरण देखिए। मेघ को देख विरही यक्ष कहता है—

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः,
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥
—मेघदूत, २।१४।

यहाँ सामने खड़ा अनुभूयमान मेघ उपमान है और स्मर्यमाण क्रीडाशैल उपमेय है। अतः दोनों वस्तुओं में कोई भी उपमेय या उपमान बन सकता है। अस्तु, अनुभूयमान से स्मर्यमाण का या स्मर्यमाण से अनुभूयमान का सादृश्यविधान किया जा सकता है। यह जयरथ का अभिमत है—

अतश्च स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमयमलंकारः। यदुक्तम्—

यथा दृश्येन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणगा ।
स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेयं दृश्यगामिनी ॥—वि० पृ० ४१ ।

इस प्रकार रुय्यक के अनुसार प्रस्तुत तथा स्मर्यमाण मे उपमानोपमेय-भाव या सादृश्य आवश्यक है । सदृश वस्तु को देखकर स्मरण सदृश वस्तु का ही होना चाहिए 'वस्त्वन्तरं सदृशमेव', पर जगन्नाथ के अनुसार यह आवश्यक नही ।

एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्पमालोक्य मंगरगतं कुरुवीरसैन्यम् ।
सस्मार तल्पमहिपुगवकायकान्तं निद्रां च योगकलितां भगवान् मुकुन्दः ॥
—रसग० पृ० २१६ ।

पण्डितराज के अनुसार इस उदाहरण में हमे प्रथम दो वस्तुओ—पयोधि तथा सैन्य—मे सादृश्य का ज्ञान होता है और तब उनके सादृश्यज्ञान के आधार पर तल्प का, तथा उसके सम्बन्ध से निद्रा का स्मरण होता है । अतः इसमे सदृश वस्तु को देखकर सदृश-विषयक स्मरण नही है । जगन्नाथ की परिभाषा वस्तुत सदोष है । सदृश वस्तु के अनुभव से दूसरी सदृश वस्तु की स्मृति को ही स्मरणालकार माना जा सकता है । अत. जगन्नाथ के स्मरण-लक्षण में सदृश-विषयकं स्मरणं या इसी प्रकार के दूसरे पद का समावेश आवश्यक है ।

स्मरण तथा अन्य अलंकार

भाव के चार रूप हैं ।(अ) रमण-रमणी के अतिरिक्त रति का विषय जब देवता, नृप, साधु आदि होते हैं, (ब) रति के विषय रमण-रमणी होने पर भी जब वह पुष्ट नही हो पाती है, (स) रति के अतिरिक्त अन्य स्थायिभाव भी जब रसदशा को नही पहुँचते, तथा (द) प्रधानरूप से व्यञ्जित व्यभिचारी भाव[1] इन भावो का तीन रूप से निबन्धन हो सकता है । कही तो ये प्रधान रस की अभिव्यक्ति मे सहायता करते है, कही रस की अपेक्षा स्वय प्रधान बन जाते है और कही अग बने रहते है । अन्तिम स्थिति में प्रेयान् अलकार होता है ।

---

१ (अ) देवतादिविषये व्यञ्जितो रत्यादिरपि भावः । —सजी० पृ० २०७
(ब) कान्तादिविषयाप्यपुष्टा रतिः ।
(स) हासादयश्चाप्राप्तरसावस्थाः ।
(द) व्यभिचारी तथाञ्चितः ।

(१) इह हि निर्वेदादीनां त्रयी गतिः। तत्र 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति नीत्या रसव्यञ्जकत्वमेका गतिः।

(२) क्वचिदपि 'मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन' इति नीत्या राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद्विभावानुभावव्यञ्जितानां रसगुणीभावे प्राधान्यम्।

(३) क्वचिदपि अपरस्यांगमिति नीत्यैषामंगत्वे प्राधान्याभावादलंकारत्वम्। —वि० पृ० २३४-३५।

व्यभिचारिभावों में एक स्मृति भी है। यदि यह स्मृति सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी आधार से उत्पन्न होती है तो प्रेयान् अलकार होता है। प्रेयान् अलकार मे स्मृति एक सचारी भाव है, जो किसी रसादि का अग होती है। और इस स्मृति का उपादान भी शब्दत नही होना चाहिए। स्मरणालकार मे 'स्मरामि' या 'संस्मार' जैसे पदो का प्रयोग साधारणतया होता है। इन पदो का प्रयोग न होने पर भी सादृश्य के आधार पर स्मरणालकार शोभाकर के अनुसार हो सकता है।

सादृश्यनिमित्तस्यापि स्वशब्दानुपात्तस्य स्मरणस्य औपम्यसामर्थ्यलभ्यत्वेनालंकारतयाऽभिधानम्। —अ० र० पृ० २३।

प्रेयान् अलकार मे तो इन पदो का प्रयोग सर्वथा अनपेक्षित है क्योकि केवल व्यग्य स्मृति ही इसका विषय बन सकती है।

प्रेयोऽलंकारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः। ..तत्रापि विभावाद्यागूरितत्वे न स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे।—अ० स० पृ० ४२।

जहाँ स्मृति का उत्थान सादृश्य के आधार पर नही होता पर उसका शब्दत प्रतिपादन होता है वहाँ न तो स्मरणालकार होगा, न प्रेयान्, वहाँ केवल वस्तुवर्णन मानना चाहिए। 'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तः' इसी प्रकार का उदाहरण है। रुय्यक की उपर्युक्त मान्यता जगन्नाथ को भी अभिमत है।[1]

जैसाकि प्रारम्भ में बताया गया है इस अलकार का प्रारम्भ रुद्रट से होता है। भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन आदि आचार्यो ने इसका निरूपण नही किया है। सम्भवत इनमे से कुछ आचार्य इस अलकार के तत्त्वों का अन्तर्भाव प्रेयान्, अनुमान, विशेष तथा काव्यलिंग जैसे अलकारो मे से किसी एक या अनेक में करते थे। रुय्यक ने सम्भवतः इसीलिए इन अलकारो से

१. देखिए—रसग० पृ० २२०-२२१।

स्मरण का भेद बताना आवश्यक समझा था। अनुमान में एक वस्तु को देख कर दूसरे का ज्ञान होता है। पर उसमें सदृश वस्तु को देखकर सदृशान्तर का स्मरण होना आवश्यक नहीं है।[1] 'गौ' को देखकर उसके समान गवय का स्मरण होना व्याप्ति (अविनाभाव) की प्रक्रिया में नहीं आता है। 'गौ' और 'गवय' का न तो तादात्म्य सम्बन्ध है जैसे कि कृतकत्व और अनित्यत्व का और न उनमें धूमवह्नि जैसा नित्यसाहचर्य ही है। विशेषालकार में सदृश वस्त्वन्तर का अनुभव अवश्य होता है पर चमत्कार उसके स्मरण में न होकर असम्भाव्य कार्य या वस्तु के सम्पादन मे होता है।

> यैर्दृष्टोऽसि तदा ललाटपतितप्रासप्रहारो युधि,
> स्फीतास्रक्स्रुतिपाटलीकृतपुरोभाग : परान् पातयन्।
> तेषां दुःसहकालदेहदहनप्रोद्भूतनेत्रानल—
> ज्वालालीभरभास्वरे स्मररिपावस्तंगतं कौतुकम्।
>
> —अ० स० पृ० ४२।

[जिन्होने भी उस समय युद्ध में बरछे के प्रहार को भाल में पाए हुए और खून के स्फीत धाराप्रवाह से लाल शरीरवाले तुम्हे शत्रु को मारते हुए देखा है उनकी उत्सुकता कामदेव के शरीर को भस्म करने के लिए उत्पन्न नेत्राग्नि के ज्वालावलय से प्रदीप्त कामारि (शिव) का दर्शन करने को नहीं रह गई है।]

विशेषालकार के इस उदाहरण मे शस्त्रों के घाव से भरे और रुधिरसने राजा का शत्रुविदारण जैसे कठिन कार्य को देख कामारि शिव की याद तो अवश्य आई है पर चमत्कार भगवद्दर्शनरूप अर्थ मे है।[2] इसमे स्मृति सादृश्य-मूलक अवश्य है पर वह वाक्य का प्रधान अर्थ नही है। इसी विशेषालकार को उद्भट तथा उनके अनुयायी काव्यलिंग कहते हैं। स्मरणालंकार का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है।

---

१. नेदमनुमानम्। सदृशमनुभूय सदृशमेव स्मर्यत इति नियमाभावात्। सदृशादर्शनेन विसदृशस्यापि स्मरणसंभवात्। —एका० पृ० २१०।

२. अत्र त्वद्दर्शनमभिलषतां जनानां न त्वद्दर्शनावाप्तिरेवाभूत् यावत्तेषाम-सम्भाव्यं भगवद्दर्शनमपि जातमित्यशक्यवस्त्वन्तरकरणम्।···· विशेषा-लंकारस्य हि अशक्यवस्त्वन्तरकरणं रूपम् ...।

—वि० पृ० ४२-४३।

त्रिविध भेद

साधारण धर्म का अनुगामितया निर्देश (जैसेकि उपर्युक्त 'अतिशयित-सुरासुरप्रभावम्' में अतिशयितसुरासुरप्रभाव, तुल्यरूप तथा धृतधनुष में) तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव से तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश के आधार पर साधारणधर्ममूलक तीन भेद हैं। अन्तिम दो भेदो के उदाहरण है—

सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः।
कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणं मुरारेः॥
—बि० पृ० ४१।

इसमें 'सोल्लास' तथा 'सलील' दोनो धर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव-रूप हैं क्योकि उनमे केवल सम्बन्धिभेद से भिन्नता है अन्यथा वे एक है।

पूर्णेन्दुना मेघलवांकितेन त्वां मुदितां सुन्दरि वीक्षमाणः।
विवाहहोमानलधूमलेखामिलत्कपोलां भवतीं स्मरामि। —वही।

यहाँ मेघलव-धूमलेखा तथा आकाश-कपोल मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ ने भी इन भेदो का निरूपण किया है।

उपमा से लेकर स्मरण तक के अलंकारो मे सादृश्यविधान की दृष्टि से एक वस्तु समान रूप से विद्यमान है और वह एक वस्तु के धर्म अथवा धर्मों को अन्यत्र खोजने की प्रक्रिया है। उपमा, उपमेयोपमा तथा स्मरण में इस प्रक्रिया मे सफलता मिलती है। अत इनमें अन्य वस्तु तथा प्रस्तुत वस्तु के अन्य धर्मों के आधार पर वैधर्म्यप्रतीति भी होती है। अनन्वय तथा उसी के प्रभेद असम मे इस प्रक्रिया को सफलता नही मिलती अत इनमे कोई ऐसे अन्य धर्म नही रहते जिनके आधार पर वैधर्म्य-प्रतीति हो। इन सभी अलकारों मे भेद तथा अभेद दोनो की प्रधानता या समानता रहती है।

उपमामूलक अलंकार : रूपक

उपमा की भाँति रूपक भी प्राचीनतम अलकारों मे से है। भरत ने उसे अपने चार अलकारो में गिनाया है। उनके अनुसार नाना द्रव्यो के अनुषग आदि द्वारा जो गुणाश्रय औपम्य रूप की निर्वर्णना से युक्त होता है उसे रूपक कहा जाता है। इस लक्षण का अनुषग शब्द ही बाद में उपरजन शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होने लगा। रूपक के लक्षण मे भरत ने स्वविकल्पो द्वारा विरचित होना, तुल्यावयव से स्वरूपघटित होना तथा किंचित् सादृश्य से सम्पन्नता बताई है।[1] भामह ने उपमान द्वारा उपमेयतत्त्व की गुणसाम्य के आधार पर रूपण की प्रक्रिया को रूपक बताया था और इस प्रकार भरत की अपेक्षा रूपण-विधा के विश्लेषण की दृष्टि से उनका लक्षण अधिक स्पष्ट है।[2] उपमा के साथ इसका सम्बन्ध कितना निकट का है यह बात दण्डी के लक्षण मे स्पष्ट है।[3] उद्भट ने रूपक के सम्बन्ध मे बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह कि रूपक मे एक पद का दूसरे पद के साथ योग होता है। यह योग शब्दतः तो दोनो के सम्बन्ध को स्पष्ट नही करता है किन्तु अर्थत दो पदो का योग होने पर एक पद प्रधान होता है और दूसरा गुणवृत्ति अर्थात् गुणभाव और प्रधानता मे धर्मशील।[4] अनुषङ्गत यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रुय्यक ने उद्भट का अनेकत्र अनुसरण करने पर भी रूपक के स्वरूप-निरूपण मे दण्डी का ही अनुगमन किया है। भरत ने तुल्यावयव की जो बात कही थी कदाचित् उसी की मान्यता उद्भट ने रूपक में गुणो की तुल्यता की चर्चा से की है। अस्तु, भामह से लेकर अर्वाचीनतम

---

१ नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्।
स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित साहश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्॥—ना०शा० १६।५७-५८।

२. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः। —भामहालकार, २।२१।

३. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। —काव्यादर्श।

४. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥ —का० अ० सं०।

आलंकारिक इसे मानते आए हैं। दण्डी ने तो अपह्नुति, आक्षेप और व्यतिरेक अलंकारों का अन्तर्भाव भी रूपक में किया है।

'चन्द्र इव मुखम्' में जिस सादृश्य की प्रतीति होती है उसमें मुख तथा चन्द्र दोनों की प्रतीति की प्रधानता है। मुख चन्द्र से भिन्न है और अभिन्न भी। यह भेदाभेदप्रतीति आगे चलकर अभेद-प्रतीति या तादूप्य मे परिणत हो जाती है। कतिपय आलंकारिक अभेदप्रतीति के स्थान पर तादूप्य शब्द का प्रयोग करते हैं।[1] उनके अनुसार आरोप मे तादूप्यप्रतीति होती है और अध्यवसान में अभेद-प्रतीति। पर इस प्रकार का दोनों मे भेद करना वाञ्छनीय नहीं है। रूपक की प्रतीति को अभेद-प्रतीति भी कहा जा सकता है और तादूप्यप्रतीति भी।[2] उपमागत प्रतीति से इसका भेद करने के लिए अभेदप्रतीति कहना अच्छा है, और अध्यवसानमूलक प्रतीति से भेद करने के लिए इसे तादूप्यप्रतीति कहना समीचीन है।

अभेदप्रतीति की प्रक्रिया

'मुख चन्द्र' कहने पर सहृदय को दोनों मे अभेद की प्रतीति होती है। इसका आधार आरोप है। प्रकृत उदाहरण मे मुख विषय है और चन्द्र विषयी। विषयी चन्द्र का मुख पर आरोप है। इस प्रकार एक (प्रकृत) का दूसरे (अप्रकृत) के रूप से रूपित होना आरोप है। 'अन्यत्रान्यावापः' रुय्यक के इस आरोपलक्षण का खण्डन करने के लिए शोभाकर पूछते है कि आरोप मे एक शब्द, जैसे कि मुख मे शब्दान्तर जैसे कि चन्द्र, का आरोप होता है या एक अर्थ में अर्थान्तर का। शोभाकर के अनुसार 'मुखं चन्द्रः' मे न तो शब्द मे शब्दान्तर का और न अर्थ मे अर्थान्तर का ही आरोप मान जा सकता है।[3] 'मुखं चन्द्रः' में शब्द मे शब्दान्तर का आरोप तो अवश्य नहीं होता पर अर्थ मे अर्थान्तर का आरोप

---

१. अभेदारोप एव रूपकमिति काव्यप्रदीपः। अन्ये तु . . .. तादूरूप्यमेव रूपकमित्याहुः। —अलंकारकौस्तुभ, पृ० २०६।

२. तादूरूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेदः—इति चेत् न वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्। —चित्रमी० पृ० ५२।

३. शोभाकर द्वारा रुय्यक के आरोपलक्षण के खण्डन के लिए देखिए—अ०र० पृ० ३२।

मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।[1] शुक्तिका में ही रजत का आरोप होता है पर यह आरोप सदा बिना किसी प्रयोजन के स्वरसतः होता है अतः यह आरोप भ्रान्तिमूलक है पर कवि मुख पर चन्द्र का आरोप करता है तो उसे भ्रान्ति नही होती। सहृदय को जो अभेदप्रतीति होती है वह भी भ्रान्त नहीं होती। कवि मुख तथा चन्द्र के सौन्दर्य मे अभेदप्रतीति या अतिसाम्य बताने के एक प्रयोजनविशेष से ही आरोप करता है।

स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न तु भ्रान्त्या। —वि० पृ० ४४।

आरोप करने की शैली में भले ही भ्रम का भाव हो पर ज्ञान भ्रम नहीं बनता।

प्रतिपादनभ्रमोऽयं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिः।

शुक्तिका मे जब रजत का आरोप होता है उस समय प्रमाता को इन दोनो पदार्थों की भिन्नता का ज्ञान नही रहता, पर मुख में चन्द्र का आरोप करने वाले कवि को तथा उसका अनुभव करनेवाले सहृदय को यह मालूम रहता है कि विषय मुख विषयी चन्द्र से भिन्न है। अत. 'मुखं चन्द्रः' में चन्द्र से मुख, रजत से शुक्तिका की भाँति, आच्छादित नही होता। अभेदप्रतीति होने पर भी भेदसद्भाव बना रहता है। इस दृष्टि से रुय्यक का आरोपलक्षण युक्तियुक्त है। शोभाकर ने आरोप की परिभाषा निम्नलिखित दी है—

भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देश आरोपः। —अ० र० पृ० ३२।

दो भिन्न वस्तुओं का समानविभक्तिक निर्देश उनके अनुसार आरोप होता है। यह लक्षण सर्वथा सदोष है। आरोप के लिए यह आवश्यक नही है कि समान-विभक्तिक निर्देश ही हो।

याताः कणादतां केचिदपरे विन्ध्यवासिताम्।
शबरस्वामितामन्ये शास्त्रकारास्तवारयः॥
—अ० र० पृ० ३७।

इस उदाहरण में शत्रु पर कणाद आदि होने का आरोप है। विषय शत्रु का निर्देश प्रथमा विभक्ति में हुआ है और विषयी कणाद आदि का

१. इस सम्बन्ध में आलंकारिकों के विभिन्न मतों का हेमचन्द्र ने इस प्रकार उल्लेख किया है—
अत्र च केचिच्छब्दारोपपूर्वकमर्थारोपं ब्रुवते। अपरे विपर्ययम्, अन्ये यौगपद्ये नोभयम्। एष एव च युक्तः पक्षः। —काव्यानु० पृ० २९९।

द्वितीया मे । अत· इनमें सामानाधिकरण्येन निर्देश नहीं है । यदि शोभाकर के अनुसार इसमें आर्थ सामानाधिकरण्य मान भी लिया जाए तब भी उनकी परिभाषा तो अव्याप्त ही रहती है; क्योंकि उसमें शाब्द तथा आर्थ इन दो विभागो का निर्देश तो है नही । इसके अतिरिक्त 'नीलमुत्पलम्' इस उदाहरण को देखिए । इसमें दो भिन्न वस्तुओ नील गुण तथा उत्पल जाति का समान-विभक्तिक निर्देश है पर क्या इसमे आरोप माना जा सकता है ? शोभाकर का आरोप-लक्षण इस प्रकार अतिव्याप्त भी है । उनकी परिभाषा में असम्भव दोष भी है क्योकि दो भिन्न वस्तुओ का कभी भी समानविभक्तिक निर्देश शब्दत नही होता है । जयरथ ने इन्ही दोषों के कारण शोभाकर की परिभाषा को सर्वथा त्याज्य माना है ।

आरोप और लक्षणा

कतिपय प्राचीन आचार्यों के अनुसार (जिनमें अलकारभाष्यकार मुख्य हैं, जिनका ग्रथ अभीतक उपलब्ध नही हो पाया है) रूपक या अभेदप्रतीति की प्रक्रिया के मूल में सारोपा लक्षणा है ।[1] लक्षणा के दो भेद है गौणी तथा शुद्धा । गौणी सारोपा लक्षणा सादृश्यमूलक है। 'गौर्वाहीक.' इसमें वाहीक को बैल, उन दोनो मे विद्यमान गुणों के साम्य को लेकर कहा गया है । शुद्धा सारोपा लक्षणा का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' है । घी को आयु, सादृश्य के आधार पर नही, अपितु अन्य सम्बन्ध (अतिशयकार्यकारित्व) के आधार पर बताया गया है । यदि सारोपा लक्षणा रूपक के मूल में है तो यह अलंकार न केवल सादृश्य से अपितु सम्बन्धान्तर से भी माना जाना चाहिए । शोभाकर ने अलंकारभाष्य की 'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम्' इस मान्यता का पूर्ण समर्थन किया है । इनके अनुसार रूढा लक्षणा मे तो प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ नही हो सकता । व्यंग्यार्थ का पुट न रहने से चारुता नही होती, और इसके बिना रसपरि-पोषकता नही आती । अत. रूढा लक्षणा को किसी भी अलकार का मूल नही माना जा सकता । प्रयोजनवती लक्षणा मे व्यंग्यार्थ का पुट और उससे उत्पन्न चारुता तथा रसपरिपोषकता होने के नाते, उसे रूपक का आधार मानना चाहिए ।[2] यह लक्षणा सादृश्य तथा सम्बन्धान्तर दोनों से होती है । अतः तन्मूलक

---

१. लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम् ।
—अलंकारभाष्य वि० पृ० ४४ पर उद्धृत ।

२. देखिए—अ० र० पृ० ३२-३३ ।

रूपक को भी उभय सम्बन्ध पर आधारित आरोप से मानना चाहिए, क्योंकि यह कहाँ का न्याय है कि सादृश्य-सम्बन्ध प्रयुक्त लक्षणा से तो अलकार माना जाए और सम्बन्धान्तर से नही।

> सादृश्यसम्बन्धनिबन्धनाया अलंकृतित्वं यदि लक्षणायाः।
> साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तम्।
>
> —अ० र० पृ० ३३।

रूपक की सादृश्यमूलकता

प्राचीन आचार्यों में दण्डी निश्चित रूप से सम्बन्धान्तर से होने वाली लक्षणा को रूपक का आधार मानने के लिए तैयार नही है। उनके अनुसार रूपक सादृश्यनिमित्तक अलकार है।

> उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। —काव्यादर्श, २।६६।

रुय्यक को भी यही अभिमत है। इसीलिए उन्होने दण्डी के इस प्रमाण-वचन को 'साधर्म्यं त्वनुगतमेव' कहने के साथ उद्धृत भी किया है।[1] जहाँ आरोप सम्बन्धान्तर से होता है वहाँ केवल वैचित्र्य होता है, अलकार नही।[2] सादृश्य-निमित्तक आरोप को ही रूपक मानने वाले दण्डी प्रभृति

---

१. उद्भट के लक्षण से यह सर्वथा स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे रूपक को सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध से मानते थे या नहीं। 'एक पद का दूसरे पद से योग' इस बात की संभावना देता है कि उद्भट सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक मानने को प्रस्तुत है विशेषकर इसलिए भी इस संभावना को पुष्टि मिलती है क्योंकि उन्होंने रूपक-लक्षण में पिछली परम्परा से चले आ रहे औपम्य, साम्य आदि शब्दों का परित्याग किया है। उनके अनुसार एक पद प्रधान होता है दूसरा गुणवृत्ति; तिलक ने अन्तिम का अर्थ किया है 'धर्मेषु वर्तमानम्' और इस आधार पर ही कदाचित् उद्भट को सादृश्यमूलकता अभीष्ट रही होगी, यह अनुमान लगा सकते हैं। पर प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार गुणवृत्ति का अर्थ यदि हम लक्षणा का व्यापार मान ले तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उद्भट रूपक को कदाचित् सादृश्यमूलक नहीं भी मानते थे।

२. इहाम्ये सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकं न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि तेन सम्बन्धान्तरपूर्वक आरोपो वैचित्र्यमात्रं न त्वलंकारः कश्चिदिति मन्यन्ते यत्पठन्ति च उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकम्...। —अ० र० पृ०३२।

आचार्यों का यही मन्तव्य है। सर्वस्व के अनुसार रुय्यक भी इसी मत के समर्थक हैं। सर्वस्व के टीकाकार जयरथ अलंकारभाष्य तथा अलंकाररत्नाकर से सहमत है और उन्होने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि रुय्यक भी सम्बन्धान्तर आरोप को रूपक का मूल मानते है। उन्होंने यह बात रुय्यक के एक अप्राप्य ग्रथ अलकारानुसारिणी के आधार पर सिद्ध की है। उसमे 'अमृतकवलः शोभाराशिः' (वि० पृ० ४४) के उदाहरण मे इन्दु मे श्रद्धा का आरोप वर्णित है। इन्दु और श्रद्धा में कार्यकारणसम्बन्ध है, सादृश्य का सम्बन्ध नही। रुय्यक ने, जयरथ के अनुसार, इसमे मालादीपक माना है, अत उन्हे भी सम्बन्धान्तर से होनेवाले आरोप से रूपक अभिमत है। अलकारानुसारिणी अभी तक उपलब्ध नही है अत निश्चित रूप से तो कुछ नही कहा जा सकता पर कम से कम अलकारसर्वस्व मे केवल सादृश्यनिमित्तक आरोप को ही रूपक का आधार माना गया है। सर्वस्व मे आए सभी उदाहरण, तथा 'साधर्म्यं त्वनुगतमेव' यह उक्ति इस सम्बन्ध मे प्रमाण है। जयरथ ने भी इस उक्ति के व्याख्यान मे यही स्वीकार किया है—

अनेन च सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकमित्युक्तं भवति।

—वि० पृ० ४४।

आचार्य जगन्नाथ भी सर्वस्व की इस मान्यता से सहमत है—

सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्यं रूपकमामनन्ति। —रसग० पृ० २९७।

उन्होने अलकाररत्नाकर के मत का अनुवाद देकर खण्डन भी किया है। यद्यपि स्मृति चिन्ता आदि अनेक कारणो से पैदा हो सकती है पर जिस प्रकार सादृश्यमूलक स्मृति को ही स्मरणालकार का आधार माना जाता है, उसी प्रकार सादृश्य के अतिरिक्त कार्यकारणभाव आदि अनेक सम्बन्धो से आरोप सम्भव होने पर भी सादृश्यमूलक आरोप से ही रूपक मानना चाहिए।[1] अत: गौणी सारोपा लक्षणा को ही आरोप का आधार माना जा सकता है। रूपक में विषयी विषय को अपने रूप मे रग लेता है। सारोपा लक्षणा मे यदि अप्रकृत द्वारा प्रकृत का रूपण नही होता तो हम सारोपा लक्षणा पर

१. किंच सादृश्यमूलकं स्मरणं स्मरणालंकारः, नतु चिंतादिमूलमिति भवतैव पूर्वमुदितम्। तत्र यदि सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य तादूरूप्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिन्तादिमूलस्य स्मरणस्याप्यलंकारत्वमभ्युपेयताम्। —रसग० पृ० २९८।

आधारित प्रयोग को रूपक नही मान सकते। सारोपा लक्षणा पर आधारित प्रत्येक प्रयोग रूपक नही है। रूपक का अपना स्वरूप तथा प्रयोजन है। विषयी द्वारा विषय का अवष्टम्भन या रूपण उसका स्वरूप है। विषय में अतिशय का आधान करते हुए उन दोनों में चमत्कारभरी अभेदप्रतीति उसका प्रयोजन है। जहाँ स्वरूप तथा प्रयोजन न होगा वहाँ रूपक न होकर केवल लक्षणा होगी, इस आधार पर अलकारभाष्यकार के 'लक्षणापरमार्थ यावता रूपकस्वरूपम्' से प्रस्तुत लेखक सहमत नही है। अवश्य ही, आरोप सादृश्य-मूलक लाक्षणिक प्रयोग द्वारा सम्भव है पर केवल इसलिए लक्षणामात्र को रूपक नही माना जा सकता। अलकार होने के लिए उस मे कविकृत विच्छित्ति आवश्यक है, 'गौर्वाहीकः' जैसे प्रयोगों में केवल लक्षणा है रूपकालकार नही।

त्रिविध भेद

उपमादि के समान रूपक में भी साधारण धर्म का निर्देश अनुगामितया, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से हो सकता है।

कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुमसितैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितम्,
संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिकमलं गण्डोपधानं रतेः।
व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संच्छाद्यमानोदरं,
पश्यैतच्छशिन. सुधासहचरं बिम्बं कलंकांकितम्॥

—वि० पृ० ४४।

यहाँ 'सुधासहचर' की अनुगामिता है, 'लाञ्छित' और 'अंकित' में वस्तुप्रति-वस्तुभाव, तथा कलंकदान में बिम्बप्रतिबिम्बभाव। दीक्षित रूपक के लक्षण में साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव नही मानते है। इसीलिए उन्होने लक्षणमे बिम्बविशिष्ट[१] शब्द रखा है। रूपक का स्वरूप अभेदप्रतीति या तादूरूप्यप्रतीति का है। यह प्रतीति अनुगामिता तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव दोनो से ही सम्भव है। अतः जहाँ साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है वहाँ तादूरूप्य को रूपक से भिन्न अलंकार में नही रखा जा सकता। पुनश्च जब उपमा आदि में साधारण धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के माध्यम से सादृश्य सम्भव है, तो रूपक मे उसके आधार पर तादूरूप्यप्रतीति भी सम्भव है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए अप्पय्यदीक्षित के उपर्युक्त मत को उनकी भ्रान्ति माना है।

---

१. देखिए—चित्रमी० पृ० ५६।

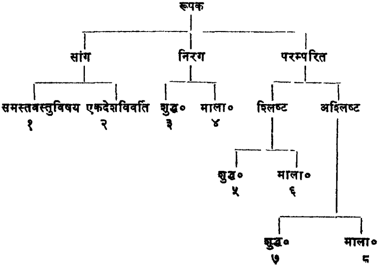
यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्येव ।
—रसग० पृ० २२७ ।

पण्डितराज ने अपने इस मत के समर्थन मे विमर्शिनी से उपर्युक्त उदाहरण उद्धृत करते हुए रूपक में अनुगामिता, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से साधारण धर्म की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने श्लिष्ट, उपचरित आदि साधारण धर्मों के आधार पर भी रूपक के भेद गिनाए हैं, जिनका उल्लेख सर्वस्वकार ने नही किया है।

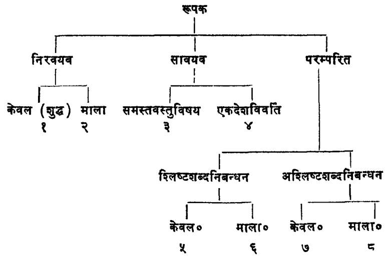
भेदोपभेद

भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट सभी ने रूपक के अनेक भेदो की चर्चा की है। इनमें से किसी भी आलकारिक का किसी ने भी भी पूर्णत अनुगमन नही किया है। रूपक की जो भेदव्यवस्था मम्मट तथा रुय्यक ने की है वह मिलती-जुलती है। परवर्ती आलकारिक विद्यानाथ, विद्याधर, अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ आदि ने मम्मट-रुय्यक-सम्मत इसी भेदव्यवस्था का प्रधानतया अनुसरण किया है। मम्मट और रुय्यक के इन भेदोपभेदो पर पूर्ववर्ती आलकारिको, विशेषतः रुद्रट का प्रभाव है। मम्मट तथा रुय्यक ने रूपक के जो भेदोपभेद बताए हैं उनकी तालिकाएँ निम्नाकित हैं—

मम्मट का रूपक-विभाग



रुय्यक का रूपक-विभाग



जयरथ के अनुसार सावयव के दोनों भेद श्लिष्ट हो सकते हैं।[1] मालोपमा की भाँति मालारूपक के भेद भी रुय्यक को, जयरथ के अनुसार, अभिमत है।[2] रशनारूपक मे वैचित्र्य नही होता, अत. मम्मट और रुय्यक इसे स्वीकार नही करते है। रूपक साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनो तरह से होता है। इसी प्रकार अन्य भेद भी रूपक के होते है जिनका उपबृंहण अर्वाचीन आलंकारिक अप्पय्य-दीक्षित तथा जगन्नाथ ने किया है। दण्डी के समस्तरूपक, व्यस्तरूपक और समस्तव्यस्तरूपक भेदो का तथा रुद्रटसम्मत रूपक के वाक्यगत तथा समासगत आदि भेदों का रुय्यक ने अलग परिगणन अनावश्यक समझा क्योंकि इन आठ भेदो का वैचित्र्य ही शेष सभी भेदो मे पाया जा सकता है।[3]

अन्ये तु प्रत्येकं वाक्योक्तसमासोक्तादिभेदाः सम्भवन्ति।

—अ० स० पृ० ४५।

तेषां तत्त्वेऽप्येतद्भेदाष्टककृतमेव वैचित्र्यम्। —वि० पृ० ४५-४६।

---

१. देखिए—वि० पृ० ४८।

२. देखिए—वि० पृ० ४६।

३. इन भेदों के सम्बन्ध में देखिए—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ५९३-६०५ तथा अ० स० पृ० ४५-४६।

श्लेष-रूपक

जहाँ श्लेष और रूपक दोनो अलंकार होते हैं वहाँ 'निरवकाशत्वात् बली श्लेषः सर्वालंकारबाधकः' इस सिद्धान्त के आधार पर श्लेष प्रधान होता है।

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥
—अ० स० पृ० ५०।

[मेघरूप सर्प से उत्पन्न विषरूप वर्षा की बूंदें वियोगिनियो के लिए चक्कर, विषयो मे अरुचि, उदासीनता, प्रलय, मूर्च्छा, अन्धकार, देहपीडा और मरण हठात् पैदा कर देती हैं।]

सिर मे चक्कर से लेकर मरण तक जिन आठ कार्यों का यहाँ वर्णन हुआ है, वे जल से नही अपितु विष से ही सम्भव हैं। विष मे श्लेष (गरल तथा जल) मान कर ही वह मेघ मे सर्प के आरोप का कारण बन सकता है अन्यथा नही। 'विद्वन्मानसहंस'[1] में पहले विद्वान् में मानस का आरोप हो जाता है अतः रूपक पूर्वसिद्ध है पर जलदभुजगज पद मे रूपक पूर्वसिद्ध नही है क्योकि पहले विष में श्लेष की प्रतीति होती है और उस के बाद रूपक सिद्ध होता है। अत. इस उदाहरण मे श्लेष प्रधान है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने रुय्यक के इस मत को इसप्रकार व्यक्त किया है—

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते॥ —नि० का० २१।

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—
विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो,
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥ —अ० स० पृ० ४७।
[विद्वानों के मानस के राजहंस! शत्रुओं के श्रीसंकोचरूपी कमलों के असंकोच के सूर्य! दुर्गों के अमार्गणरूप दुर्गा के मार्गण के महादेव! समिधारूप युद्धों को स्वीकार करने में अग्निदेव! सत्य के प्रति अनुराग ही सती के प्रति रोष, उसके निष्पादन में दक्ष प्रजापति! विजय-प्रारम्भरूप अर्जुन के भीमसेन! वीरश्रेष्ठ! स्वामिन्! आप अपने साम्राज्य का ब्रह्मा के सैकड़ों वर्षों तक शासन करते रहें।]

मम्मट का कथन है कि विष शब्द से गरल की प्रतीति श्लेष से नहीं होती, अपितु जलवाचक विष शब्द से पहले गरल अर्थ व्यंग्य होता है। यह गरलरूप व्यंग्यार्थ ही बाद में वाच्यालंकार रूपक का साधक है।

अत्र हालाहलं व्यंग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्।

—का० प्र० (झलकीकर) पृ० २०६।

जयरथ न तो रुय्यक और न मम्मट से सहमत है। उनके अनुसार प्रकृत उदाहरण में न तो श्लेषालंकार है और न ध्वनि। श्लेष तो इसलिए नहीं है क्योंकि दो वाच्यार्थ प्रकृत तथा अप्रकृत हैं, और उनमें विशेष्यसाम्य (विष शब्द एक होने से) है। ध्वनि इसलिए नहीं है क्योंकि जलद में भुजग के रूपक से शब्द-शक्ति से ही विष के दो अर्थ वाच्य ही हैं, व्यंग्य नहीं। यदि रूपक के आधार पर विष शब्द से दो अर्थों को वाच्य न मानें तो जलद पर भुजग का आरोप ही व्यर्थ है। अतः प्रकृत उदाहरण श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित रूपक का है।[1]

अभेदालंकार का अन्तर्भाव

शोभाकर ने अभेद को रूपक से भिन्न माना है। आरोप विषय का आरोप्यमाण के साथ अत्यन्त साम्य बताने के लिए जब विषयी में नियत रूप से रहने वाले धर्म का अभाव बताया जाता है ताकि उससे यह प्रतीति हो सके कि शेष सभी रूपों में विषय और विषयी में अत्यधिक साम्य है तो अभेदालंकार होता है।[2] उदाहरण के लिए औषधि को अतैलपूर सुरत-प्रदीप कहना।[3] किसी भी प्रदीप मे तेल की आवश्यता होती है। औषधि को अतैलपूर सुरत-प्रदीप कहने से यह मालूम देता है कि औषधि का प्रदीप से केवल इतना अन्तर है कि उसे तैल की आवश्यकता नहीं, अन्यथा दोनों सर्वथा समान हैं। शोभाकर के अनुसार रूपक में अभेदमात्र की प्रतीति होती है पर अभेदालंकार में सर्वथा अभेद की प्रतीति होती है।

---

१. देखिए—वि० पृ० ४०।

२. नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः। —अ० र० सू० २७।
तथा उसकी वृत्ति भी देखिए।

३. वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

—कुमारसम्भव, १।१०।

अभेदमात्रप्रतीतौ रूपकं, नियतधर्महानावन्यतः सर्वतोऽभेदप्रतीतौ अभेदः . . ।
—अ० र० पृ० ३८ ।

शोभाकर का यह मत ठीक नहीं है। अभेद को केवल साम्यदार्ढ्य की भिन्न प्रतीति के आधार पर रूपक से भिन्न मानना अनुचित है। प्रत्येक अलकार के भेद-प्रभेदों में कुछ न कुछ प्रतीतिभेद होता है, पर इसलिए हम उन्हें भिन्न अलकार तो नहीं मान सकते जब तक प्रतीति, चमत्कार और अभिव्यक्ति वस्तुत भिन्न न हो। आरोप से होने वाली अभेदप्रतीति कही तो भेदप्रतीति को लेकर हो सकती है, और कहीं आरोप्यमाण मे नियतधर्म की हानि या धर्माधिक्य[४] का विधान कर अभेद-प्रतीति को ही सर्वथा प्रधान बनाया जा सकता है। इस दूसरी स्थिति को हम 'दृढ़ारोप रूपक' की सज्ञा दे सकते है पर इसमें भी आरोपमूलक अभेदप्रतीति ही होती है अतः रूपक से उसे भिन्न नही माना जा सकता।

४. उदाहरण के लिए देखिए—अ० र० पृ० ३८-३९ तथा वि० पृ० ४९।

उपमामूलक अलंकार : परिणाम

मम्मट से पूर्ववर्ती किसी भी आलकारिक ने इस अलकार का उल्लेख नही किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकारो के अनुसार मम्मट को इसका अन्तर्भाव रूपक मे अभीष्ट है, पर उन्होने स्वयं इसका कोई सकेत या उल्लेख नही किया है। रुय्यक का कोई भी टीकाकार इस बात का सकेत नहीं देता कि उन्होने इस अलकार का स्वरूप-निरूपण सर्वप्रथम किया है। सम्भव है कि किसी अज्ञात आलकारिक ने, हो सकता है कि अलकारसार या अलकारभाष्य के लेखक ने, इसकी उद्‌भावना की हो। रुय्यक से परवर्ती प्राय सभी आलकारिको ने इस अलंकार को रूपक से पृथक् माना है, यद्यपि हेमचन्द्र जैसे कुछ आलकारिको ने भिन्न अलकार के रूप मे इसे मान्यता दी है। इससे अभीतक यही कहा जा सकता है कि परिणाम अलकार के उद्‌भावक आचार्य रुय्यक हैं।

परिणामलक्षण तथा उसका रूपक आदि से भेद

आरोप मे सदा दो वस्तुएँ होती है—आरोपविषय तथा आरोप्यमाण विषयी। उपमा मे हम इन्ही को क्रमश उपमेय तथा उपमान कहते हैं। उपमान उपमेय का सदा उपस्कार करता है, क्योकि एक दृष्टि से उपमेय को आधेयगुण तथा उपमान को गुणाधाता माना जाता है। जब कवि मुख की उपमा चन्द्र से देता है तो चन्द्र के सौन्दर्य की मुख मे प्रतीति होती है। इसी सादृश्य-प्रतीति के बाद उपमा का कार्य विश्रान्त हो जाता है। रूपक में जब मुख को कवि चन्द्र कहता है तो चन्द्र-सौंदर्य की मुख में अभेदेन सादृश्य-प्रतीति होती है। इसी प्रकार जब मुख में कवि चन्द्र की सम्भावना करता है तो चन्द्रसौदर्य मुख का उपस्कार करता है। उपमा में यह उपरञ्जन सादृश्यप्रत्यायन तक सीमित है। रूपक मे वह तादूप्यप्रतीति में पर्यवसित होता है और उत्प्रेक्षा मे साध्याध्यवसाय के सौन्दर्य में। इन तीनो ही अलकारो में उपमान या आरोप्यमाण उपमेय या आरोपविषय का उपरञ्जन करता है। यही उसका अंतिम उद्देश्य है। वाक्यार्थ की विश्रान्ति भी प्रकृतार्थ के उपरञ्जन से हो जाती है। परिणामालंकार में कवि जिस आरोप्यमाण का प्रयोग करता है वह प्रकृतार्थ का उपरञ्जन तो करता ही है पर साथ ही उसकी प्रकृतार्थ में उपयोगिता भी होती

है।[1] रूपक में विषयी का आरोप प्रकृतार्थोपरञ्जन कर विश्रान्त हो जाता है। परिणाम में वह आरोपविषय बनकर विश्रान्त होता है। 'मुखं चन्द्रः' की सौंदर्यप्रतीति में चन्द्र का मुख के रूप मे कोई उपयोग नही है। मुख मे चन्द्र के रूप का आरोप भर होता है। रूपक के रूपसमारोप और परिणाम के रूप-समारोप मे भी थोड़ा अन्तर है। प्रथम में विषयी विषय को अपने रूप से सर्वथा रूपित कर देता है; विषय का रूप विषयी के रूप मे डूब सा जाता है, वह अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है पर परिणाम मे विषयी का उपयोग शेष रहता है अत वह विषयी के रूप मे सर्वथा अपने को नही डुबाता। वह अपने स्वरूप से च्युत नही होता। 'मुखं चन्द्रः' में मुख चन्द्र के सौंदर्य मे विलीन हो जाता है और फिर उसका कोई उपयोग न होने के नाते उसका स्वरूप नष्ट-सा हो जाता है। पर इसके विपरीत 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' परिणामालंकार के इस उदाहरण में चन्द्र अपने रूप से मुख को रूपित तो करता ही है पर साथ ही मुख अपना स्वरूप नही खोता क्योंकि अभी भी उसका तापशमन के साथ उपयोग शेष है। उपर्युक्त उदाहरण का विश्लेषण करने पर उसमें दो अश बताए जा सकते हैं। एक है मुखचन्द्र और दूसरा है तापशमन। प्रथम अश रूपसमारोप का है, दूसरा उपयोग का, श्री चक्रवर्ती ने इसी को व्यवहारान्त आरोप[2] कहा है। जयरथ इसे प्रकृत का अप्रकृतव्यवहारविशिष्ट[3] होना कहते है। इसका अर्थ है कि परिणाम में न केवल रूपसमारोप होता है अपितु व्यवहारसमारोप भी होता है। प्रकृत पर अप्रकृत का व्यवहारसमारोप ही प्राकरणिक अर्थ की सिद्धि मे समर्थ होता है, यही उसकी उपयोगिता है। समासोक्ति मे भी अप्रकृत के व्यवहार का प्रकृत पर आरोप होता है पर वहाँ अप्रकृत—विषयी का उपादान नही होता वह प्रतीयमान रहता है, पर परिणाम मे विषय तथा विषयी दोनों का उपादान होता है, और फिर अप्रकृत प्रकृतोपयोगी होता है। आरोप्यमाण यदि केवल प्रकृतार्थ का उपरंजन करता है तो उसमें केवल औचित्य भर है, पर यदि वह प्रकृतार्थ का सम्पादक भी है तो वह उपयोगी है। परिणाम मे यदि प्रकृतार्थ पर

१. देखिए—अ० स० पृ० ५१।

२. अतो व्यवहारान्तमारोपः, नतु रूपकन्यायेन रूपसमारोपमात्रम् ..।

—संजी० पृ० ५८।

३. प्रकृतमप्रकृतव्यवहारविशिष्टतयावतिष्ठते। —वि० पृ० ५१।

अप्रकृतार्थ का आरोप (रूपसमारोप ही नहीं, अपितु व्यवहार-समारोप भी) न किया जाए तो प्रकरणार्थ की सिद्धि न होगी।

'सौमित्रमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय'[1]—राम ने नाविक को लक्ष्मण की मैत्री उतराई दी। यहाँ प्रकृत कार्य है नदी-संतरण। उसके लिए आवश्यक या उपयोगी है उतराई, न कि मैत्री। आरोप की दृष्टि से विषयी है उतराई और विषय है मैत्री। केवल मैत्री का प्रकृत कार्य में उपयोग नहीं है, अतः मैत्री मे विषयी—उतराई—के व्यवहार का आरोप भी करना आवश्यक है। तभी वह प्रकृतार्थ की सिद्धि कर सकेगा। इस प्रकार आरोप्यमाण, न केवल प्रकृतार्थ का उपरंजन करता है अपितु उसका कार्यसिद्धि में उपयोग भी है। यही औचित्य और उपयोग का अन्तर है।

औचित्यं हि सिद्धस्य सतः[2] प्रकृतार्थोपरंजक भवति, उपयोगः पुनः सिद्धावेव प्रकृतार्थहेतुतां भजते। —वि० पृ० ५२।

प्रकृतार्थ की दृष्टि से आरोप्यमाण का औचित्य तो सभी अलंकारो मे रहता है पर उसका उपयोग केवल परिणाम मे ही होता है। उत्प्रेक्षाप्रकरण मे जयरथ ने इस बात को पुनः दोहराया है।

न ह्यौचित्यमेव तस्य (परिणामस्य) स्वरूपम्, किन्तु यथोक्तं प्रकृतोपयोगित्वम्। औचित्यं च नोत्प्रेक्षायां विरुद्धम्। तस्य सर्वत्र भावात्।

—वि० पृ० ७७।

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—
तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं,
कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे। —अ० स० पृ० ५१।
—शिव की मौलिमाला गंगा को सीता, लक्ष्मण और स्वयं तीसरे राम ने पारकर उस नाविक (निषाद) को लक्ष्मण की मित्रता उतराई दी। इसके बाद विशाल स्तनों वाली शबर युवतियों के द्वारा कौतुकभरे नयनों से कष्टपूर्वक अनुसृत राम शीघ्र ही चित्रकूट पर्वत की ओर चल पड़े।

२. निर्णयसागर के 'प्रकृतार्थोपलम्भकम्' पाठ से दूसरी आदर्श पुस्तकों में प्राप्य 'प्रकृतार्थोपरंजकम्' पाठ अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार परिणाम के अतिरिक्त अन्य अलंकारो में प्रकृतार्थ के लिए उपमान, आरोप्यमाण या विषयी का औचित्य माना जा सकता है, उपयोग नही। प्रकृतोपयोगिता तो परिणाम का ही असाधारण लक्षण है। जहाँ जहाँ प्रकृतोपयोगिता नही है, वहाँ वहाँ परिणाम न होगा, और जहाँ भी प्रकृतोपयोगिता होगी वहाँ परिणाम मानना आवश्यक है। इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर भी प्रकृतोपयोगिता को परिणाम का असाधारण लक्षण माना जा सकता है। जिस प्रकार अनन्वय मे शब्दैक्य का विधान उचित है, अपरिहार्य नही पर लाटानुप्रास में शब्दैक्य उसका स्वरूप है अतः अपरिहार्य है, इसी प्रकार परिणाम में आरोप्यमाण का कार्य मे उपयोगी होना उसका अपरिहार्य स्वरूप है, यही नही कि केवल उसका औचित्य ही हो।

दो मत

आरोप्यमाण प्रकृतार्थ का उपरंजक ही नही अपितु प्रकृतोपयोगी भी होता है, यहाँ तक तो सभी टीकाकार तथा परवर्ती आलकारिक सहमत हैं पर आरोप्यमाण प्रकृतात्मना परिणत होकर उपयोगी होता है अर्थात् अप्रकृत का प्रकृत के रूप मे परिणाम होता है या प्रकृत स्वय अप्रकृत का व्यवहार लेकर प्रकृतकार्योपयोगी होता है, इस सम्बन्ध मे आलकारिको मे मतभेद है। रुय्यक के परिणामविवेचन मे इन दोनो मतो के लिए स्थान है।

परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः। —अ० स० पृ० ५१।

इससे तो यह अर्थ निकलता है कि आरोप्यमाण प्रकृतरूप मे परिणत होकर प्रकृतकार्योपयोगी होता है।[1] इसी के आगे 'प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन' इससे यह मालूम होता है कि प्रकृत अप्रकृत में परिणत होकर प्रकृतकार्योपयोगी होता है अर्थात् 'प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमति'। शोभाकर, जयरथ तथा विद्याधर द्वितीय मत के समर्थक हैं—

प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमति। —अ० र० पृ० ३१।
प्रकृतश्च प्रकृतमप्रकृततया परिणमतीति परिणामः। —वि० पृ० ५२।

(क) परिणमति यत्र विषयः प्रस्तुतकार्योपयोगाय।
(ख) यत्रारोपितविषयः प्रकृतकार्यसिद्ध्यर्थमारोप्यमाणात्मतया परिणमति।
—एका० पृ० २२१।

---

१. अप्रकृतं प्रकृतात्मतया परिणमति। यही मत श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी है।

शोभाकर तथा जयरथ विद्याधर से पूर्ववर्ती हैं, अत. त्रिवेदी का यह कथन तो असगत है कि यह मत विद्याधर का है ।[1] वस्तुत. रुय्यकक ा 'प्रकृतमारोप्यमाण-रूपत्वेन परिणमति' वाक्य स्वय इस मत के लिए पर्याप्त निर्देश है ।

प्रथम मत अर्थात् 'अप्रकृतं प्रकृतात्मतया परिणमति' का बीज भी रुय्यक के 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे' इस लक्षण तथा 'परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः' उसकी इस वृत्ति मे है । श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसी मत का प्रतिपादन अपने व्याख्यान तथा निष्कर्ष में किया है ।

> यदा तु विषयी रूपात् स्वस्मादप्रच्युतो भजेत् ।
> उपयुक्त्यै पराकारं परिणामस्तदा मतः ॥—नि० का० २३ ।
>
> आरोप्यमाणः प्रकृते यदासावुपयुज्यते ।
> परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य भिन्नता ॥ —वही, २४ ।

परिणामालंकारे पुनरारोप्यमाणं · प्रकृतरूपमपह्नुवानं सत् तदात्मत्वेनो-पयुज्यते । —संजी० पृ० ४५ ।

इसी मत को विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि आचार्य मानते हैं ।

> आरोप्यमाणमारोपविषयात्मतया स्थितम् ।
> प्रकृतस्योपयोगित्वात् परिणाम उदाहृतः ॥—प्रतापरुद्र० पृ० ३७७ ।
>
> आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणाम ।
>
> —सा० द० (काणे), पृ० २५ ।
>
> परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना । —चित्रमी० ।

विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृते प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः । —रसग० पृ० २४८ ।

दोनों मतों का समन्वय

परिणाम मे आरोपविषय पर विषयी के रूप तथा व्यवहार दोनो का आरोप होता है । प्रकृत का यह अप्रकृतव्यवहारविशिष्ट होना उसका अप्रकृतरूप में परिणाम है । यह परिणाम दूध का दही बनना नही, जिसमे

---

१ 'In this view Vidyādhara seems to stand alone.'
—एका० पृ० ४५३

दूध अपना स्वरूप ही खो बैठता है। प्रकृतार्थ से साक्षात् सम्बन्ध सदा प्रकृत या विषय का होता है, विषयी का नही, अतः विषयी के उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि वह विषयरूप मे परिणत हो। अस्तु, जहाँ तक व्यवहारसमारोप का प्रश्न है विषय विषयी के व्यवहार में परिणत होता है और जहाँ प्रस्तुतार्थ में उपयोग का प्रश्न है विषयी विषय का रूप धारण करता है। परिणामालकार मे दो प्रक्रियाएँ है, एक व्यवहार-समारोप की और दूसरी प्रकृत-कार्योपयोग की। प्रथम प्रक्रिया की व्याख्या प्रकृत अप्रकृतात्मना परिणत होता है—'प्रकृतमप्रकृतात्मना परिणमति'—यह मत करता है और दूसरी प्रक्रिया की अप्रकृत प्रकृतात्मना परिणत होता है—'अप्रकृतं प्रकृतात्मना परिणमति'—यह मत। समन्वय की इसी दृष्टि से जगन्नाथ द्वारा अलकारसर्वस्व के लक्षण की आलोचना[1] का परिहार भी हो जाता है।

सौमित्रमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।

इस उदाहरण में सौमित्रमैत्री पर उतराई के व्यवहारसमारोप के लिए यह कहना पडेगा कि प्रकृत अप्रकृत रूप में परिणत हुआ है।

सौमित्रमैत्री प्रकृता आरोप्यमाणसमानाधिकरणातररूपत्वेन परिणता।

—अ० स० पृ० ५२।

यहाँ मैत्री को उतराई मानने के बाद उस उतराई का सामान्य उतराई के रूप मे नही अपितु मैत्री के रूप में उपयोग हुआ है अतः कहेगे कि अप्रकृत उतराई मैत्री-रूप में दी गई है। अप्रकृत उतराई प्रकृत (मैत्री) के रूप मे काम आई है। इसी प्रकार 'वचोभिः[1] क्षितिभर्तुरुपायनं चकार'[2] राजा को वाणी का उपहार दिया—इस उदाहरण मे वाणी (प्रकृत) पर उपहार (अप्रकृत) के व्यवहार का आरोप है अर्थात् प्रकृत अप्रकृतात्मना परिणत हो गया है (प्रकृतमप्रकृतात्मना परिणमति)। दुनिया मे राजाओ को भेंट साधारणत घोडे हाथियों की दी जाती रही है। पर यहाँ उपहार (अप्रकृत) वाणी (प्रकृत) के रूप मे दिया

१. देखिए—रसग०, पृ० २४१।

२. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अथ पथिक्रमतामुपेयिवद्भिः सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तु तुरङ्गमाद्यैः॥

—इसके बाद पहले मुखमार्ग पर आश्रित प्रौढ वचनों से राजा को उपहार दिया और बाद में घोडे आदि का।

गया है, अतः अप्रकृत का प्रकृतात्मतया उपयोग हुआ है, अप्रकृत का प्रकृत के रूप में नहीं। यही बात अप्पय्यदीक्षित के 'प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा' तथा जगन्नाथ के 'समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु' उदाहरणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पहले में कमल के रूप (सौन्दर्य) और व्यवहार (प्रसन्नता) का समारोप नयन पर है, और उसका वीक्षणरूप उपयोग विषय-नयन के रूप में है। दूसरे उदाहरण मे तमाल की रमणीय शोभा (रूप) तथा पथिको की श्रान्ति दूर करने (व्यवहार) का आरोप 'भगवदात्मा' में है। तमाल सन्तापहरण भगवान् के रूप में ही कर सकता है अत उसका विषयात्मतया उपयोग है।[1]

दीक्षित ने रुय्यक के परिणाम-लक्षण को रूपक, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, अनुमान अलकारो में अतिव्याप्त तथा दृष्टान्त से सकीर्ण परिणाम अलकार में अव्याप्त माना है। प्रारम्भ में इस अलकार के विशद विवेचन में यहाँ यह बात स्पष्ट की गई थी कि प्रकृत का अप्रकृत व्यवहार से विशिष्ट होना, रूप-समारोप के साथ व्यवहारान्त आरोप और प्रकृत का अप्रकृतात्मना उपयोग ऐसा स्वरूप है जो दूसरे अलकारों में नही पाया जाता। अभिव्यक्ति और अनुभूति के इस भेद के कारण परिणाम का भिन्न अलकार मानना ही उचित है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने परिणाम का रूपक से भेद स्पष्ट करते हुए परिणाम के स्वरूप को बडी विशदता के साथ स्पष्ट किया है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती का कहना है कि रूपक और परिणाम के विषयविवेचन में प्राचीन आचार्यों की बुद्धि भी चकरा जाती है।[2] इन दोनों के भेद का रहस्योद्घाटन सजीविनी में विशद रूप से किया गया है। एक प्रासगिक अश को हम यहाँ उद्धृत कर दे रहे हैं। इस अश का उपसहार सजीविनीकार ने कारिका मे भी किया है।[3]

---

१. भगवदात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनक्षमत्वम्। मार्गश्रान्तजन-सन्तापहारकत्वरमणीयशोभाधारत्वाच्च तमालो विषयितयोपात्तः।
—रसग० पृ० २४८।

२ प्रायेणात्र प्राचामाचार्याणामपि व्यामोहकलानुवृत्तिरिति रहस्यमुद्घाटितं रूपकपरिणामविषयविवेचनस्य। —संजी० पृ० ५५।

३. देखिए—नि० का० २२-२५।

तत्रोपयोगित्वं वाक्यार्थानुप्रवेशपर्यन्तमारोपविवक्षायां स्यात्, तर्हि रूपके नास्ति मुखमेव चन्द्र इत्येतावतैव रूपकत्वसिद्धेः। तस्मादारोप्यमाणं चन्द्रत्वादि मुखादौ ताद्रूप्यप्रतीत्याधानरूपेणोपरञ्जकत्वेनैव रूपालंकारेऽन्वयं भजते। × × × × परिणामालंकारे पुनरारोप्यमाणं न केवलं प्रकृतोपरंजकं, यावता प्रकृतरूपमपद्यमानं सत् तदात्मत्वेनोपयुज्यते। अत इह वाक्यानुप्रवेशान्तमारोपविवक्षा, सा चाप्रकृतस्य प्रकृतरूपापत्तावेवोपपद्यते न पुना रूपकवद (? द्) प्रकृतस्याप्रकृतरूपापत्तौ। × × × × × विषयिणस्त्वारोपणं विषये ताद्रूप्यप्रतीतिमात्रान्तं चेद् विवक्ष्यते तदा ताद्रूप्यप्रतीतिजनकत्वमात्रमुपरञ्जकत्वमिति तावतैवारोपणस्य चरितार्थता। अतस्ताद्रूप्यप्रतीतिमात्रप्रसिद्ध्यर्थमप्रकृतं प्रकृतरूपापन्नं भवति रूपके। परिणामे तु प्रकृतोपयोगान्तमारोपविवक्षेति स्वरूपादप्रच्युतस्यैव प्रकृतस्याप्रकृतरूपोपग्राहित्वलक्षणावस्थान्तरापत्तिरेव। इतरथा रूपकन्यायेन प्रकृतस्य स्वरूपस्थगनेन प्रकृतमेव न प्रतीयेत का तत्र प्रकृतोपयोगिता, तदभावे च का रूपकविविक्तविषयता ? —सजी० पृ० ५४-५५।

उपमामूलक अलंकार : सन्देह

भामह ने सर्वप्रथम ससन्देहालंकार के नाम से इसका निरूपण किया था। दण्डी को संशयोपमा में इसका अन्तर्भाव विवक्षित है, उन्होंने इसका पृथक् निरूपण नही किया है। संशय के विपरीत निर्णय में उन्होने निर्णयोपमा भी मानी है।[1] उद्भट के समय इसका अभिधान सन्देह तथा ससन्देह दोनो ही था। 'ससन्देहं विदुर्बुधाः' और 'सन्देहनाम तत्' इस प्रकार दोनों ही अभिधान से उन्होने इसका उल्लेख किया है। राजानक तिलक ने दोनों ही नाम के सम्बन्ध मे प्रचलित परम्परा का स्पष्ट उल्लेख भी किया है—

अस्य चालंकारस्य ससन्देहसन्देहशब्दाभ्यां द्वाभ्यामप्यभिधानम्।

—विवृति, पृ० ५० ।

भोज तथा रुद्रट इसे संशयालकार कहते हैं। जगन्नाथ को छोड कर कुन्तक, मम्मट,[2] रुय्यक, शोभाकर, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित आदि प्रमुख आलकारिको ने ससन्देह के स्थान पर इसे केवल सन्देह कहना उचित समझा है। यह ठीक भी है क्योकि अनुमान, हेतु, विरोध आदि अलकारो को यदि सानुमान, सहेतु, सविरोध आदि नही कहा जाता तो सन्देह में 'स' का पुछल्ला लगाना बेकार है।

त्रिविध प्रत्यय

काव्यप्रतीति को सामान्यत तीन रूपों में बांटा जा सकता है। काव्यप्रतीति से हमारा अभिप्राय कवि की चित्तवृत्ति तथा सहृदय की ज्ञानवृत्ति से है। भारतीय अलंकारशास्त्री ने ध्वनिवादी की भाँति कवि तथा सहृदय दोनों को ही महत्त्व दिया है। कवि किस भावना से उद्वेलित होकर अलंकारविधान करता है तथा अलंकारविशेष सहृदय में किस वृत्ति का सृजन करता है, इन दोनो की

---

१. काव्यादर्श, २ २७।

२. त्रिवेन्द्रम संस्करण का पाठ है 'स सन्देहस्तु'। इसी आधार पर यह संभावना है कि मम्मट स्वयं इसका नाम सन्देह मानते थे क्योंकि 'स' सन्देह के साथ एक शब्द नहीं है।

दृष्टियों से काव्यप्रतीति को प्रथमत निश्चयात्मक, अनिश्चयात्मक इन दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं। साधारणत· अर्थ से अव्यभिचरित ज्ञान (या प्रवृत्ति-संवाद) को सम्यक् ज्ञान तथा अर्थ से व्यभिचरित (या प्रवृत्तिविसम्वाद) को असम्यक् ज्ञान कहा जाता है। शास्त्रसम्मत यह विवेचन ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के निरूपण के लिए भले ही उपयोगी हो पर कवि तथा सहृदय की मानस-वृत्तियों या अनुभूतियों के विश्लेषण मे हम इन परिभाषाओं का उपयोग नही कर सकते। आलकारिको के अनुसार मुख को कमल ही मान लेना निश्चयात्मिका काव्यप्रतीति है। भला कौन शास्त्रकार इसे सम्यक् ज्ञान मानने को तैयार होगा ? पर कवि और सहृदय के लिए तो यह सम्यक्ज्ञान है। सौन्दर्य का पारखी सहृदय तो मुख को मुख न समझकर कमल समझना सही ज्ञान समझेगा, उसे केवल रुधिर मान्सपेशियो आदि का संघात भर समझना तो अज्ञान है। विरही यक्ष के लिए धूम, ज्योति, सलिल और मरुत् का सन्निपात मेघ भले ही दूत का काम न दे किन्तु उस प्रकृतिपुरुष जलद को 'दूरबन्धु', 'भर्तृमित्र' और 'सन्तप्ताना शरणम्' मानने मे कालिदास को कोई आपत्ति नही। अनिश्चय ज्ञान तो यह है कि कवि 'मुख है या कमल है, या चन्द्र' इस सन्देह में अथवा 'यह कमल है, पर वह तो केवल सरोवर में रहता है,' इस वितर्क में पडे। इसी अनिश्चयात्मक ज्ञान के एक भेद सशय पर आधारित अलकार सन्देह है। सशय मे विचारतराजू के दोनो पलडे अनियत रूप से नीचे ऊपर उठा करते हैं। न एक पक्ष शिथिल रहता है, न दूसरा दृढ। कविमानस मुख-कमल की उभयावलम्बी प्रतीति पर दौड़ा करता है।

संशयो हि अनियतोभयांशावलम्बित्वेनोदेति। —वि० पृ० ६८।

और इसका कारण ? कवि ने कल्पना की भूमि पर मुख और कमल का सादृश्य देखा है फिर भला वह मुख पर कमल का आरोप क्यो न करे ? और इस सादृश्य विधान का फल ? रुय्यक का उत्तर है : दोनो में कवि अभेद बताना चाहता है।

अभेदप्राधान्य आरोप इत्येव। —अ० स० पृ० ५३।

आचार्य जगन्नाथ का कहना है कि भले ही कवि को कल्पनाभूमि पर दोनों में सन्देह उत्पन्न होता है (अर्थात् कवि की चित्तवृत्ति केवल आहार्य होती है) पर कविनिबद्ध पात्र को स्वारसिक या अनाहार्य सन्देह भी होता है।[1]

---

१. रसग० पृ० ३२१।

सन्देह में आरोप तथा अध्यवसाय

जयरथ के अनुसार रुय्यक सन्देह में न केवल आरोप मानते हैं अपितु अध्यवसाय भी उन्हें अभीष्ट है। अध्यवसाय में विषय का उपादान या तो सर्वथा नही होता जैसेकि अतिशयोक्ति मे, और होता भी है तो विषयी द्वारा उसके निगरण की प्रक्रिया (निगीर्यमाणता) अवश्य रहती है। साध्याध्यवसाय सन्देह में भी हो सकता है।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण॥

—अ० स० ५५।

इसमें तिमिर आरोपविषय है। उसमे राग, नमन, स्थगन, पूरण, सकोच आदि विभिन्न धर्मों का आरोप किया गया है। इन विभिन्न धर्मों का आरोप वृक्ष, शैल, आकाश, धरा तथा दिशा इन विभिन्न आश्रयो के आधार पर सम्भव हुआ है। 'नु' शब्द विभिन्न सम्भावनाओ की प्रतीति कराने मे सहायक है। पर यह सम्भावना सन्देह की है, क्योकि कवि को विषय की अपेक्षा विषयी की ओर अधिक या कम झुकाव नहीं है। कवि की चित्तवृत्ति अनेक कोटियों में दोलायमान रहती है। यही रुय्यक का अभिमत है।

अत्रारोपविषयस्तिमिरे रागादि तर्वादिभिन्नाश्रयत्वेनारोपितम्। केचित्त्व-ध्यवसायाश्रयत्वेन सन्देहप्रकारमाहुः। —अ० स० पृ० ५५।

विमर्शिनी ने इसे ग्रन्थकार का मत माना है—

अनेन च सन्देहस्याध्यवसायमूलत्वमपि ग्रन्थकृतैवोक्तम्।—वि० पृ० ५५।

कतिपय आचार्य सम्भावनाद्योतक 'नु' शब्द के आधार पर उपर्युक्त उदाहरण में उत्प्रेक्षा मानते हैं किन्तु संजीविनीकार ने इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा न मान-कर अध्यवसायमूलक सन्देह का समर्थन किया है।

वस्तुतस्तु नेह सम्भावनाप्रतीतिः वितर्कस्यैककोटिपक्षपाताभावात्। अतो दोलायमानानाकोटिकोऽयं सन्देह एवेति भावः। —सजी० पृ० ६०।

शोभाकर ने रुय्यक के इस मत का खण्डन कर सन्देह को केवल आरोपगर्भ ही माना है। जगन्नाथ को भी रुय्यक तथा जयरथ का मत मान्य न हो सका। उन्होने सन्देह (संशय) को अध्यवसानमूलक मानना उचित न समझा।[1]

---

1. देखिए—रसग० पृ० २५९।

जयरथ ने अध्यवसायमूलक सन्देह के स्वरूपसन्देह, हेतुसन्देह तथा फलसन्देह इन तीन भेदों का प्रतिपादन किया है।[1]

भोज ने चिन्ता आदि से उत्पन्न स्मरण को अलंकारहेतु माना है[2] पर सशय अलंकार का आधार वे अतिसादृश्य ही मानते हैं। रुय्यक तथा जगन्नाथ इससे सहमत है।[3] शोभाकर अवश्य साधर्म्य के अतिरिक्त निमित्तान्तर के आधार पर इस अलकार को मानने के लिए तैयार हैं।[4]

सन्देह के भेद

रुय्यक के अनुसार सन्देहभेदो की यह तालिका है—

सन्देह
- शुद्ध
- निश्चयगर्भ
- निश्चयान्त
- भिन्नाश्रय

शुद्ध सन्देह वह है जहाँ सशय मे ही पर्यवसान हो, निश्चयगर्भ वह है जिसका सशय से प्रारम्भ हो मध्य मे निश्चय हो और अन्त सशय मे हो। निश्चयान्त वह है जिसमे सशय से उपक्रम और निश्चय में पर्यवसान होता है।

मम्मट को भी प्रकारान्तर से ये ही भेद अभिमत हैं। प्राचीन आलंकारिको मे भामह का उदाहरण निश्चयगर्भ सन्देह का है।[5] भट्टि का उदाहरण भी इसी मे आता है।[6] उद्भट ने शुद्ध तथा निश्चयगर्भ का उल्लेख किया है, निश्चयान्त का नही। निश्चयान्त में उपमेय तथा उपमान का अभेद स्पष्टत. प्रतिपादित हो जाता है अतः उसमें सदेह का सौन्दर्य नही रहता, इसलिए

---

१. वि० पृ० ५५।

२. सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नावपि न तद्बहिः॥ —सरस्वती० पृ० ३७५।

३. देखिए—रसग० पृ० २५६।

४. तेन साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य कविप्रतिभोत्थापितः सन्देहोऽलंकार एव। —अ० र० पृ० ४५।

५. भामहालंकार, ३।४४।

६. भट्टिकाव्य, १०।६८।

इन्दुराज के अनुसार उद्भट इस तीसरे भेद को मानने के लिए तैयार नही है। वामन के लक्षणोदाहरण शुद्ध सन्देह के हैं। रुद्रट ने प्रथम तीनो भेदों को माना है। भोज ने सन्देह के, जिसे वे सशय कहते है, अनेक भेदोपभेद किए हैं पर अर्वाचीन आलकारिको को उद्भट-रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट तथा मम्मट-रुय्यक द्वारा भलीभाँति निरूपित भेद ही स्वीकार हो सके।

त्रिविध भेद

अन्य सादृश्यमूलक अलकारो की भाँति सन्देहालकार के भी साधारण धर्म के त्रिविध निर्देश के आधार पर तीन भेद होते है—

किं पंकजं किमु सुधाकरबिम्बमेतत् किं वा मुखं क्लमहरं मदिरेक्षणायाः।
यद् दृश्यते मधुकराभकुरंगकांतिनेत्रद्वयानुकृति कार्ष्ण्यममुष्य मध्ये॥
—वि० पृ० ५४।

इसमे क्लमहर तथा कार्ष्ण्य (कालिमा) पदो द्वारा समानधर्म का अनुगामितया निर्देश हुआ है।

किमिदमसितालिकलितं किं वा मुखं सुनीलकचम्।
इति संशेते लोकस्त्वयि सुतनु सरोऽवतीर्णायाम्॥ —वही।

इसमें 'असित' तथा 'सुनील' एक ही अर्थ के वाचक साधारण धर्म है। उनमें केवल सम्बन्धिभेद से भिन्नता है, अत इनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। 'अलि' तथा 'कच' वस्तुतः भिन्न हैं पर सादृश्यप्रत्यायन के लिए उनमे एकता है। अलि बिम्ब है और कच प्रतिबिम्ब। अर्वाचीन आलकारिको ने भी इन भेदो को माना है। कुछ आलकारिको ने जैसेकि शोभाकर[1] तथा जगन्नाथ ने उपमेय तथा उपमान मे समानधर्म तथा अनेकधर्म को निमित्त मानकर सन्देहालकार के दो भेद किए हैं, पर सादृश्यमूलक अलंकारो का इस प्रकार विभाजन उचित नही है क्योंकि सादृश्यनिमित्तक होने से साधारणधर्म का उभयविध निर्देश अनेक अलकारो मे सम्भव है पर उन सभी का संग्रह सादृश्यमूलक होने से ही हो जाता है, भिन्न भेद मानने में कोई विशेष चारुता नही, जैसेकि विप्रतिपत्ति, उपलब्धि या अव्यवस्था आदि के भिन्नतत्वों के आधार पर सन्देह के भेदों में चारुता नही रहती है।

---

१ अ० र० पृ० ४२।

साहश्यनिमित्तत्वेनैवास्य संग्रहसिद्धेः, विप्रतिपत्त्यादिनिमित्तान्तरवच्चाहृत्वाभावात्। —वि० पृ० ५५ तथा अ० र० पृ० ४३।

वितर्कालंकार का सन्देह में अन्तर्भाव

भोज[1] तथा शोभाकर[2] ने इसे सन्देह से भिन्न अलंकार माना है। शोभाकर के अनुसार सन्देह में न तो साधक और न बाधक प्रमाण होता है, पर वितर्क मे कवि की चित्तवृत्ति में सम्भावना का बाधक प्रमाण भी रहता है। 'मुख है या कमल' की प्रतीति सन्देह की है। 'कमल है पर वह तो सरोवर में रहता है' यह प्रतीति वितर्क की है, क्योकि 'कमल है' इस सम्भावना-प्रतीति का बाधक प्रमाण 'वह तो सरोवर मे रहता है' इस प्रतीति के द्वारा मिल जाता है। मम्मट तथा रुय्यक के 'अय मार्तण्ड किं' निश्चयगर्भ सन्देह के इस प्रसिद्ध उदाहरण[3] को इसी आधार पर शोभाकर ने वितर्क का उदाहरण माना है। वितर्क की प्रतीति में भी एककोटिक ज्ञान नही रहना—**वितर्कस्यैककोटिपक्षपाताभावात्**।[4] उसमे भी सन्देह की भाँति दोलायमान नानाकोटिक प्रतीति होती है अत इनमें मौलिक भेद नही है। दोनो ही सादृश्य के आधार पर अलकार माने जाते हैं अत वितर्क को सन्देह से भिन्न बताना उचित नही है। काव्यप्रकाश के टीकाकार उद्योतकर ने वितर्क को अलकार इसलिए नही माना है क्योकि उसमें वर्ण्यविषय में उत्कर्ष का आधान नही होता। अलकार होने के

---

१. सरस्वती० ३।३६।

२. अ० र० पृ० ४५।

३. सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः,
कृशानुः किं साक्षात् प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुरः,
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः। —अ० स० पृ० ५४।

[क्या यह सूर्य है ? वह तो सात घोड़ों पर चलता है। क्या यह अग्नि है ? पर वह दिशाओं में नियतरूप से व्याप्त नहीं है। क्या साक्षात् यमराज है ? पर उसका वाहन तो भैंस है। तुम्हें युद्धस्थल में सामने देखकर शत्रु योद्धागण विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं !]

४. संजी० पृ० ६०।

लिए यह आवश्यक है कि प्रस्तुतार्थ का उपस्कार हो। पर वस्तुतः वितर्क द्वारा सन्देह की भाँति वर्ण्य-विषय में सौन्दर्य-प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु यह प्रतीति सन्देह-प्रतीति से तथा उससे होने वाले चमत्कार से भिन्न नहीं है, अतः वितर्क का अन्तर्भाव सन्देह में करना उचित है। भोज-प्रतिपादित वितर्क के सादृश्यमूलक भेदोपभेदों का अन्तर्भाव भी उपर्युक्त आधार पर सन्देह में सम्भव है। वितर्क या सन्देह के विसादृश्यमूलक भेदों को तो अलंकार ही नहीं माना जाना चाहिए।

उपमामूलक अलंकार : भ्रान्तिमान्

प्राचीन आलकारिको में भामह, भट्टि, उद्भट तथा वामन ने इसका उल्लेख नही किया है। दण्डी को मोहोपमा[1] मे भ्रान्तिमान् अलकार का अन्तर्भाव विवक्षित है। रुद्रट ने इसका नामतः उल्लेख तथा निरूपण किया है। भोज ने इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है[2]। बाद के प्रायः सभी आलकारिक इसे मानते हैं। कुछ आलकारिक जैसेकि भोज, अप्पय्यदीक्षित भ्रान्तिमान् के स्थान पर भ्रान्ति नाम ही अधिक पसन्द करते है। रुय्यक ने भ्रान्तिमान् शब्द का निर्वचन देते हुए कहा है कि भ्रान्तिरूप चित्त-धर्म इस अलंकार में रहता है अत भ्रान्तिमान् कहना उचित होगा। 'भ्रान्तिश्चित्तधर्मः स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान्'। यह भ्रान्ति प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओ मे सादृश्य को देखकर होनी चाहिए। काम, शोक, भय उन्माद आदि से पैदा होने वाली भ्रान्ति को इस अलंकार का बीज नही माना जा सकता—'सादृश्यप्रयुक्ता च भ्रान्तिरस्य विषयः'। शुक्तिका में रजत की भ्रान्ति भी इन दोनों मे विद्यमान समान तत्त्व के आधार पर होती है पर यह भ्रान्ति वस्तु के स्वभाव से जन्य है, स्वारसिक है, कवि-प्रतिभा की सृष्टि नही है अत. उसे भी भ्रान्तिमान् अलंकार मानना सगत नही है।

> सादृश्येऽपि कविप्रतिभोत्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकस्य।
>
> —वि० पृ० ५३।

शोभाकर के अनुसार सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतरमूलक दोनों ही प्रकार की भ्रान्ति मे प्रतीति एक ही प्रकार की होती है। इनमें किसी प्रकार का अन्तर नही है।

> सादृश्यहेत्वन्तरयोभ्रमेषु न लेशतः क्वापि विशेषबुद्धिः।
>
> —अ० र० पृ० ५३।

अतः केवल निमित्तभेद के आधार पर भिन्न अलंकारों की उद्भावना उचित नहीं है।

---

१. काव्यादर्श, २।२५-२६।

२. सरस्वती० ३।३५-३७।

प्रतीतिभेदे अलंकारभेदो युक्तो न निमित्तभेदेऽलंकारानन्त्यप्रसंगात् ।—वहीं । इस आधार पर उन्होंने रुय्यक के भ्रान्तिमान् लक्षण की आलोचना भी की है । इनके अनुसार लक्षण मे 'सादृश्याद्' पद का निवेश लक्षण को अव्यापक बनाता है क्योकि इससे सादृश्येतर निमित्त (जैसेकि शोक, भावावेश आदि) से होने वाली भ्रान्ति को इस अलकार के अन्तर्गत न रखा जा सकेगा, पर आलकारिको के बहुमत के अनुसार, जहाँ कही भी सादृश्येतर निमित्तको लेकर भ्रान्ति होती है वहाँ तो वास्तविक भ्रान्ति होगी और यदि कविप्रतिभाकृत चमत्कार हुआ तो कोई दूसरा अलकार । अमरुक के

> प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
> पर्यंके सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।
> हंहो चेतःप्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा,
> सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥
>
> —अमरुशतक (नि० सा०) श्लोक १०२ ।

इस श्लोक में विरही की अपनी घनीभूत प्रेमपीडा एक प्रियतमा को अनेकत्र एक साथ देख रही है । इसमें वियोग भ्रान्ति का कारण है। वियोग में विरही त्रिभुवन को स्वभावत तन्मय समझता है । स्वारसिक प्रतीति तो केवल भ्रान्ति अलकार नही । अतएव जयरथ के अनुसार (वि०पृ० ५६) इसमें केवल भ्रांति है, भ्रान्तिमान् अलकार नही है। और दूसरे, वियोगी प्रासाद आदि मे प्रियतमा को देख रहा है, प्रासाद को प्रियतमा नही समझता । इसीप्रकार हर्ष-चरित के '**देवमपि हर्षं पितृशोकविह्वलीकृतं श्रियं शाप इति महीं महापातकमिति राज्यं रोग इति भोगान् भुजगा इति निलयं निरय इति**'[1] इस उदाहरण मे भी पितृशोक के कारण श्रीहर्ष लक्ष्मी को शाप, धरा को महापातक आदि समझ रहा है। कविनिबद्ध पात्र को यहाँ पर श्री आदि विषय का ज्ञान है । भ्रान्तिमान् वही होता है जहाँ विषय का अवगमन न हो, शुक्तिका का ज्ञान रहने पर उसमे रजत की प्रतीति नही हो सकती, अतः पूर्वोक्त उदाहरणो में न केवल यही कि सादृश्य निमित्त नही है (एक में अनुराग निमित्त है तो दूसरे मे शोक) अपितु विषय की स्पष्ट प्रतीति होने के नाते भ्रान्ति भी नही है । ऐसे उदाहरणो मे जयरथ ने इसीलिए विषमालकार मानना उचित समझा है क्योकि इनमे कविनिबद्ध पात्र को विषय की विषयिरूप मे सम्भावना या

---

१. अ० र० पृ० ४३ तथा वि० पृ० ५६ पर उद्धृत ।

प्रकृतवस्तु की वस्त्वन्तर या अप्रकृत के रूप में प्रतीति नहीं होती, जबकि भ्राति-मान् का लक्षण है—

साद्दश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिः । —अ० स० पृ० ५६ ।

इस प्रकार भ्रान्तिमान् के लिए आवश्यक है कि विषय की विषयी के रूप मे भ्रान्ति हो । रूपक मे मुख और चन्द्र का एक साथ ज्ञान कवि तथा सहृदय को रहता है पर भ्रमप्रतीति मे विषय की प्रतीति (भ्रान्ति) विषयीरूप मे होती है । विषय की विषयता भ्रान्ति से छिप जाती है अत भ्रान्तिमान् में शोभाकर तथा जयरथ की दृष्टि से आरोप नही अध्यवसाय होता है । वस्तु अर्थात् विषय का जब तक वस्तुरूप में ज्ञान रहता है, शुक्तिका को जबतक प्रमाता शुक्तिका समझता है तबतक रजतभ्रम सम्भव ही नही है । कामिनी के अधरो को जब तक शुक अधर ही समझेगा तबतक भला उन्हे बिम्ब समझ कर काटने को कैसे लपक सकेगा ? अत. भ्रान्ति मे विषय का तिरोधान और विषयी की संवित्ति मानना आवश्यक है । मम्मट के लक्षण 'भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने' में अन्यसंवित् शब्द तथा रुय्यक के लक्षण मे वस्त्वन्तरप्रतीति शब्द इसी ओर संकेत करते हैं । सन्देह मे तो विषय और विषयी दोनो का ही समान रूप से आभास रहता है अत. उसमें आरोप ही मानना पडेगा किन्तु भ्रान्तिमान् को अध्यवसाय-मूलक मानना आवश्यक है ।

अध्यवसायमूल एव भ्रमः, न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति ।
शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानानुदयात् ।

—अ० र० ५३-५४

साद्दश्याश्रित तथा अध्यवसायमूलक भ्रान्तिमान् के रुय्यक-कृत लक्षण का जगन्नाथ ने इस आधार पर खण्डन किया है कि यह लक्षण सन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा अतिशयोक्ति मे भी लागू होता है, उनके अनुसार रुय्यक का लक्षण अतिव्याप्त है।[1] जगन्नाथ ने इस लक्षण के खण्डन में केवल पाडित्य का प्रदर्शन किया है । सन्देह में समकोटिक विमर्श होता है, वस्त्वन्तर की प्रतीति नही होती, उत्प्रेक्षा में वस्त्वन्तर की सम्भावना होती है, निश्चय नही होता और भ्रान्ति-मान् विमर्शनी के शब्दो में 'सम्यगभिमानात्मा निश्चय' है । रूपक मे भेदप्रतीति-पुरस्सर अभेदप्रतीति होती है, मुख का कमल या वस्त्वन्तर के रूप मे ज्ञान नही होता । अतिशयोक्ति मे मुख का सर्वथा निगरण हो जाता है पर भ्राति-

---

[1] देखिये—रसग० पृ० २६९-७० ।

मान् मे कविनिबद्ध पात्र को वस्त्वन्तर की प्रतीति अनाहार्य रूप में होती है और कवि को आहार्य रूप में। अतिशयोक्ति में निश्चयज्ञान दोनों को ही आहार्य ही होता है। वस्त्वन्तर की प्रतीति का प्रकरणानुसार यह अर्थ समझने पर जगन्नाथ को रुय्यक का लक्षण अतिव्याप्त नही मालूम पड़ना चाहिए।

त्रिविध भेद

साधारण धर्म के निर्देशभेद के अनुसार जयरथ ने भ्रान्तिमान् के भी तीन भेद किए है। जगन्नाथ आदि ने इनका अनुसरण किया है। 'नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या विकासितविलोचनम्' (वि०पृ० ५७) में विकास-रूप साधारण धर्म का अनुगामितया,

कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने ॥—रसग०पृ० २६७।

में 'युतत्व' और 'मिलितत्व' मे वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से, और सीता तथा सौदामिनी मे विम्बप्रतिबिम्बभाव से साधारणधर्म का निर्देश है।[१]

निश्चयालंकार का भ्रान्तिमान् में अन्तर्भाव

विश्वनाथ ने अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना के आधार पर निश्चय नाम का एक भिन्न अलंकार माना है।[२] इसके उदाहरण पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि इसमे भ्रमर को मुख आदि मैं कमल आदि की प्रतीति ही, भ्रान्ति ही, चमत्कार का कारण है। विश्वनाथ भी इसमें भ्रान्ति मानते हैं। भ्रान्ति यहाँ विवक्षित हो या न हो, सहृदय को नायिका के सौन्दर्य का ज्ञान इसी भ्रान्ति के वर्णन से होता है।

संस्कारालंकार

जयरथ की विमर्शिनी के अनुसार अलंकारभाष्य में सस्कार तथा भ्रान्तिमान् का भेद स्पष्ट रूप से बताया गया है।

अवान्तर एत्रानयोर्विशेषोऽलंकारभाष्य एवोक्त इति तत एवानुसर्तव्यः —वि० पृ० ५७।

भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, भोज तथा कुन्तक इन प्राचीन आलंकारिको तथा

१. जयरथ द्वारा उद्धृत उदाहरण देखिए—वि० पृ० ५५-५८।
२. सा० द० पृ० २३८।

विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ प्रभृति अर्वाचीन आलकारिकों ने इस अलकार की कोई चर्चा नही की है। शोभाकर ने, जो जयरथ के पूर्ववर्ती तथा रुय्यक से परवर्ती हैं, इस अलकार को स्वतत्र अलकार न मानकर इसका अन्तर्भाव भ्रान्तिमान् अलंकार में किया है। उन्होंने अलकारभाष्य या उसके लेखक का इस प्रकरण मे कोई भी उल्लेख नही किया है। विमर्शिनी से इतना तो स्पष्ट है कि अलंकारभाष्य में उसका निरूपण तथा स्वतन्त्र अलकार सिद्ध करने के लिए भ्रान्तिमान् से भेद का विवेचन किया गया था। चूकि मम्मट या रुय्यक या उनसे प्राचीन किसी प्रसिद्ध आलकारिक ने सस्कार अलकार की चर्चा नही की है अतः निषेधात्मक प्रमाण के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि इस अलकार के उद्भावक अलकारभाष्यकार है। इनका समय रुय्यक के बाद और शोभाकर से पहिले मानना चाहिए। अनुषगत यह लिखना अनुचित न होगा कि इस ग्रन्थ की अभीतक कोई पाण्डुलिपि नही पाई जा सकी है और न इसके लेखक का नाम ही ज्ञात है।[1] जयरथ ने अलकारोदाहरण में सस्कारालकार का लक्षण निम्नलिखित दिया है—

अनुभूतवासनानुवे (? मे) यस्संस्कारः।

—अ० उ० (पाण्डुलिपि, पुटक ६)।

पूर्ववासना जहाँ किसी कार्य का निमित्त बनती है वहाँ सस्कारालकार होता है। अनुभूत वासना या संस्कार पर आधारित यह अलकार भ्रान्तिमान् इसलिए नही माना जा सकता क्योंकि अन्तिम अलकार सादृश्यमूलक है और सस्कार वासनानुमेय है। इसके अतिरिक्त यदि भ्रान्तिमान् को अभ्युपगमन्याय से वैसादृश्यमूलक या निमित्तान्तरजन्य मान भी लें तब भी सस्कार और भ्रान्तिमान् में एक महत्त्वपूर्ण भेद शेष रहता है। किसी कार्य का अनवरत अभ्यास एक विशेष प्रकार का सस्कार छोड देता है। यदि कोई व्यक्ति इस सस्कार के कारण ही किसी कार्य मे प्रवृत होता है तो इसे भ्रान्ति की सज्ञा नही दी जा सकती।

---

१. विशेष ऐतिहासिक और परिचयात्मक सामग्री के लिए देखिए इसी प्रबन्ध का भूमिका-भाग, तथा डा० द्विवेदी का लेख : Alaṅkārasāra and the Alaṅkārabhāṣya, विश्वेश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जर्नल, जिल्द १, खण्ड २, १९६३।

दातुं वाञ्छति दक्षिणेऽपि नयने वामः करः कज्जलं,
मौर्जं च भुजेंऽगदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः ।
इत्थं स्वं स्वमशिक्षितं भगवतोरर्धं वपुः पश्यतोः,
साधारस्मितलाञ्छितं दिशतु वो वक्त्रं मनोवाञ्छितम् ।।

—वि० पृ० ५७ तथा अ० र० पृ० ५३ ।

इस पद्य मे अर्धनारीश्वर का वर्णन है । पार्वती का हाथ (वाम कर) दक्षिण नयन (शिव के नेत्र) में भी सस्कारवशात् काजल लगाने चल पड़ता है, और शकर का हाथ (दक्षिण कर) सर्पवलय को वामभुजा में भी पहिचानने लग जाता है स्पष्ट है कि ये कार्य (कज्जलदान आदि) सस्कारवशात् होते हैं, भ्रम से नही ।अतः अलकारभाष्यकार और इस सम्बन्ध मे उनका अनुकरण करने वाले जयरथ के अनुसार भ्रान्तिमान् से भिन्न सस्कार एक स्वतन्त्र अलकार है। शोभाकर भ्रान्तिमान् को केवल सादृश्यमूलक ही नही मानते । उनके अनुसार सादृश्येतर निमित्त से भी भ्रान्तिमान् ही मानना चाहिए क्योकि प्रतीतिभेद अलकारभेद का नियामक है । निमित्तभेद से अलकारो को भिन्न मानना अनुचित है ।

···सादृश्यनिमित्तं विना भावावसायशोकादिनिमित्तभेदेऽपि नालंकारान्तरबुद्धिः कार्या । प्रतीतिभेदे ह्यलंकारभेदो युक्तो न निमित्तभेदेऽलंकारानन्त्यप्रसगांत् । तद्भेदे तु कविप्रतिभोत्थापितविच्छित्तिसद्भावेऽन्तर्भाव एव न्याय्य. ।

—अ० र० पृ० ५३ ।

इसी आधार पर उनके अनुसार उपर्युक्त उदाहरण मे अनवरत अभ्यास से प्ररूढ सस्कार भ्रान्ति का हेतु है अत. इस प्रकार के उदाहरणो में वे भ्रान्तिमान् अलकार मानना उचित समझते हैं ।[1]

---

[1] देखिए—अ० र० पृ० ५३ ।

उपमामूलक अलंकार : उल्लेख

प्राचीन आलकारिको मे मम्मट तक हमें उल्लेख का विवेचन नही मिलता। इसके उद्भावक का नाम बताना सभव नही है। रुय्यक ने इसका विशद तथा स्पष्ट निरूपण किया है। परवर्ती सभी आलकारिको ने इसे स्वीकार किया है। और प्राय. इसके स्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में रुय्यक का अनुगमन किया है। परवर्ती आलकारिको की परिभाषाएँ इसका पर्याप्त प्रमाण हैं—

एकस्यानेधाकल्पनमुल्लेखः। —अ० र० पृ० ५४।

तत्तन्निमित्तभेदादेकमनेकैरनेकधा यत्तु।
उल्लिख्यते स धीरैरुल्लेखः कथ्यतेऽन्वर्थः॥ —एका० पृ० २२६।

अर्थयोगरुचिश्लेषैरुल्लेखनमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः॥—प्रताप०रुद्र०पृ० ३८२।

क्वचिद् भेदाद्ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥
—सा० द० पृ० ५३३।

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते। —चन्द्रा० पृ० ४५।

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते॥ —चित्रमी० पृ० ७७।

एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यदनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः। —रसग० पृ० २७०।

इन सभी परिभाषाओ में रुय्यक के लक्षण 'एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः' तथा उसकी वृत्ति[1] के शब्द प्रतिध्वनित देखे जा सकते है। एक ही वस्तु का अनेक प्रकार के धर्मों के कारण अनेकधा ग्रहण उल्लेखालकार है। ग्रहण के स्थान पर परवर्ती आलकारिको ने कल्पना तथा उल्लेख (उल्लेखन) का प्रयोग किया है। उल्लेख शब्द अलंकार के नाम के आधार पर आलकारिक

---

१. यत्रैकं वस्त्वनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः।
—अ० स० पृ० ५६।

रखते आए हैं। वह ग्रहण का ही समानार्थक है। शोभाकर ने अवश्य ग्रहण के स्थान पर कल्पन शब्द का प्रयोग उचित समझा है क्योंकि उनके अनुसार जहाँ प्रतीति स्वारसिक न होकर उत्पादित होगी वहाँ ग्रहण शब्दवाली परिभाषा न लग सकेगी। **'अतएव ग्रहणस्य स्वारसिकत्वादनेकधाग्रहणमिति न सूत्रितम्'** इस आधार पर उन्होने रुय्यक के लक्षण की आलोचना भी करनी चाही है।[1] वस्तुत: ग्रहण शब्द का प्रयोग ही सार्थक है, कल्पन शब्द का प्रयोग सदोष है। ग्रहण शब्द स्वारसिक तथा उत्पादित दोनो ही प्रकार की प्रतीतियो का वाचक है, कल्पन शब्द से केवल उत्पाद्य या आहार्य प्रतीति का ही अनुसन्धान सभव है। उल्लेखालकार में जहाँ वस्तु में स्वभावत: विद्यमान अनेक धर्मों के कारण अनेकधा ग्रहण होता है वहाँ प्रतीति स्वारसिक होती है। जहाँ कवि अपनी कल्पना से वस्तु मे अनेकविध धर्मों की सृष्टि या कल्पना करता है वहाँ प्रतीति उत्पाद्य या आहार्य होती है। द्वितीय प्रतीति के लिए कल्पन शब्द अवश्य ठीक है पर प्रथम प्रतीति में वह अव्यापक है। परवर्ती आलकारिकों ने **'ग्रहण'** और **'कल्पन'** के इस झगडे से बचने के लिए **'उल्लेख'** या **'उल्लेखन'** शब्द का ही प्रयोग किया है।

उल्लेख एक स्वतन्त्र अलंकार

उद्योतकार ने अपनी काव्यप्रकाशटीका में उल्लेख अलकार का विभिन्न अलकारो में अन्तर्भाव दिखाया है। सभवत रुय्यक के पूर्ववर्ती आलकारिक इसे स्वतन्त्र अलकार मानने में हिचकते थे। उन्हे उल्लेख में रूपक, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति तथा श्लेष के ही विभिन्न तत्त्व दृष्टिगोचर होते थे। रूपक मे मुख में चन्द्रत्व निसगर्त नही रहता उसका आरोप होता है पर **'यस्तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः संगीतशालेति लासकैः'** उल्लेख के इस उदाहरण में श्रीकण्ठ जनपद पर तपोवन, कामायतन, तथा सगीत-शाला का आरोप नही है क्योकि विभिन्न प्रमाताओ के रुचिभेद से श्रीकण्ठ में निसर्गत: इन सभी के धर्म विद्यमान है, उनका मुख मे चन्द्रत्व की भाँति आरोप नही है।[2] यह कहना कि श्रीकण्ठ जनपद अवयवी है और तपोवनत्व आदि धर्म अवयव हैं, अवयवावयविभावसबध लक्षणामूलक है और रूपक सदा लक्षणा पर

---

१. अ० र० पृ० ५४।

२. जनपदे हि तपोवनत्वादयो धर्मा निसर्गत एव सन्ति इतरथा नोल्लेखः रूपकत्वप्राप्तेः। —सजी० पृ० २६।

आधारित है 'अलक्ष्यापरमार्थं यावता रूपकत्वम्' अतः इस उदाहरण में रूपकालकार है, सर्वथा सदोष कथन है। पहले तो यही नही माना जा सकता कि जनपद तथा तपोवन आदि मे अवयवावयविभावसबन्ध है क्योकि जैसाकि अभी बताया गया है जनपद में तपोवन आदि के गुण होना सहज सम्भव है और फिर यदि अभ्युपगमन्याय से यह सम्बन्ध मान भी लिया जाए तब भी यह नही माना जा सकता कि अवयवावयविभावसम्बन्ध पर आधारित प्रत्येक प्रयोग रूपकालकार हो जाता है, वहाँ लक्षणा मानी जा सकती है रूपक नही। रूपक के लिए तो आवश्यक है कि विषयी द्वारा विषय का रूपण हो और उनमे अभेद-प्रतीति हो। दोनों ही इसमे नही है अन. यह उदाहरण उल्लेख का है रूपक का नही। अस्तु, उल्लेख अलकार रूपक से भिन्न अलकार है।[1]

भ्रान्तिमान् मे वस्त्वन्तर को प्रतीति होती है। जो अतद्रूप होता है वह तद्रूप प्रतीत होता है—अधर बिम्बफल नही पर शुक उसे बिम्बफल समझता है। उल्लेख में भी श्रीकण्ठ जनपद तपोवन नही (अतद्रूप) है पर उसमें तपोवन की (तद्रूप) प्रतीति होती है। पर इतने से उल्लेख का भ्रान्तिमान् में अन्तर्भाव सभव नही है। भ्रान्तिमान् में विभिन्न प्रमाताओं द्वारा अपनी रुचिभेद से एक वस्तु को अनेकधा नही देखा जाता। उसमे तो एक ही प्रमाता को विपर्यय-बुद्धि होती है। उल्लेख में अनेकधाग्रहण एक नवीन तत्त्व है जो भ्रान्तिमान् में नही है अत इसे भ्रान्तिमान् से भिन्न मानना आवश्यक है।

अनेकधाग्रहणाख्यस्यापूर्वस्याभावात्। तद्धेतुकत्वाच्चास्यालंकारस्य।
—अ० स० पृ० ६३।

तथा

न ह्यनेकधाग्रहणरूपं वैचित्र्यं भ्रान्तिमति लक्षणम्, इह तु लक्षणमेव।
—सजी० पृ० ६१।

इस प्रकार भ्रान्तिमान् में यदि अनेकधाग्रहण का तत्त्व नही है तो अतिशयोक्ति के द्वितीय भेद (अभेद होने पर भी भेद के वर्णन) में, जहाँ एक ही प्रियाधर के प्रयासचुम्बन, बलात्कारचुम्बन तथा स्वात्मसमर्पित चुम्बन[2] को भिन्न बताया

---

१. देखिए—वि० पृ० ६०।

२. प्रासंगिक प्राकृतश्लोक की संस्कृतच्छाया इस प्रकार है—
मार्गितलब्धे बलात्कारचुम्बिते आत्मना चोपनीते।
एकस्मिन्नपि प्रियाधरेऽन्येऽन्ये भवन्ति रसभेदाः॥ —अ० स० पृ० ८५।

गया है, भिन्न प्रमाताओं का उपयोग नही है जबकि उल्लेख में ग्रहीतृभेद का एक नवीन तत्त्व है। एक ही विष्णु को प्रमदाएँ, युवतियाँ तथा किशोरियाँ भिन्न भिन्न रूप में देखती हैं।[1] इसमें एक ही विष्णु को (अभेद) भिन्न अवश्य बताया गया है पर प्रमाताओं के भेद से इस भेद का उल्लेख अतिशयोक्ति अलकार से उल्लेखालकार को भिन्न सिद्ध करता है।

न ह्यतिशयोक्तौ ग्रहीतृभेदोपयोगः, अत्र पुनरुपयोग इति नातिशयोक्तिमात्रमेतत्।[2] —सजी० पृ० ६३।

समुद्रबन्ध ने (पृ० ४३) उल्लेख तथा अतिशयोक्ति के उदाहरणो के सम्बन्ध में दो और मतो का उल्लेख करते हुए कहा है कि अतिशयोक्ति के उदाहरण (मार्गितन्नद्धे बलात्कारचुम्बिते) मे अधर-रस के भेद का निर्देश 'तत्तद्रूपोपादान' द्वारा नही हुआ है जब कि उल्लेख के उदाहरणों मे श्रीकठ की जनपद, तपोवन आदि के रूपों में प्रतीति होती है अर्थात् उल्लेख मे 'तत्तद्रूपोपादान' होता है। दूसरे व्याख्याकारो का मत है कि अतिशयोक्ति के उदाहरण में विभिन्न रसवाले चुम्बन प्रिया के अधररस के विशेषण हैं अत. उनसे विषयभेद नही माना जा सकता है जब कि उल्लेख मे विषयभेद सदा स्पष्ट रहता है। इस तरह इन दो व्याख्याओं के आधार पर अतिशयोक्ति के विपरीत उल्लेख मे गृहीतृभेद तो होता ही है साथ ही उसमें विषयभेद स्फुट रहता है जब कि अतिशयोक्ति में गृहीतृभेद का सौन्दर्य तो होता ही नही साथ ही विषयभेद भी स्पष्ट नही हो पाता।

'निरवकाशत्वाद् बली श्लेषः सर्वालंकारबाधकः' इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ कही भी श्लेष-कृत चारुत्व होता है वहाँ दूसरे अलकारो के लिए अवकाश (स्थान) नही रहता। 'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि अर्जुनो यशसि' आदि में गुरु, पृथु, अर्जुन आदि शब्दो के नानार्थक होने के नाते श्लेष है पर इस उदाहरण मे श्लेष के अतिरिक्त एक ही व्यक्ति का अनेकधा उल्लेख-रूप सौन्दर्य भी[3] है जो श्लेष

---

१ प्रासंगिक श्लोक की संस्कृतछाया इस प्रकार है—
नारायण इति परिणतवयोभिः श्रीवल्लभ इति तरुणीभिः।
बालाभिः पुनः कौतूहलेन एवमेव सत्यापितः॥
—अ० स० पृ० ७४।

२. तथा देखिए—अ० स० पृ० ६१ 'गृहीतृभेदाख्येन...... निश्चयः'।

३. अनेकधात्वनिमित्तं तु विच्छित्त्यन्तरमत्र दृश्यते। —अ० स० पृ० ६१।

के सौन्दर्य पर आधारित नही है । यह अनेकधा उल्लेख भिन्न प्रमाताओं की रुचि आदि पर आधारित नही है अपितु एक ही व्यक्ति का विषय (वाणी, वक्षस्थल, कीर्ति) के भेद से भिन्न रूपो मे उल्लेख हुआ है । गुरु आदि शब्दों मे श्लेष है । श्लेष सर्वालंकारबाधक है अत यह अवश्य है कि यहाँ उल्लेख की अपेक्षा श्लेष माना जाएगा, श्लेष उल्लेख का बाधक होगा । पर बाधक होना भी यह सिद्ध करता है जिसका बाध हुआ है वह एक भिन्न अलकार है क्योंकि बाध किसका होगा यदि अलकार का अपना स्वरूप न हो[1] जो श्लेष से सर्वथा भिन्न हो । अथच श्लेष हटा देने पर भी केवल 'बृहस्पतिर्वचसि' के नाते अनेकधा उल्लेख सम्भव है ।[2] अत दोनो ही रूपों मे उल्लेख को एक भिन्न अलकार मानना तर्क से प्रमाणित हो जाता है । रूपक, भ्रान्तिमान्, श्लेष तथा अतिशयोक्ति से प्रमातृभेद तथा विषयभेद के आधार पर अनेकधा ग्रहण सर्वथा भिन्न है, यद्यपि अनेक उदाहरणो में उपर्युक्त सभी अलकारो तथा सन्देह आदि और भी अन्य अलकारो की विच्छित्ति उल्लेख में हो सकती है ।

उल्लेख मे जब दूसरे अलकारो की छाया रहती है तो उसे सकीर्ण अन्यथा शुद्ध कहते है । शुद्ध तथा सकीर्ण इन दोनो भेदो के अतिरिक्त जयरथ ने प्रमातृभेद से सन्देह तथा अतिशयोक्ति पर आधारित विषयभेद से रूपक पर आश्रित उल्लेख का सोदाहरण विवेचन किया है । स्वरूप, हेतु तथा फल के उल्लेख के आधार पर भी इस अलकार के तीन भेद किए जा सकते हैं ।[3] जगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में जयरथ का अनुगमन किया है ।[4]

त्रिविध भेद

उल्लेख में चूंकि नानाधर्म के कारण एक का अनेकधा उल्लेख होता है अतः साधारण धर्म सम्भव नही है । अस्तु इसके साधारण धर्म के निर्देश पर आधारित त्रिविध भेदो का आलकारिको ने निरूपण नही किया है ।

---

१. अथापि स्वरूपेणाविद्यमानस्य बाधासम्भवाद् बाध एवोल्लेखसद्भावे लिंगम् । —सजी० पृ० ६१ ।

२. यदेवंविधे विषये श्लेषाभावेऽपि विच्छित्तिसद्भावः तस्मादेवमादौ उल्लेख एव श्रेयान् । —अ० स० पृ० ६२ ।

३. देखिए—वि० पृ० ६३ ।

४. देखिए—रसग० पृ० ६७३ ।

उपमामूलक अलंकार : अपह्नुति

कला की एक प्रसिद्ध परिभाषा है कि वह अपह्नव में ही अपने को अभिव्यक्त करती है—Art lies in concealing art. लीलारसिक ईश्वर भी जगत्कला की सृष्टि कर अपने को इसी में छुपा लेता है। वेद में एक जगह मन्त्र आया है जिसका अर्थ है कि उसने इस ससार का निर्माण किया और इसमें अनुप्रविष्ट होगया। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कर का कथन है कि लोक-व्यवहार सत्य और अनृत, ब्रह्म और माया को मिथुनीकृत करके ही चलता है—सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽयं लोकव्यवहारः। लीलानायक कृष्ण रासक्रीडा के पूर्व अन्तर्हित होते हैं और पुनः अपने को अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करते हैं।[1] इसप्रकार अन्तर्धान, अभिव्यक्ति और अन्तश्चरण[2] विश्वनायक की कला-लीला के अग है। कवि भी अपनी कला में सत्य (उपमेय) की अभिव्यक्ति और पुनः उसका निषेध और उपमान के रूप मे अभिव्यंजना करता है। छिपाने की यह कला एक विशेष अभिव्यक्ति-प्रणाली में अपह्नुति अलंकार कहलाती है। जिस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से सत्य के अपह्नव में सत्य का अभाव या निषेध नही होता अपितु सत्य का नवीन रूप और समर्थता ही दिखाई देती है ठीक उसी प्रकार उपमेय का अपह्नव कर उपमान के रूप में अभिव्यक्ति प्रथम का वास्तविक निषेध नही है अपितु उसके अनन्त उपमानों के रूप में प्रकट होने के सामर्थ्य और रूपविच्छित्ति को ही प्रकट करता है। कृष्ण का अनन्त गोपीरूप में आविर्भाव उसका निषेध न होकर क्रीड़ा के माध्यम से उसका साकार होना है। अत अपह्नव सृष्टिकला का भी रहस्य है और काव्यकला का भी।

भामह ने इस अलकार का सर्वप्रथम विवेचन किया है।[3] उन्होंने इसे उपमामूलक अलकार माना है, यह उनके इस कथन से स्पष्ट है कि अपह्नुति में

---

१. कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥—श्रीमद्भागवत, १०।३३।२०।

२. गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक॥ —वही, १०।३४।३६।

३. भामहालंकार, ३।२१।

उपमा किंचित् अन्तर्गत होती है।[1] परवर्ती आचार्यों में उद्भट, वामन, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, जगन्नाथ आदि सभी आचार्य इस अलंकार का आधार सादृश्य ही मानते हैं। दण्डी अपह्नुति को आवश्यक रूप से सादृश्य पर आधारित नहीं मानते।[2] भोज ने भी 'औपम्यवती अनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते' कह कर दण्डी का अनुसरण किया है।[3] शोभाकर, विश्वनाथ तथा अप्पय्यदीक्षित भी सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर इसे मानते हैं।

रुय्यक का अपह्नुति-लक्षण है—विषय का अपह्नव (निषेध कर) वस्त्वन्तर (विषयी या अप्रकृत) की प्रतीति या विधान।

सूत्र— विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः।

वृत्ति— वस्त्वन्तरप्रतीतिरित्येव।

मम्मट का लक्षण 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः' भी रुय्यक से सर्वथा मिलता है। रुय्यक का सूत्र संक्षिप्त है क्योंकि अलकार-क्रम का एक निश्चित सिद्धान्त अपनाने से वस्त्वन्तर-प्रतीति शब्द का अध्याहार संभव हो जाता है। रुय्यक-मम्मट के इसी लक्षण को अनेक परवर्ती आलकारिको ने माना है। यह अवश्य है कि जगन्नाथ ने इसे नव्यन्याय की भाषा में डुबो दिया है,[4] पर अर्थ वही है। प्रकृत का केवल निषेध करने से ही अपह्नुति नही होती, उसके लिए वस्त्वन्तर की प्रतीति या अप्रकृत का विधान आवश्यक है। 'मुखं न भवतीति' इस निषेधमात्र को अपह्नव कहा जा सकता है, अपह्नुति अलंकार नही। यही नही, जब प्रकृत का निषेध करने के बाद उसी प्रकृत का किसी दूसरे रूप में भी यदि विधान हो अर्थात् मुख्य रूप में किसी वस्तु का निषेध कर उसी वस्तु का पुन. गौणरूप में विधान किया जाए तो भी अपह्नुति अलंकार नही माना जा सकता, क्योंकि ऐसे स्थलों में प्रकृत का निषेध तो हो जाता है पर वस्त्वन्तर की प्रतीति नहीं होती। जगन्नाथ के

१. भामहालंकार, ३।२१।

२. काव्यादर्श २।३०४; यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि अपह्नुति का सादृश्येतर आधार पर सुविस्तार मानने वाले दण्डी अपह्नुति को उपमा का भेद मानकर उपमापह्नुति कहते हैं। २।३०१।

३. सरस्वती० ४।४१।

४. रसग० पृ० २७८।

अनुसार इसीलिए 'उपमेयतावच्छेदक' और 'उपमानतावच्छेदक' की सामानाधिकरण्येन प्रतीति नही होनी चाहिए। जहाँ यह सामानाधिकरण्य-प्रतीति होगी वहाँ रूपक होगा अपह्नुति नही। नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्, इस उदाहरण में सुधांशु (विषय) का निषेध तो है पर पुन उसी विषय का आरोप प्रेयसी के मुख पर कर दिया गया है। इसी प्रकार

न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससन्ततिम्॥ —अ० र० पृ० ४२।

यहाँ भी विष (विषय) का निषेध है पर वस्त्वन्तरप्रतीति या 'अन्यविधि' नही हैं। मुख्य विष (विषय) का निषेध कर ब्रह्मस्व को विष बताने से विष का गौण विधान मान भी लिया जाए तब भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह वस्त्वन्तर की प्रतीति नहीं कराता। उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक की इसमे सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती है। ऐसे सभी स्थलो में दृढारोप रूपक मानना चाहिए, अपह्नुति नही। इसी आधार पर जयरथ ने शोभाकर के अपह्नुतिलक्षण—'विषयस्य मुख्यस्य वापह्नवे अन्यविधिरपह्नुतिः'[1] के 'मुख्यस्य वापह्नवे' इस अश तथा इससे सम्बद्ध उपर्युक्त उदाहरण का खण्डन किया है। अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में तो मम्मट-रुय्यक-सम्मत परिभाषा ही दी है किन्तु कुवलयानन्द में उन्होने शोभाकर का अनुसरण किया है। जगन्नाथ ने रुय्यक तथा जयरथ का पूर्णत अनुगमन तथा समर्थन किया है। जगन्नाथ ने रुय्यक-जयरथ का पूर्णत: अनुगमन करते हुए उपर्युक्त आधारो पर ही अप्पय्यदीक्षित की आलोचना की है।[2] ऐसे स्थलो में अप्पय्यदीक्षित ने पर्यस्तापह्नुति मानी है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसे सभी स्थलो में दृढारोप रूपक मानना चाहिए, अत यह भेद करना अनुचित है।

अपह्नुति में आरोप अध्यवसायोन्मुख

भ्रान्तिमान् मे हमने चर्चा की थी कि जहाँ भी विषय की प्रतीति नही रहती, विषयी की प्रतीति प्रबल होती है, विषयी द्वारा विषय की निगीर्यमाणता या निगरण होता है वहाँ अध्यवसाय होता है। आरोप में विषयी विषय को अपने रूप से रग देता है, उसे निगलता नही। अपह्नुति

---

१. अ० र० पृ० ४०।

२. देखिए—रसग० पृ० १८०-१।

में वस्त्वन्तर-प्रतीति होना एक आवश्यक तत्त्व है। विषय का निषेध भी इसमें होता है पर प्रतीति विषय की न होकर विषयी की होती है। अत. इसमें आरोप स्पष्ट न होकर अध्यवसाय माना जा सकता है। किन्तु अपह्नुति में न केवल प्रकृत का उपादान होता है अपितु उसका निषेध भी अप्रकृत का आरोप करने के लिए होता है अतः अपह्नुति में आरोप को अध्यवसाय के समान मानना आवश्यक है। सभवत इसी आधार पर जयरथ ने अपह्नुति को आरोपगर्भा तथा अध्यवसायगर्भा इन दो रूपो में माना है। ये भेद आरोप तथा अध्यवसाय की भिन्न प्रतीतियों पर आधारित हैं। यदि अपह्नुति में विषय की प्रतीति तिरोहित हो जाती है तो इसे अध्यवसायगर्भ अन्यथा आरोपगर्भ कहेगे। अपह्नुति के अध्यवसायगर्भित न होने का रुय्यक ने कोई सकेत नही किया है। 'आरोपप्रस्तावाद् अपह्नवपूर्वक आरोपः' तथा 'आरोपपूर्वकोऽपह्नवः' इन वाक्यों से यही सभावना की जा सकती है कि रुय्यक को अपह्नुति मे अध्यवसाय अभीष्ट नही है। श्रीविद्याचक्रवर्ती तथा समुद्रबध भी इसी से सहमत है। पर मेरी दृष्टि मे अपह्नुति मे आरोप मानने पर भी इसे अध्यवसाय के समान मानकर रुय्यक-जयरथ की मान्यताओ का समन्वय सभव है; और यह उचित भी है। कुन्तक ने अपह्नुति अलकार को उत्प्रेक्षामूलक बताकर इसमे अध्यवसाय या सभावना के अंश का ही निर्देश किया है।

निम्नलिखित उदाहरण मे अपह्नुति आरोपमूलक न होकर अध्यवसाय-मूलक ही है—

> कलाभिस्तृप्त्यर्थं सुरपितृनृणां पञ्चदशभिः,
> सुधासूतिर्देवः प्रतिदिनमुदेतीत्यसदिदम्।
> परिश्रामत्येष प्रतिफलनमासाद्य भवती-
> कपोलान्तर्युक्त्या त्वदधरसुधासंग्रहपरः॥ —वि० पृ० ६७-६८।

अपह्नुति की सादृश्यमूलकता

आरोप या अध्यवसाय दो वस्तुओं मे कवि को दिखाई पडनेवाले अतिसाम्य को लेकर होता है। इसलिए साधर्म्य या सादृश्य पर आधारित अपह्नुति को ही इस अलंकार का बीज मानना चाहिए, सम्बन्धान्तर पर आधारित अपह्नव में अपह्नुति मानना उचित नहीं। पर जो आचार्य आरोप को लक्षणारूप मानते हैं, उन्हें न केवल सादृश्य अपितु सम्बन्धान्तर के आधार पर भी अपह्नुति अलकार मानना पड़ता है, क्योकि लक्षणा सादृश्य तथा कार्य-कारणभाव आदि अन्य अनेक सम्बन्धों से भी होती है। इसी आधार पर

शोभाकर तथा जयरथ ने सम्बन्धान्तर से होने वाली अपह्नुति का निरूपण किया है ।[१]

जयरथ ने इस सम्बन्ध में रुय्यक का अनुसरण न कर अंलकारभाष्य तथा अंलकाररत्नाकर की परम्परा का अनुसरण किया है। दण्डी तथा भोज[२] ने सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर भी इसके भेद माने थे, इसकी चर्चा हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। परवर्ती कुछ आलंकारिको ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया है।[3]

भेदोपभेद

अपह्नुति के लक्षण में दो तत्त्व हैं (क) निषेध या अपह्नव, (ख) अन्य की विधि या आरोप। कहीं निषेध पहिले और आरोप बाद में तथा कही आरोप पहिले और निषेध बाद में, इस प्रकार अपह्नुति के दो भेद होगे। यह परम्परा दण्डी तथा भोज से चली आ रही थी। जहाँ कही भी निषेध और आरोप होगा वहाँ दो वाक्य होना स्वाभाविक है, एक वाक्य के द्वारा निषेध होगा और दूसरे के द्वारा आरोप। पर जहाँ अपह्नव का तत्त्व छल, वपु, व्याज, नञ् आदि के प्रयोग के द्वारा बताया जाता है वहाँ भिन्न वाक्यो की आवश्यकता नही होती है। ऐसी स्थिति मे केवल आरोप का ही विधान होता है। यही इसका तीसरा भेद है। इस तीसरे भेद में भी आरोपपूर्वक अपह्नव या अपह्नवपूर्वक आरोप, ये दो भेद और किए जा सकते है, पर इन दो भेदों का सौन्दर्य वही हो सकता है जहाँ दो भिन्न भिन्न वाक्य हो। एक वाक्य होने पर इन दोनो भेदो मे अनुभूति की नवीनता नही आती अत अपह्नुति के इस

१. देखिए—अ० र० पृ० ४२ तथा वि० पृ० ६७।

२. भोज ने अपह्नुति को औपम्यवती तथा अनौपम्यवती के रूप में विभाजित किया है। प्रथम के वाच्य तथा प्रतीयमान सादृश्य के आधार पर, दूसरे के पूर्व और अपूर्व के नाम से उन्होंने उपभेद भी बताए हैं।
—सरस्वती० पृ० ४४५-४६।

३. सा च सादृश्यवती सादृश्यरहिता चेति द्विविधा। × × × सादृश्यरहितापि द्विविधा वाच्यापह्नोतव्या, प्रतीयमानापह्नोतव्या च।
—अंलकारमहोदधि, पृ० २५७।

तीसरे भेद में उन दो उपभेदों का मानना उचित नहीं है।[1] रुय्यक की इस मान्यता से अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ, तथा अन्य आलकारिक सहमत हैं।[2]

शोभाकर के अनुसार जहाँ नञ् आदि के द्वारा साक्षात् निषेध होता है, वहाँ शाब्द अपह्नव तथा जहाँ छल, व्याज आदि शब्दों का प्रयोग हो वहाँ आर्थ अपह्नव होता है क्योकि इनके द्वारा निषेध का साक्षात् निर्देश नही होता, उसकी प्रतीति होनी है और इसके लिए प्रकरण आदि का ज्ञान भी अपेक्षित रहता है।[3] अपह्नुति के इस प्रकार शाब्द तथा आर्थ भेद करना उचित ही है। जगन्नाथ भी शोभाकर की इस मान्यता से सहमत है।[4] रुय्यक तथा उनके टीकाकार इस भेद से सहमत नही प्रतीत होते। छल, छद्म, मिष, कपट, व्याज आदि की भाँति, वपु शब्द के प्रयोग से शोभाकर अपह्नुति अलकार नही मानते। उनके अनुसार वपु शब्द का प्रयोग मयट् प्रत्यय के अर्थ मे होता है। मयट् के प्रयोग मे रुय्यक ने परिणाम अलकार माना है जैसेकि 'तस्मै सौमित्रिमैत्री-मयमुपहृतवानातरं नाविकाय' इस उदाहरण मे मयट् और वपु समानार्थ हैं। यदि वपु शब्द के प्रयोग मे अपह्नुति मान ली जाती है तो परिणाम के उपर्युक्त उदाहरण को अपह्नुति का मानना पड़ेगा अत. शोभाकर के अनुसार वपु शब्द का प्रयोग जहाँ हो वहाँ या तो रूपक होगा या निदर्शना पर अपह्नुति अलकार नही हो सकता। उनका यह मत सदोष है। रूपक मे आरोपविषय का अपह्नव नही होता। यह कहना कि दो भिन्न वस्तुओ का सामानाधिकरण्य होने के नाते ('मुखं चन्द्रः' में मुख और चन्द्र का एक विभक्ति मे निर्देश है) एक का निषेध मानना पड़ेगा, और चूकि आरोप्यमाण का निषेध सगत नही हो सकता

---

१. एतस्मिन्नपि भेदेऽपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यविपर्यये भेदद्वयं सदपि न पूर्ववद्वैचित्र्यतावहमिति न भेदत्वेन गणितम्। —अ० स० पृ० ६५-६।
यद्यप्यपह्नवारोपपौर्वापर्यविपर्यये भेदद्वयं भवत्येव नतु चमत्कारः कश्चित्, नतु भेदसम्भवोऽलंकारप्रथनहेतुः अपितु सचमत्कारभेदसम्भवः। सचमत्कारता च सति वाक्यभेदे (स्यात्) एकवाक्यतायान्तु छलादिशब्दस्य पौर्वापर्यपर्याय-प्रयोगेऽपि न प्रतीतिभेदः कश्चित्। क्रियाविशेषणत्वेन क्रियापेक्षया प्रतीतौ प्राथम्यनियमात्। अतः छलादिप्रयोगे द्विधा न गणितम्।
—सजी० पृ० ६८।

२. हि० कुवलयानन्द—पृ० २८-३१, रसग० पृ० ३६७।

३. अ० र० पृ० ४०।

४. देखिए—रसग० पृ० २७८-९।

इसलिए आरोपविषय का निषेध पर्यवसान में होगा ही, यह कथन सर्वथा तर्क-हीन है क्योंकि आरोप मे जब दो वस्तुओ का समानाधिकरण से निर्देश होता है वहाँ आरोप्यमाण विषयी अपने गुणो का बोध लक्षणा द्वारा कराता है और उन्ही का अन्वय आरोप-विषय के साथ होता है। विषय का निषेध आरोप में कदापि नही होता। इसीलिए 'मुखं चन्द्रः' मे चन्द्रगुणविशिष्ट मुख की प्रतीति होती है, मुख का बाध प्रतीत नही होता। बाध तो केवल चन्द्र का होता है जो लक्षणा द्वारा अपने में रहने वाले गुणो को लक्षित करता है, और फिर रूपक में 'न मुखम्' यह प्रतीति भी नही होती। अत वपु शब्द के प्रयोग करने पर रूपक मानना शोभाकर का युक्तिहीन प्रलाप है। इसके अतिरिक्त वपु शब्द के प्रयोग से निदर्शना भी नही मानी जा सकती। निदर्शना के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु का वस्त्वन्तर से सम्बन्ध का असम्भव होना बताया जाए तथा उनमें परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो। वपु शब्द से दोनो ही नही हो पाता। शोभाकर ने अपह्नुति अलकार के उदाहरण[1]—

> अमुष्मिल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः,
> स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
> यदंगांगाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे,
> शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः॥

[मृगनयनी के सौन्दर्यसुधा-सरोवर मासल जघनभाग मे शकर द्वारा जलाया गया मदन ही, सचमुच, आ पडा है क्योकि उसके अगरूपी अगारो के बुझने से उठने वाली यह धूमशिखा नाभिकुहर मे रोमावली के रूप मे परिणत हो गई है।]

में परिणामालकार माना है, जो सर्वथा अनुचित है। यह रोमावली नही है अपितु धूमशिखा है, यह प्रतीति अपह्नुति की है, परिणामालकार की नही। उसकी प्रतीति के लिए तो रोमावली की प्रधानता अपेक्षित है पर यहाँ तो धूमशिखा की प्रधानतया प्रतीति होती है, उसी से भस्मीभूत काम का अनुमान सभव है। रोमावली का निषेध मानना आवश्यक है अत रोमावलीरूप विषय का अपह्नव तथा धूमशिखारूप विषयी का विधान होने के नाते यहाँ अपह्नुति है, परिणाम या रूपक नही। रुय्यक का तथा उनके टीकाकारों का यही मत है।[2]

---

१. अ० र० पृ० ४०, अ० स० पृ० ६६।

२. देखिए—वि० पृ० ६६-६७, तथा समुद्र० पृ० ४८।

अत्र हि धूमशिखा रोमावलीवपुः परिणमतीत्युक्तौ न रोमावलिः अपितु धूमशिखेति प्रतीयते । —संजी० पृ० ६६ ।

मम्मट भी यही मानते थे—

अत्र रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः । —का० प्र० ।

परवर्ती आलकारिकों ने, जैसेकि पण्डितराज जगन्नाथ ने, उपमा तथा रूपक के समान अपह्नुति के निरवयवा, सावयवा आदि[1] भेद भी किए हैं पर सर्वस्व में उनका सकेत या विवेचन नही है ।

सादृश्यमूलक इस अलंकार मे अन्य अलकारो की भाँति समानधर्म का तीन प्रकार से निर्देश संभव है—अनुगामितया, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से । इन तीनो का सोदाहरण विवेचन जयरथ ने किया है ।[2]

---

१. जैसेकि विश्वनाथ ने श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक भेदों की, जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित ने हेत्वपह्नुति (युक्तिपूर्वक अपह्नव) की चर्चा की है ।

२. देखिए—वि० पृ० ६७ ।

उपमामूलक अलंकार : उत्प्रेक्षा

उपमा तथा रूपक की भाँति उत्प्रेक्षा भी प्राचीन अलकार है। भरत को छोड़कर प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी आलंकारिकों ने इसे माना है। इस अलंकार को 'उपमया सह' कहकर भामह ने उपमा के साथ इसके सम्बन्ध का पर्याप्त सकेत दिया है।[1] कुन्तक का कहना है कि अगर एक से अधिक अलकार किसी उदाहरण मे हो और यदि उनमें उत्प्रेक्षा भी एक है तो वह अपने सौन्दर्य से दूसरे अलकारों को फीका बना देती है।[2] केशवमिश्र ने उत्प्रेक्षा को सभी अलकारों का सर्वस्व, कवि की कीर्ति को बढ़ाने वाली तथा नवोढा की भाँति हृदयहारिणी बताया है—

सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्तिविवर्धिनी।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा स्मितादिव ॥—अलकारशेखर, पृ० ३६।

उत्प्रेक्षालंकार के महत्व का यह उचित सस्तव है। दण्डी के 'लिम्पतीव तमोंऽगानि · ' उदाहरण ने अनेकों की बुद्धि का लेपन किया है।[3] उद्भट ने 'सम्भावनेयमुत्प्रेक्षा' कहकर उत्प्रेक्षा का बीज सम्भावना में माना था।[4] आरोप, अपह्नव, सन्देह आदि अलकारशास्त्र की समृद्ध शब्दावली को अलंकार-निर्वचन के लिए एक नवीन शब्द मिला। वामन ने उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हुए कहा कि अतद्रूप का अन्यथा अध्यवसान, जो अतिशय या भ्रान्तिज्ञान की निवृत्ति के लिए होता है, उत्प्रेक्षा है। उद्भट ने उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हुए संभावना शब्द दिया था तो वामन ने उसके लिए अध्यवसान। आगे चलकर रुय्यक ने उद्भट

---

१. भामहालंकार, २।९१।

२. अपहृत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥—व०जी० (अन्तरश्लोक) १०१।

३. दण्डी के अनुसार चेतन अथवा अचेतन की अन्यथा स्थित वृत्ति को अन्यथा उत्प्रेक्षित करना उत्प्रेक्षालंकार है।—काव्यादर्श, २। २२१।

४. लोकातिक्रान्तविषयां भावाभावाभिमानतः संभावनेयम्।
—का० अ० स० ३।४५।
उद्भट ने उत्प्रेक्षा को 'अतिशयान्विता' कहा है, जिसका अर्थ तिलक ने 'उत्कर्षपर्यवसायिनी' दिया है।

की सम्भावना और वामन के अध्यवसान को साध्य अध्यवसाय बताकर एक तो अतिशयोक्ति से इसके विषय-विभाग की स्पष्ट दिशा निर्धारित की और दूसरी ओर पारिभाषिक रूप में उपयुक्त नवीन शब्द का प्रयोग किया। तबसे आजतक के आलंकारिक संभावना और साध्याध्यवसाय इन दो शब्दों का सहारा लेकर उत्प्रेक्षा का स्वरूपोन्मेष करते आ रहे है। वामन ने 'सादृश्याद्विषयुत्प्रेक्षा' कहकर इसे स्पष्ट शब्दो में सादृश्यमूलक घोषित किया है तथा जो आलकारिक इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति में करना चाहते थे उन्हे अपने सूत्रों[1] द्वारा दोनों अलकारो का भेद बताकर अन्तर्भाव-कथा को वामन ने सदा के लिए मौन कर दिया।

अध्यवसाय की साध्यावस्था

ऊपर उपमा आदि अलकारो के विवेचन मे हमने देखा है कि इन सभी में मुख तथा चन्द्र की प्रथमत भिन्नत्वेन प्रतीति होती है पुन· यह प्रतीति या तो भेदाभेद की समानता मे परिणत होती है अथवा अभेद में। अपह्नुति मे भी विषय का उपादान होने से उसके निषेध या अपह्नव के माध्यम से वस्त्वन्तर की प्रतीति होने पर भी प्रथम वस्तु, उदाहरण के लिए मुख, की प्रतीति सलग्न रहती है। इस अलकार के संदर्भ मे हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वस्त्वन्तर की प्रतीति की प्रक्रिया आरोप से प्रारम्भ होकर अध्यवसान मे उन्मुख हो जाती है इस प्रकार प्रतीति-विश्लेषण की दृष्टि से अपह्नुति की स्थिति रूपक के आरोप और उत्प्रेक्षा के अध्यवसाय की मध्यवर्तिनी है। उपमा शब्द जिससे उपमा दी जाती है उसका, रूपक शब्द जिस पर रूपण होता है उसका, सन्देह या भ्रान्तिमान् शब्द जिसके सम्बन्ध में सन्देह या भ्रान्ति होती है उसका, और इसीप्रकार अपह्नुति शब्द जिसका अपह्नव होता है उसका बोध पृथग् अधिकरण के रूप में बनाए रखते है। अलकारों के ये चरितार्थ नाम पर्यवसित अनुभूति मे उपमेय या विषय की अनुसक्त प्रतीति के समर्थ बोधक हैं। उत्प्रेक्षा शब्द इसके विपरीत कल्पना या सम्भावना के अश पर बल देता है। विषय के स्थान पर विषयी के सम्बन्ध मे कवि के प्रोद्भासमान आकर्षण को व्यक्त करता है। यहाँ से उसके कवित्व का प्रधान बिन्दु कमल की सम्भावना का होता है। सम्भावना अथवा मुख को कमल के रूप मे उत्प्रेक्षित करने की यह मानसी वृत्ति साध्य अध्यवसाय है। रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का लक्षण देते हुए विषय की इसी निगीर्यमाणता को साध्य अध्यवसाय या अध्यवसाय मे व्यापार (क्रियांश)

---

१. का० अ० सू० ४।३।९ ; ४।३।१० ।

की प्रधानता कहा है। उनका उत्प्रेक्षा-लक्षण है—

अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। —अ० स० पृ० ६६।

अध्यवसाय का अर्थ है विषय का निगरण, इसी के द्वारा सहृदय को दो वस्तुओ में अभेद-प्रतीति होती है—

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। —वही।

जब विषय का निगरण सर्वथा नही होता वह निगरण की प्रक्रिया या निगीर्यमाणता मे रहता है तो उसे साध्य अध्यवसाय कहते हैं और जब निगरण सर्वथा पूर्ण हो जाता है तो उसे सिद्ध अध्यवसाय। पहले को उत्प्रेक्षा तथा दूसरे को अतिशयोक्ति कहते हैं—

अध्यवसायसाध्यत्वप्रतीतावियमिष्यते।
तत्सिद्धताप्रतीतौ तु भवेदतिशयोक्तिधीः॥ —वि० पृ० ८३।

अध्यवसाय का साधारण लोकप्रचलित अर्थ है निश्चयज्ञान। ज्ञान या तो सम्यग् होता है या मिथ्या। रजत को रजत ही पहिचानना सम्यग् ज्ञान है और उसे सीपी समझना मिथ्या ज्ञान है। साहित्यशास्त्री का 'अध्यवसाय' न तो मिथ्या ज्ञान है और न सम्यग् ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान तो इसलिए नही है क्योकि सहृदय काव्यानुभूति के क्षण मे अपनी प्रेयसी के मुख को चन्द्र सचमुच समझता है और सम्यग् ज्ञान इसलिए नही है क्योकि जीवन की कटुता के अनेक क्षण मुख को वही मुख समझने के लिए बाध्य करते है जिसके लिए रोटी का सवाल है। इसके अतिरिक्त प्रमाता शुक्तिका को शुक्तिका समझकर उसे रजत समझने का भ्रम नही कर सकता पर सहृदय मुख को मुखरूप मे समझकर भी इसे चन्द्र समझता है। इस प्रकार कवि का 'अध्यवसाय' लोक-विलक्षण है, वह प्रतीति-पुरस्सर अध्यास है। सन्देहालकार की स्थिति में कवि कोसन्देह था कि मुख मुख है या चन्द्र। अब वह मुख के चन्द्र होने की सम्भावना करता है। सन्देह में दोनों ही अनुभूतियाँ समानरूप से क्या है के चक्कर में पड़ी रहती हैं। विषय और विषयी दोनों ही अशों से कविविमर्श किंस्वित् का प्रश्न पूँछता है, किन्तु सम्भावना मे एक पक्ष (विषय) शिथिल हो जाता है और दूसरा पक्ष (विषयी) दृढ हो जाता है। बालबोधिनी के शब्दो में उपमेय की अपेक्षा उपमान की प्रतीति में उत्कटता आ जाती हैं।[1] यह स्थिति सम्भावना की है। इसके आगे चलकर कवि उपमेय की प्रतीति नहीं करता। विषय की

१. का० प्र० (झलकीकर), पृ० ५८४।

शिथिलता का प्रश्न ही नही रहता, केवल विषय का ही ज्ञान रहता है। इसमें कवि की चित्तवृत्ति मे निश्चय रहता है। सम्भावना इसी सन्देह और निश्चय की अन्तर्वर्तिनी प्रतीति है। इसी सम्भावना-प्रत्यय को रुय्यक ने साध्य अध्यवसाय कहा है। यद्यपि साधारणतया इन दोनो मे कोई भेद नही है,[1] पर लोक तथा शास्त्र की सम्भावना तथा साहित्यिक साध्य अध्यवसाय में कुछ भेद होना स्वाभाविक है। लोक मे जब हम 'पुरुषेणानेन भवितव्यम्' के रूप में पुरुष की सम्भावना करते है तो वास्तविक पुरुष हो भी सकता है अर्थात् पुरुष की वस्तु-सम्भवता है किन्तु कवि जब मुख में चन्द्र की सम्भावना करता है तो क्या वहाँ वास्तविक चन्द्र सम्भव है ? नही। विषयी की प्रतीति साध्याध्यवसाय मे वस्तुदृष्टि से असत्य है। चन्द्र का मुख के रूप मे होना सदा असम्भव है, वस्तुदृष्टि से असत् है। इसीलिए रुय्यक का कथन है कि साध्य अध्यवसाय मे विषयी की प्रतीति असत्यतया होती है—

साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। —अ० स० पृ० ७१।

इस असत्यप्रतीति का कारण यह है कि कवि मुख को मुख जानने के बाद उसमें चन्द्र की सम्भावना प्रयोजनविशेष को लेकर करता है जबकि प्रमाता स्थाणु में पुरुष की सम्भावना प्रतीतिपुरस्सर या प्रयोजनविशेष को लेकर नही करता। कवि मुख में चन्द्र की सम्भावना किस उद्देश्य को लेकर करता है ? निश्चय ही चन्द्र की मधुरिम शीतलता आदि मुख मे बताने के लिए। पर ये सारे धर्म चन्द्र के है, वस्तुत: वह इनका आश्रय है, मुख नही अर्थात् अप्रकृत तो उन सारे गुणों का आश्रय है और प्रकृत उनका आश्रय नही है। पहला सम्भवाश्रय है और दूसरा असम्भवाश्रय। प्रेयसी के मुख मे कवि को चन्द्र की मधुरिमा के दर्शन होते हैं। वह चन्द्र के सभी गुणो को मुख में बताने के लिए प्रवृत्त हो जाता है, भले ही मुख चन्द्र ही है यह निश्चय-प्रतीति न करा सके। यह प्रयास, व्यापार या मुख मे चन्द्र की सम्भावना साध्य अध्यवसाय है।[3]

---

१. यदेव चाध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावनात्मकत्वम्। संभावना हि एकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदार्ढ्येन च प्रादुर्भवतीत्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यकक्ष्यत्वम्। —वि० पृ० ७०।

२. देखिए—वि० पृ० ७१। तथा—
मुखं मुखत्वेन जानन्नेव यदा चन्द्र इति सम्भावयति तदा विषयी चन्द्रो मुखत्वेनासत्यः प्रतिभाति। —सजी० पृ० ७१।

३. देखिए—अ० स०, वि० पृ० ७१; समुद्र० पृ० ४६-५१।

शोभाकर के अनुसार प्रत्यय या ज्ञान दो प्रकार का है—सन्देह तथा निश्चय। अन्तिम के दो भेद हैं सम्यग् तथा असम्यग्। सम्यग् प्रत्यय का अर्थ से व्यभिचार नही होता और असम्यग् का व्यभिचार होता है। इसी को न्याय दर्शन मे क्रमश: प्रवृत्तिसवाद तथा प्रवृत्ति-विसवाद कहा जाता है। उत्प्रेक्षा को न तो सम्यग् ज्ञान माना जा सकता है और न असम्यग्। दोनो ही निश्चय-ज्ञान के भेद हैं। उत्प्रेक्षा में निश्चय-ज्ञान नही होता अत. जो ज्ञान अनिश्चयरूप है वह सन्देह प्रत्यय के अन्तर्गत मानना पडेगा अत. उत्प्रेक्षा सम्भावना है और सम्भावना सन्देहमूलक है। वह अनिश्चय-ज्ञान है। इसमे अध्यवसाय तो माना ही नही जा सकता क्योंकि इसके लिए आवश्यक है विषय का निगरण और विषयी का निश्चय। पर उत्प्रेक्षा मे दोनो ही नही है।[1] अत· शोभाकर के अनुसार उत्प्रेक्षा को अध्यवसायगर्भ नही माना जा सकता। इस आधार पर रुय्यक-लक्षण—'अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा'—की उन्होने आलोचना की है।

शोभाकर की भाँति जगन्नाथ का भी कहना है कि उत्प्रेक्षा मे विषय जागरूक (वे 'उपादान' शब्द का प्रयोग नही करते) रहता है और अध्यवसाय के लिए आवश्यक है विषय का निगरण।[2] विषयनिगरण न होने पर भी यदि अध्यवसान माना जा सकता है तो रूपक को भी अध्यवसायगर्भ मानना पडेगा। अध्यवसाय लक्षणा का एक भेद है। पर उत्प्रेक्षा के विधेयाश मे लक्षणा नही होती अत. इस अलकार मे साध्य अध्यवसाय मानना उचित नही है। यह है जगन्नाथ का मत।

हम बता चुके हैं कि सन्देह और निश्चय के अतिरिक्त सम्भावना को इनसे भिन्न तीसरा प्रत्यय मानना आवश्यक है। सम्भावना न तो निश्चय-ज्ञान है और न अनिश्चय-ज्ञान। वह इन दोनो की अन्तर्वर्तिनी स्थिति है। इसकी दशा त्रिशंकु की है जो न धरा पर है न स्वर्ग में। अत: प्रत्यय तीन प्रकार का है, दो तरह का नहीं। आरोप तथा अध्यवसाय का भेद स्पष्ट करते हुए यह भी बताया जा चुका है कि विषय का उपादान उत्प्रेक्षा में आवश्यक नहीं है। आरोप मे विषय की विषयितया प्रतीति होती है। अध्यवसाय मे विषयी की ही प्रतीति होती है। इस भेद के आधार पर रूपक

---

१. अ० र० पृ० ४७।

२. रसग० पृ० ३०२।

को अध्यवसायगर्भ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः शोभाकर तथा जगन्नाथ का निम्नलिखित कथन सदोष है—

अत एव नाध्यवसायमूलत्वमस्याः। तस्य विषयनिगरणं विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि संभवति विषयोपादानात्, निश्चयाभावाच्च।

—अ० र० पृ० ४७।

तथा—

किञ्च नूनं मुखं चन्द्र इत्यादौ कुत्राध्यवसायः विषयस्य जागरूकत्वात्। ×× साध्याध्यवसाने मानाभावात्, अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसायगर्भत्वापत्तेः।

—रसग० पृ० ३०२।

उत्प्रेक्षा में जहाँ विषय का निर्देश भी होता है वहाँ भी अध्यवसाय की प्रक्रिया सम्भव है, हाँ यह अवश्य है कि इस प्रक्रिया मे विषयी द्वारा विषय का अधःकरण आवश्यक है। विश्वनाथ ने यही मत व्यक्त किया है, जो उचित भी है—

विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ॥—सा० द० पृ० ५४८।

इस प्रकार अध्यवसाय-प्रक्रिया का आवश्यक तत्त्व विषयी को उभाड़कर प्रस्तुत करने का है, विषय का उपादान होता है या नहीं यह अवान्तर प्रश्न है। रूपक की आरोप-प्रक्रिया में मुख तथा कमल का, आरोपविषय तथा आरोप्यमाण विषयी का पृथग्-पृथग् उपादान आवश्यक है। उपादान के बिना रूपण की प्रक्रिया सम्भव नही है। इसमे प्रतीति भी मुख तथा कमल दोनों की होती है पर उत्प्रेक्षा मे भले ही विषय का उपादान हो पर प्रतीति विषयी की ही प्रधान रूप मे होती है।

अध्यवसाय की लक्षणामूलकता

आरोप की भाँति अध्यवसाय लक्षणागर्भित है। लक्षणा के दो भेद हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना। सारोपा में विषयी तथा विषय दोनो का उपादान होता है।[1] साध्यवसाना मे विषयी विषय का अन्तःनिगरण करता है।[2] लक्षणा

---

१. सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।—का०प्र० १४वीं कारिका।

२. विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।

—का० प्र० १५वीं कारिका।

के ये ही दो भेद आरोपगर्भ तथा अध्यवसायगर्भ अलकारों के मूल मे हैं । आरोप होने पर रूपक आदि और अध्यवसाय होने पर (भ्रान्तिमान्) उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति अलकार होते हैं । आरोप में विषयी और विषय का उपादान होने पर विषय की प्रतीति विषयी के रूप मे होती है । यदि ऐसा न हो तो सहृदय को चमत्कार ही न मिले । केवल लक्षणा होने के लिए यह आवश्यक नही है कि विषय की विषयितया प्रतीति हो । अलंकारवाद की दृष्टि से 'गौर्वाहीकः' में लक्षणा मानी जा सकती है, रूपक नही । 'मुखं चन्द्रः' मे रूपकालकार है क्योंकि सहृदय मुख की चन्द्र के रूप मे प्रतीति करना चाहता है, उसी में चमत्कार है । मुख और चन्द्र का केवल समानाधिकरण से अलकार मान लेना सारोपा लक्षणा को ही रूपक मानना होगा । यहाँ पर यह लिखना आवश्यक है कि अलकार शब्दशक्तियों के विभिन्न भेद नहीं हैं अत सारोपा लक्षणा के प्रत्येक प्रयोग को रूपक अलकार नही माना जा सकता । यद्यपि यह अवश्य है कि वह शब्दव्यापार रूपक के मूल है । इस प्रकार रूपकगत आरोप मे विषय की विषयी के रूप में अनुभूति होती है पर उपादान दोनो का होता है । अध्यवसाय के दोनो रूपो—साध्य तथा सिद्ध—में विषय का उपादान अपरिहार्य नही है, यद्यपि पहले में वह उचित है । जहां तक सिद्ध अध्यवसायरूप अतिशयोक्ति का सम्बन्ध है, सभी आलकारिक उसमें विषय का उपादान नही चाहते । साध्य अध्यवसायरूप उत्प्रेक्षा मे भी विषय का उपादान यदि न भी हो तब भी उत्प्रेक्षा हो सकती है । रुय्यक के विवेचन से तो यही मालूम पडता है कि वे उत्प्रेक्षा मे विषयोपादान आवश्यक समझते हैं किन्तु उत्प्रेक्षा का स्वरूप यदि निगरणप्रक्रिया या अध्यवसाय-क्रिया मे है तो मेरे विचार में विषय का उपादान अपरिहार्य नही है । जयरथ का भी यही विचार है—

अतएव चात्र क्वचिद् विषयानुपादानम् । —वि० पृ० ७० ।

और इस सम्बन्ध में उन्होने मम्मट का अनुसरण किया है । परवर्ती आलकारिको मे विश्वनाथ तथा जगन्नाथ भी विषयानुपादान की अवस्था में उत्प्रेक्षा मानते हैं । यह ठीक भी है क्योकि उत्प्रेक्षा मे अध्यवसाय होता है, सम्भावना उसका स्वरूप है, निगीर्यमाणता की प्रतीति होना उसका लक्षण है; और यह सब विषय के उपादान न होने पर भी सम्भव है । अध्यवसाय इसके विपरीत न होकर अनुकूल ही होगा । वस्तुत. विषय के उपादान और अनुपादान को लेकर हम उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति का भेद करना उचित नही समझते । जहां 'इव' का प्रयोग हो और निगीर्यमाणता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होगी, विषय का

अनुपादान होने से वहाँ अतिशयोक्ति तो नहीं होगी क्योंकि उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति का वास्तविक भेद अध्यवसाय की साध्यावस्था तथा सिद्धावस्था में है। अस्तु, आरोप में विषय तथा विषयी का उपादान सभी स्थितियों में आवश्यक है। अध्यवसाय में इन दोनों का उपादान आवश्यक नहीं है। पहले में यदि विषय की विषयितया प्रतीति होती है तो अध्यवसाय में विषयी की ही प्रतीति होती है।

तत्र विषयस्य विषयितया प्रतीतिः, इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः। —वही।

उत्प्रेक्षा के भेद

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के निम्नलिखित आधारों पर भेदोपभेद किए हैं। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द[1] का प्रयोग अथवा अप्रयोग, उत्प्रेक्ष्य वस्तु के जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य रूप चार भेद, उसका भावरूप अथवा अभाव रूप होना, उत्प्रेक्षानिमित्त का गुण अथवा क्रियारूप मे होना, उसकी उक्ति अथवा अनुक्ति, उत्प्रेक्ष्य वस्तु का स्वरूप, हेतु, फल में से किसी एक रूप का होना तथा प्रस्तुत की उक्ति अथवा अनुक्ति। वाच्योत्प्रेक्षा (जिसमे इवादि का उपादान होता है) तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा (जिसमे इवादि का उपादान नही होता) में से प्रत्येक के इन आधारो पर ९६ भेद होते हैं।[2] रुय्यक के अनुसार द्रव्य का

---

१. उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् और इव आदि हैं—

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥

रुय्यक के अनुसार इवादि की भाँति, मन्ये शब्द उत्प्रेक्षा के अन्य हेतुओं के न रहने पर केवल वितर्क का वाचक है, सम्भावना का नहीं।

—अ० स० पृ० ८२।

इव शब्द उपमावाचक भी है और सम्भावनावाचक भी। संजीविनी के अनुसार जब उपमान लोकसिद्ध होता है तो इव शब्द साधर्म्य का सूचक होता है तथा इस स्थिति में उपमा अलंकार होता है। जब उपमानांश लोकसिद्ध न होकर कविकल्पित होता है तो इव शब्द सम्भावना व्यक्त करता है तथा उत्प्रेक्षा का वाचक बन जाता है।

२. देखिए—अ० स० पृ० ७२-७३ तथा नि० का० ३८-४३।

स्वरूपोत्प्रेक्षण ही होता हैं अतः वे हेतु तथा फलमूलक भेद वाच्योत्प्रेक्षा के नहीं मानते हैं। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से लगभग अस्सी भेद वाच्योत्प्रेक्षा के रुय्यक को अभिमत हैं। प्रतीयमाना मे उत्प्रेक्षानिमित्त के अनुपादानमूलक भेदों को नही माना जा सकता क्योंकि इव आदि का उपादान भी न हो (जो कि प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मे स्वाभाविक है) और निमित्त की भी चर्चा न हो तो भला उत्प्रेक्षा कैसे होगी ? इसके अतिरिक्त प्रतीयमाना में स्वरूप का उत्प्रेक्षण भी सम्भव नही है अतएव जयरथ के अनुसार रुय्यक को प्रतीयमाना के केवल अड़तालीस भेद मानना अभीष्ट है।[1] रुय्यक ने अलकारानुसारिणी मे यह स्पष्टत. निर्देश भी किया था, यह हमें जयरथ के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षाभेदा अष्टचत्वारिंशत्।

---

१. चित्रमीमांसा के अनुसार वाच्या के ५५ और प्रतीयमाना के ४० भेद रुय्यक को अभिमत हैं। अप्पय्यदीक्षित के अनुसार रुय्यक की भेदोपभेदव्यवस्था के लिए देखिए—चित्रमी० पृ० ६८-६६।

संजीविनी के अनुसार रुय्यक को वाच्योत्प्रेक्षा के ६६ और द्रव्योत्प्रेक्षा के हेतु, फलमूलक १६ भेदों को छोड़ दें तो अस्सी तथा प्रतीयमाना के बत्तीस भेद मानना अभीष्ट हैं। इसके अनुसार रुय्यक-सम्मत उत्प्रेक्षा के भेदों का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

वाच्योत्प्रेक्षा तु षरणवति (?) सोद्दिष्टा। यथा जातिगुणक्रियाद्रव्याणामुत्प्रेक्ष्यत्वेन चतस्र उत्प्रेक्षाजातयः प्रतिस्वं चतुर्विंशतिधा प्रथन्ते। यथा जात्युत्प्रेक्षा तावद् भावाभावाभिमानरूपतया द्विधा। द्विविधापि गुणनिमित्तका क्रियानिमित्तका च, इत्थं चतुर्धा। सा चोपात्तनिमित्ता, अनुपात्तनिमित्ता चेत्यष्टधा। अष्टविधापि हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षारूपतया त्रिविधेति चतुर्विंशतिप्रकारा। अनेनैव नयेनान्यदप्युत्प्रेक्षात्रयं प्रत्येकं चतुर्विंशतिधा मन्तव्यम्। तथा च प्रत्येकं त्रिस्कन्धिका एताः हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपतया स्कन्धत्रयमपि प्रतिस्वमष्टविधम्। तथाहि—उपात्तगुणनिमित्ता भावाभिमानरूपिणी हेतुजात्युत्प्रेक्षा, सैवानुपात्तगुणनिमित्ता। तथोपात्तक्रियानिमित्ता सैवानुपात्तक्रियानिमित्ता चेति भावाभिमानरूपतया चतुर्धा। एवमभावाभिमानरूपतयापि चतुर्धा इति हेतूत्प्रेक्षास्कन्धोऽष्टविधः। अनयैव रीत्या फलोत्प्रेक्षास्कन्धः स्वरूपोत्प्रेक्षास्कन्धश्च प्रतिस्वमष्टविध इति जात्युत्प्रेक्षा त्रिस्कन्धतया चतुर्विंशविधा। एवं गुणक्रियाद्रव्योत्प्रेक्षा अपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिधा ज्ञेयाः।

द्विविध उत्प्रेक्षा के इन भेदोपभेदों के अतिरिक्त कभी उसके धर्म (गुण अथवा क्रिया) के श्लिष्टशब्दनिमित्तक होने, कभी पदार्थ के उपमालंकार और वाक्यार्थ के उत्प्रेक्षा का वाचक होने (उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा), कभी छल आदि शब्दों के प्रयोग करने से (सापह्नवा उत्प्रेक्षा) अनेक और उपभेदों की कल्पना की जा सकती है। आचार्य जयरथ ने, भामह तथा उद्भट के 'उत्प्रेक्षातिशयान्विता' वचन के आधार पर उत्प्रेक्षा के अतिशयोक्तिमूलक भेद गिनाकर (देखिए-वि० पृ० ८२) इसकी भेदसंख्या और भी बढा दी है। उत्प्रेक्षा के इन विशेष भेदों के अतिरक्त साधारण धर्म के त्रिविध निर्देश के आधार पर भी इसके भेद किए जा सकते है।[1] उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक है अतः अनुमान, सादृश्य और उभय कुन्तक-सम्मत इन[2] भेदाधारो में से 'सम्भावना' केवल द्वितीय में मुझे मान्य है। उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक विस्तार तथा वर्गीकरण रुय्यक ने ही किया है। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने उत्प्रेक्षा-भेद के कुछ आधार अवश्य प्रस्तुत कर दिए थे। उदाहरण के लिए इवादि के प्रयोग करने पर वाच्या तथा प्रयोग न करने पर प्रतीयमाना तथा भावरूप एव अभावरूप सम्भावन की चर्चा उद्भट ने ही कर दी थी। किन्तु समग्र आधारों पर उत्प्रेक्षा का आतान-प्रतान तथा उसका वर्गीकरण रुय्यक की ही कृति है। उनके टीकाकार जयरथ ने संकेतित भेदो के उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ स्वय भी अनेक भेद बताए हैं। उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अलकार है, यही रुय्यक को भी मान्य है। अत. जिन भेदो का उत्प्रेक्ष्य सादृश्य से कोई सम्बन्ध है उन्हे ही भेद के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। अतः द्रव्यादि, भावादि तथा स्वरूप के आधार पर जो भेद किए जाते हैं उनमें सादृश्य या औपम्यमूलकता नही है तो उन्हे उत्प्रेक्षा का भेद नहीं मानना चाहिए।

जयरथ ने अतिशयोक्तिगर्भित उत्प्रेक्षा का जो विभाजन किया है वह भी उत्प्रेक्षा के अध्यवसायमूलक होने के नाते उचित है। यद्यपि उत्प्रेक्षा के

तत्र द्रव्योत्प्रेक्षायां हेतुफलोत्प्रेक्षापाते षोडशकहानिः अतः, स्थूलदृशा तावद-शीतिविधा वाच्या। प्रतीयमानायान्तु अनुपात्तनिमित्ताया अशेषं पातेऽष्ट-चत्वारिंशद्धानिः। उपात्तनिमित्तायां च स्वरूपोत्प्रेक्षापाते षोडशकहानिः अतो द्वात्रिंशद्भेदा प्रतीयमाना मन्तव्या। —संजी० ७३-७४।

1. देखिए—चित्रमी० पृ० ९५-९६।
2. सम्भावनानुमानेन सादृश्येनोभयेन वा ..। —हि० व० जी० पृ० ४२२।

अनेक भेदोपभेदो का सकेत प्राचीन आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) ने किया था किन्तु मम्मट तक हमें इनका वर्गीकरण निश्चित आधारों पर नही मिलता है। रुय्यक ने इसका कक्ष्याविभाग उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर किया है, साथ ही उन्होने अनेक सम्भव भेदोपभेदो के सम्बन्ध में अपनी अभिमति भी व्यक्त की है। इस भेदोपभेदव्यवस्था का परवर्ती आलंकारिकों में अनेक आचार्य जैसेकि जयरथ,[1] विद्याधर,विद्यानाथ,[2] विश्वनाथ,[3] अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ पर प्रभाव पडा पर साथ ही इन सभी भेदोपभेदो का कभी किसी अलकारग्रन्थ में प्रदर्शन सम्भव नही हो सकता, यह रुय्यक ने स्वयं स्वीकार किया है—

तदसावुत्प्रेक्षाया कक्ष्याविभाग प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये दुरवधारत्वादिह न प्रपञ्चितः। —अ० स० पृ० ८२।

---

१. जयरथ ने रुय्यक के भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है जो सम्भवतः रुय्यक की अलंकारानुसारिणी पर आधारित है।

२. विद्यानाथ ने वाच्या तथा प्रतीयमाना के १६-१६ भेद माने हैं। जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य चारों के भावाभावरूप से आठ और गुणनिमित्त तथा क्रियानिमित्त के आधार पर १६ भेद बनते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने १०४ भेदों की चर्चा भी की है। देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० २७८।

३. उत्प्रेक्षा के भेदोपभेद का आख्यान करने वाली साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद, की कारिकाएं निम्नलिखित हैं जिन पर सर्वस्व की भेदव्यवस्था का प्रभाव सुतरां स्पष्ट है—

वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता।
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥४१॥

तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥४२॥

द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति तत्र वाच्याभिदाः पुनः।
विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥४३॥

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः।
प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥४४॥

रुय्यक के बाद ही शोभाकर ने कुछ भेदों को गिनाकर 'सम्भविनोऽप्यन्यभेदा वैचित्र्यविशेषाभावान्नेह गणिताः' (अ० र० पृ० ४७) की परम्परा चला दी जिसका फल यह हुआ कि अप्पय्यदीक्षित ने उत्प्रेक्षा को केवल ६ भेदों तक सीमित कर दिया।[1]

अलंकारशास्त्रियो ने अपने विभिन्न सिद्धान्तो तथा मान्यताओ के आधार पर विभिन्न अलंकारो के उदाहरणों पर जितना सूक्ष्म तथा मार्मिक विवेचन किया है, किसी भी भाषा के साहित्य मे उतना विशद, सूक्ष्म तथा मार्मिक विवेचन नही मिलता। हम केवल यहाँ उत्प्रेक्षा के दो उदाहरणों पर विचार करेंगे। पहला काव्यादर्श का यह प्रसिद्ध श्लोक है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥—काव्यादर्श, २।२२६।

[अन्धेरा अगो को पोत-सा रहा है, आकाश काजल-सा बरसा रहा है। दुष्ट व्यक्ति की सेवा की भाँति आँख बेकार हो गई है]

रुय्यक के अनुसार श्लोक के पूर्वांश में क्रिया की उत्प्रेक्षा है पर द्वितीयार्ध में उपमा है, उत्प्रेक्षा नहीं। अनेक आलकारिको ने इसका प्रतिवाद करते हुए इस पूरे पद्य को उत्प्रेक्षा का ही उदाहरण माना है। उत्प्रेक्षा के उदाहरणभाग के सम्बन्ध में रुय्यक का मत मम्मट आदि आचार्यों से भिन्न है। रुय्यक के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है अन्धकार, 'लेपनक्रियाकर्तृत्व' धर्म है, अन्धकार का प्रसार आदि प्रतीयमान निमित्त है, इस प्रकार तम धर्मी में लेपनक्रियाकर्तृत्व धर्म की उत्प्रेक्षा है। यदि इस उदाहरण में तम के प्रसार (व्यापन) को विषय माना जाता है और लेपन की सम्भावना या उत्प्रेक्षा की जाती है, जैसाकि मम्मट ने किया है, तो उत्प्रेक्षा का निमित्त कोई दूसरा ही खोजना होगा। पुनश्च तम का प्रसार, जिसे मम्मट यहाँ विषय मानते हैं, शब्दतः उपात्त नहीं है और विषय का प्रतीयमान होना उत्प्रेक्षा में अभीष्ट नही है। विषय का उपादान सर्वथा आवश्यक है अतएव प्रकृत उदाहरण मे अन्धकार के प्रसार को विषय नही माना जा सकता है। अन्धकार का ही प्रसार लेपन की उत्प्रेक्षा का आधार है अतः उसका उपादान ही आवश्यक था। अतएव इस

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
अलंकारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत्॥४४॥

१. हि० कुवलयानन्द, पृ० ३४-३६।

उदाहरण में यही मानना उचित है कि अन्धकार धर्मी में 'लेपनक्रियाकर्तृत्व' धर्म की उत्प्रेक्षा है जिसका निमित्त अन्धकार का प्रसार है जो शब्दतः अभिहित न होने के कारण प्रतीयमान है।

दूसरा उदाहरण गुणोत्प्रेक्षा का है—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

—रघुवंश, १३।२३।

इस उदाहरण में रुय्यक के अनुसार मौन नूपुर में दुःख (गुण) की सम्भावना की गई है। इस उदाहरण में सम्भावना अभेद-संसर्ग के द्वारा है या अन्य किसी सम्बन्ध से, इसको लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों में उग्र मतभेद रहा है।[1] प्राचीन आचार्य सम्भावना (विषय में विषयी की उत्प्रेक्षा) केवल अभेद-संसर्ग द्वारा मानते है और नव्यो के अनुसार धर्म और धर्मी में समवाय सम्बन्ध होता है अत. धर्म की धर्मी में सम्भावना उचित नही है।

इस उदाहरण में मौन की हेतुता को लेकर नूपुर में विश्लेष-दुख की उत्प्रेक्षा की गई है। इस दुःख की उत्प्रेक्षा में नूपुर की निश्चलता के निमित्त से निःशब्दता का मौन में अध्यवसाय है।[2] अप्पय्यदीक्षित का भी यही मत है।[3] रुय्यक के अनुसार नूपुर के मौन होने का हेतु दु.ख है और उसकी उत्प्रेक्षा करने का निमित्त भी मौन होना है। जयरथ के शब्दो में नूपुर की निश्चलता आदि से तथा दु.ख से उत्पादित मौन में यहाँ अभेद-संसर्ग है।

अतश्च निश्चलत्वादिजनितस्य दुःखजनितस्य च मौनित्वस्याभेदेनाध्यवसायः।

—वि० पृ० ७९।

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि से विषयविभाग करते हुए '**अपर इव पाकशासनः**' उदाहरण का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार यदि यहाँ 'अपर' शब्द का प्रयोग न हो तो इसे उपमा का उदाहरण मानना होगा। अपर शब्द के प्रयोग से प्रकृत राजा में इन्द्र होने की प्रतीति होती है जिसे अध्यवसाय का अंश कहा जा सकता है। यह अध्यवसाय इव शब्द के प्रयोग से साध्य बन जाता है अतः इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा होगी। इव शब्द

---

१. देखिए—रसग० का उत्प्रेक्षा-प्रकरण।
२. वहीं, पृ० ३३८।
३. देखिए—चित्रमी० पृ० ९३।

अध्यवसाय को साध्य बनाता है अतः यदि उसका प्रयोग न होगा तो अध्यवसाय सिद्ध होकर अतिशयोक्ति की प्रतीति को जन्म देगा। और इसी उदाहरण में यदि अपर और इव दोनों शब्दों का प्रयोग न करें तो राजा का इन्द्र के साथ अभेदज्ञान होगा अतः रूपक अलंकार होगा। इस प्रकार अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप विभिन्न प्रतीति के उत्पादक होने से भिन्न भिन्न अलकार बन जाते हैं।

उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव

भामह तथा भट्टि ने उत्प्रेक्षावयव के नाम से, जिसमें श्लिष्टार्थ तथा रूपकार्थ उत्प्रेक्षा के साथ समिश्र रहते हैं, एक पृथक् अलकार माना है। इसका लक्षण है—

श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किंचिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥

—भामहालकार, ३।२७।

वामन ने भी इसका निरूपण किया है (काव्यालकारसूत्रवृत्ति, ४।३।३३) किन्तु उन्होंने इसे उपमा, रूपक की भाँति, संसृष्टि का ही भेद माना है। इस अलकार के भामहोक्त[1] अथवा वामनोक्त[2] उदाहरणों में सम्भावना या साध्य अध्यवसाय का ही स्वरूप है। अतः उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा में ही करना उचित है। भोज ने उत्प्रेक्षावयव के उत्प्रेक्षा में अन्तर्भाव का स्पष्ट निर्देश किया है।[3] भोज की इस मान्यता का उनसे परवर्ती आलकारिक रुय्यक आदि ने अनुसरण किया है।

---

१. तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगृहम्॥ —भामहालंकार, ३।४८।

२. अंगुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

—का० अ० सू० वृ० ४।३।३३।

३. भोज के अनुसार, प्राचीन आलंकारिकों को अभिमत उत्प्रेक्षावयव, उत्प्रेक्षोपमा तथा 'मत' अलंकार उत्प्रेक्षा के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं—

उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता।
मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपतः॥

—सरस्वती० ४। ५१।

तथा देखिए इस श्लोक पर जगद्धर की टीका पृ० ४६८-४७०।

उपमामूलक अलंकार : अतिशयोक्ति

भामह के समय से इसे स्वतन्त्र अलकार माना गया है।[1] उन्होने तो इसका स्तवन किया ही था, दण्डी भी इसे दूसरे अलकारो का एकमात्र आश्रय मानते है—

> अलंकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम् ।
> वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ —२।२२० ।

उद्भट तक अतिशयोक्ति की परिभाषा इसके यौगिक अर्थ तक सीमित रही। उद्भट ने इसके चार भेदो का सर्वप्रथम निरूपण किया है।[2] वामन और रुद्रट इनके सम्बन्ध मे मौन हैं। कुन्तक ने भी अतिशयोक्ति अलकार का निरूपण किया है। उन्होंने इसके पाँच उदाहरण दिए हैं पर इनमें से केवल तीन पद्य पढ़ने मे आए हैं, अतः निश्चितरूप से यह नही कहा जा सकता है कि कुन्तक को उद्भट-सम्मत अतिशयोक्ति के भेद अभीष्ट हैं या नही। उन्होने स्वय भेदो के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सकेत नहीं किया है। मम्मट ने अतिशयोक्ति की स्वतत्र परिभाषा न देकर केवल भेदो का उपसख्यान किया है। मम्मट तक सभी आलकारिकों के अतिशयोक्ति-लक्षणो में उसे लोकातिक्रान्तगोचर, लोक-सीमातिवर्तिनी (भामहादि) या अतिलोक (रुद्रट) उक्ति बताया गया है। इन सभी आचार्यों ने अतिशय (कुन्तक, रुद्रट) या उपर्युक्त शब्दो के आधार पर अतिशयोक्ति की परिभाषा की है। इन आधारो पर अतिशयोक्ति का अलकार-

---

१ भामह के अनुसार निमित्तपूर्वक लोकातिक्रान्त वचन अतिशयोक्ति है जो गुणातिशय के योग से होती है।

> निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
> मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥ —२।८१ ।
> इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
> सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम् ॥ —२।८४ ।

उद्भट ने भामह के अतिशयोक्ति-लक्षण (२।८१) को यथावत् स्वीकार कर लिया है।

२, का० अ० सं० २।२४-२५ ।

रूप में लक्षण करना सदोष है। अतिशय या लोकातिक्रान्तगोचरता एक व्यापक काव्यतत्त्व है, उसका समावेश तो अनेक अलकारों में पाया जाता है, वह सभी के नही तो अनेक अलकारो के मूल में है। अत. औपम्य आदि की भाँति केवल अतिशय का होना अतिशयोक्ति-अलकार का विशेष लक्षण नही माना जा सकता। इसी दृष्टि से पूवाचार्यों की परिभाषाएँ सदोष हैं। रुय्यक की परिभाषा वैज्ञानिक है। उन्होंने अध्यवसाय के आधार पर इसका लक्षण किया है। साध्य अध्यवसाय यदि उत्प्रेक्षा है तो सिद्ध अध्यवसाय अतिशयोक्ति। अध्यवसान में अध्यवसाय-रूप क्रिया (स्वरूप), विषय तथा विषयी तीन होते हैं। अध्यवसान उस क्रिया को कहते है, जिसमें विषयी द्वारा विषय का अन्त-निगरण होता है। अध्यवसान में विषय की निगीर्यमाणता या निगरण रहने के नाते, उसकी प्रधानता का तो प्रश्न ही नही उठता। प्रधानता या तो क्रिया (अध्यवसाय के स्वरूप) की हो सकती है या विषय की। प्रथम स्थिति मे उत्प्रेक्षा तथा द्वितीय में अतिशयोक्ति होती है। उत्प्रेक्षा मे यदि अध्यवसाय प्रधान रहता है तो अतिशयोक्ति में अध्यवसित (विषयी) की प्रधानता रहती है। इसी विवेचन[1] के आधार पर रुय्यक की अतिशयोक्ति-परिभाषा है—

अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः । —अ० स० पृ० ८३।

सर्वस्व की इसी परिभाषा को शब्दश साहित्यदर्पण तथा भावतः एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण, रसगगाधर आदि में अपनाया गया है। जगन्नाथ ने अतिशय को अध्यवसाय का समानार्थक मानकर (विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः—रसग० पृ० ३०७), यौगिकार्थ पर आधारित पूर्वाचार्यों के लक्षण तथा अध्यवसाय के आधार पर लक्षित रुय्यक आदि की अतिशयोक्ति-परिभाषाओ में समन्वय कर दिया है। रुय्यक ने उक्ति को लोकातिक्रान्तगोचर बताकर तथा अतिशय को इस अलकार का फल तथा निमित्त मानकर अध्यवसाय को अतिशय का समानार्थक मानना उचित न समझा। वस्तुत. अतिशय को काव्यपरम्परा के आधार पर व्यापक काव्यतत्त्व ही मानना चाहिए, अध्यवसाय

---

१. अध्यवसाने त्रयं सम्भवति—स्वरूपं, विषयो विषयी च। विषयस्य हि विषयिणाऽन्तर्निगीर्णत्वे अध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम्। तत्र साध्यत्वे स्वरूपोत्थानम् सिद्धत्वे त्वध्यवसितप्राधान्यम्। विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव सम्भवति। अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः।

—अ० स० पृ० ८३।

का समानार्थक नही। इस दृष्टि से जगन्नाथ की समन्वयवाली परिभाषा भी सदोष है।

ध्वन्यालोककार ने सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति-गर्भ माना है। उनका कहना है कि महाकवियों द्वारा अतिशयोक्ति का प्रयोग अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का पोषण करता है। अतिशय का योग यदि विषय के औचित्य को दृष्टि में रखकर किया जाता है तो वह काव्य मे उत्कर्ष का आधान करता है। भामह की 'सैषा सर्वैव' उक्ति का उद्धरण देते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जहाँ किसी अलकार मे अतिशय का योग हो जाता है तो कविप्रतिभा का सस्पर्श पाकर काव्य का सौन्दर्य अतिशयित हो जाता है। इसके अभाव में अलकार अलकारमात्र बन कर ही रह जाता है। उनके अनुसार सभी अलकारों के स्वरूप मे समाविष्ट हो सकने के कारण अतिशयोक्ति को अभेदोपचार से सर्वालकाररूप कहा जा सकता है।

प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ? भामहेनाप्यतिशयलक्षणे यदुक्तं—'सैषा सर्वैव '। तत्रातिशयोक्तिर्यमलकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगः, अन्यस्यालंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

—ध्वन्या० (चौखम्बा), पृ० ४६५-६८।

आनन्द की ही भाँति कतिपय आचार्य सभी अलकारो को अतिशयोक्ति का ही भेद मानने की भूल करते आये हैं। उन्होंने भामह की 'कोऽलंकारोऽनया विना' पंक्ति का अर्थ यही समझा कि अतिशयोक्तिरूप अलंकार—एक विशेष अलंकार ही—सब अलकारो के मूल मे है। अतिशयोक्ति का प्रयोग दो रूपो में किया जा सकता है, एक तो लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति तथा दूसरे एक अलकार-विशेष के रूप में। जहाँतक प्रथम का सम्बन्ध है उसे सभी अलकारों के मूल मे मानना उचित है। कोई भी आलंकारिक यह नही कहता कि 'गौरिव गवयः' या 'गौर्वाहीकः' या 'गौरयम्' जैसी उक्तियो को, जिनमें कविप्रतिभाकृत विच्छित्ति नही है, अलकार मान लिया जाए। पर इसी आधार पर सभी अलकारों को यदि अतिशयोक्ति का भेद मानने को कोई कहे तो विशेषोक्ति तथा उल्लेख का सामान्य तत्त्व प्राय. सभी अलंकारो में रहने के नाते इन अलकारों को भी मूल अलंकार क्यो न माना जाए, यह प्रश्न सहज ही उठता है।

अतः स्पष्ट है कि अपने प्रथम अर्थ में, जिसके अनुसार अतिशयोक्ति एक सामान्य काव्यतत्त्व है, शेष अलंकारो को उसका भेद नहीं माना जा सकता । अतिशयोक्ति का दूसरा प्रयोग एक विशेष अलकार के रूप में होता है, जिसका लक्षण है—सिद्ध अध्यवसाय या अध्यवसित (विषयी) की प्रधानता । यह लक्षण अतिशयोक्ति के अभी बताए जाने वाले पाँच भेदों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता अत. सभी अलकारो को अध्यवसायमूलक नही मान सकते और न अतिशयोक्ति के पाँच भेदो से अधिक भेद ही सम्भव है ।

भेद

अतिशयोक्ति अलकार के भेदो का विवेचन सर्वप्रथम उद्भट ने इस प्रकार किया है—

> भेदेनान्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते ।
> तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिधीः ॥
> कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् ।
> आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥
>
> —का० अ० स० २।२४-२५ ।

राजानक तिलक की विवृति (पृ० २८) तथा प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति के आधार पर इन भेदो का तालिकारूप यह होगा—

अतिशयोक्ति

भेदे अभेदः	अभेदे भेदः	बहिरसतः सभावनायां निबन्ध.	कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्यय.

उद्भट के प्रथम दो भेदों को रुय्यक और उनके अनुयायी आचार्य विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने उसी रूप में स्वीकार कर लिया । इन भेदो के ये नाम रखने का श्रेय तिलक को प्राप्त है (देखिए—विवृति, पृ० २८) । मम्मट ने उन्ही को क्रमश. 'उपमानेन उपमेयस्य निगरणम्' तथा 'प्रस्तुतस्य अन्यत्वम्' कहा है । अप्पय्यदीक्षित इन्हे रूपकातिशयोक्ति तथा भेदकातिशयोक्ति कहते हैं । रुय्यक ने 'अन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते' के आधार पर 'सम्बन्धेऽसबन्धः' इस एक और भेद की उद्भावना की है जिसे अप्पय्यदीक्षित सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं । उद्भट का तीसरा भेद रुय्यक आदि का

'असम्बन्धे सम्बन्धः' वाला चतुर्थ भेद है जिसे अप्पय्यदीक्षित असम्बन्धातिशयोक्ति न कहकर सम्बन्धातिशयोक्ति ही कहते हैं। उद्भट के चतुर्थ भेद को रुय्यक कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वस कहते हैं। कारण के बाद कार्य का होना स्वाभाविक क्रम है—यदि कार्य पहले और कारण बाद में हो तो पूर्वापरक्रम नष्ट हो जाता है, साथ ही कार्य और कारण का एक काल में होना भी (सहभाव) पूर्वापरभाव का विध्वस ही है।[1] अत रुय्यक के अनुसार अन्तिम को दो भेदो में बाटा जा सकता है। जयरथ ने इस अन्तिम भेद को पाँच उपभेदो में बाँटा है।[2] रुय्यक के कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वस को उन्होने पहिले तो दो रूपो में विभाजित किया है (क) कार्यकारणविध्वस तथा (ख) पौर्वापर्य-विध्वंस। प्रथम को उन्होने दो तथा दूसरे को तीन उपभेदों मे इस प्रकार बाटा है—

- कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वस
  - कार्यकारणविध्वस
    - प्रसिद्ध कारण को कार्य कहना (१)
    - प्रसिद्ध कार्य को कारण कहना (२)
  - पौर्वापर्यविध्वस
    - कार्य को कारण से पहले बताना (३)
    - प्रसिद्ध कार्यों में क्रमविपर्यय (४)
    - उनका सहभाव (५)

इन भेदो पर विचार करने से प्रतीत होगा कि भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा ही अतिशयोक्ति का मौलिक तथा प्रमुख भेद है। अतिशयोक्ति का लक्षण है सिद्ध अध्यवसाय या विषयनिगरण तथा विषयी की प्रधानता। मुख को

---

१. कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः पौर्वापर्यविपर्ययाद् तुल्यकालत्वाद् वा।
—अ० स० पृ० ८७।

२. अत्र च कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस इत्यनेन प्रसिद्धयोः कार्यकारणयोर्विध्वंसो विपर्ययस्तथा पौर्वापर्यस्यादिपश्चात्कालभावित्वेन प्रसिद्धस्य क्रमस्य विध्वंसे व्यत्ययः सहभावो वेत्यपि भेदत्रयं तन्त्रेणोक्तम्। एवं च कार्यकारणविध्वंसस्यापि पंच प्रकाराः। —वि० पृ० ८७।

केवल 'चन्द्रोऽयम्' कहना ही अध्यवसाय है। रूपक के मूल मे यदि गौणी सारोपा लक्षणा रहती है तो अतिशयोक्ति मे गौणी साध्यवसाना। किसी सुन्दरी को 'सौन्दर्यमिदम्' कहना अतिशयोक्ति है। उसके मूल मे शुद्धा साध्यवसाना है। शुद्धा तथा गौणी साध्यवसाना पर आधृत समस्त प्रयोग अतिशयोक्ति नहीं बन सकते इसलिए रुय्यक ने अतिशयोक्ति के भेदों मे वास्तव सौन्दर्य का कविसमर्पित सौन्दर्य के साथ सम्बन्ध माना है। जब कोई मुख को कमल कहता है तो वह इन दोनो धर्मियों को एक नही बताना चाहता, वह तो मुख (धर्मी) तथा कमलगत सौन्दर्य (धर्म) मे अभेद-सम्बन्ध बताना चाहता है। पर क्या इससे यह मानना चाहिए कि अतिशयोक्ति के दो धर्मियों में अभेदाध्यवसाय नही होता ? हाँ, रुय्यक का यही मत है —

एषु पंचसु भेदेषु भेदे अभेदादिवचनं लोकातिक्रान्तगोचरम्। अत्र चातिशयाख्यं यत्फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राभेदाध्यवसायः। तथा हि कमलमनम्भसि इत्यादौ वदनादीनां कमलाद्यै भेदेऽपि वास्तवं सौदर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितम् भेदे अभेदवचनस्य निमित्तं। तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम्। ननु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः, अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वव्याप्तेः। —अ० स० पृ० ८५।

अतिशयोक्ति का लक्षण सिद्ध अध्यवसाय की प्रधानता है। यह अध्यवसाय धर्म तथा धर्म, धर्म-धर्मी और धर्मी-धर्मी, इन तीनो ही रूपो मे हो सकता है अत. रुय्यक का यह कथन कि अतिशयोक्ति में केवल धर्मी का धर्म के साथ अभेदाध्यवसाय होता है, समीचीन नही है।[1]

अतिशयोक्ति का दूसरा भेद है अभेद होने पर भी भेद का वर्णन —'अभेदे भेदः'। हर सुन्दरी का सौन्दर्य एक है। हर कामिनी विधाता की कृति है पर किसी सुन्दरी के लिए यह कहना कि यह तो नवीन ही सौन्दर्य है (अन्यत् सौन्दर्यम्) या यह कहना कि भला वह विधाता इसे कैसे बना सकता है, अभेद में भेद का वर्णन है। इस भेद को दण्डी की अद्‌भुतोपमा में तथा रुद्रट की उत्पाद्योपमा मे पाया जा सकता है। दीक्षित (कुवलया०) इसे भेदकातिशयोक्ति कहते हैं। वामन ने इसी भेद को लक्ष्य में रखकर इसका लक्षण निम्नलिखित किया है—

सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः।

---

१. देखिए—वि० पृ० ८८-८९।

सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध का वर्णन 'सम्बन्धेऽसम्बन्धः' या सम्बन्ध न रहने पर सम्बन्ध का वर्णन, 'असम्बन्धे सम्बन्धः' इन भेदों में पूर्वोक्त दो भेदों की छाया है। इनका अन्तर केवल सभावना के निबन्धन में है। प्रथम दो भेदों में सम्भावना द्वारा अभेद या भेद का वर्णन नही रहता। मुख को कमल कह दिया जाता है। मुख को कमल तभी कहा जा सकता है जब कि कमल रात दिन खिला रहे, इस सम्भावना का उपयोग नही होता। यही उनके अवान्तर-भेद होने का हेतु है। मम्मट ने इसीलिए 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' के रूप में इनकी व्याख्या की है।

कार्यकारण के पूर्वापरभाव का विपर्यय अतिशयोक्ति का भेद माना जाए या नही, यह विवाद का विषय है। प्रत्येक पदार्थ का सम्बन्ध काल तथा देश से होता है। कार्यकारणभाव भी उनमें से एक है। रुय्यक का कार्यकारण-पौर्वापर्यविध्वस, काल पर आधारित भेद है। इसी प्रकार कार्य और कारण की देशगत भिन्नता के आधार पर एक और नवीन भेद भी क्यों न माना जाए? यदि देशगत भिन्नता अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आ जाती है तो उसका असगति से अन्तर क्या है? कार्यकारण के कालिक विपर्यय का वर्णन विरोध-तत्त्व को गर्भित किए है या अध्यवसाय को? इन समस्याओ का उचित उत्तर न पाने वाले आचार्य (शोभाकर आदि) इस अन्तिम भेद को अनायत्या चतुर्थ भेद 'असम्बन्धे सम्बन्धः' मे अन्तर्भूत करते है। रुय्यक ने कार्य-कारण की देश-गत भिन्नता को अतिशयोक्ति का प्रभेद न मानकर उसे एक स्वतन्त्र अलकार (असगति) माना है—

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे त्वसंगतिः। —अ० स० पृ० १६३।

देशतत्त्व पर आधारित कार्यकरण के विपर्यय को स्वतन्त्र अलकार मान-कर भी रुय्यक ने कालतत्त्व पर आघृत भेद को अतिशयोक्ति का ही अंग माना है। दो समान तत्त्वो का आधार लेकर एक को तो स्वतन्त्र अलकार मानना और दूसरे को एक भिन्न अलकार-प्रभेद मानना आपाततः असगत मालूम पड़ता है। विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से देशकाल भिन्न भी नही हैं। पर रुय्यक ने यह व्यवस्था प्रयोजन तथा लौकिक प्रतीति की भिन्नता को लेकर की है। अतिशयोक्ति-प्रभेद का प्रयोजन सदा अतिशय रहेगा पर असगति का प्रयोजन विरोध की प्रतीति कराना है। प्रथम मे अतिशय की प्रतीति अध्यवसाय द्वारा की जाती है पर दूसरे में अध्यवसाय नही होता। उसमें विरोध का तत्त्व रहता है, जिसे आलकारिक विरोधाभास कहेगे। जहाँ कही विरोधाभास होगा वहाँ

प्रतीति में निश्चय नहीं हो सकता। विरोध या उसके आभास मे प्रतीति के पग लड़खड़ा जाते हैं, वह स्खलद्गति बन जाती है। वह अनुपपन्न भले ही न हो किन्तु अनुपपद्यमान तो अवश्य हो जाती है। आकाश में आँख के दोष से दो चन्द्र देखने वाले व्यक्ति को ज्ञान रहता है कि चन्द्र एक ही होता है, दो नही, पर उसकी तात्कालिक अनुभूति उसे बरबस दो चन्द्र मानने को बाध्य करती है। उसका निश्चय-ज्ञान (चन्द्र एक ही है) स्थिर नही रह पाता। वह उपपन्न होने पर भी अनुपपन्न सा लगने लगता है। इस प्रकार विरोधाभास की प्रतीति में (जो असंगति अलकार में पाई जाती है) स्खलद्गतित्व तथा अनुपपद्यमानता का तत्त्व रहता है। अध्यवसायप्रतीति सदा निश्चयात्मिका होती है। विषय के निगरण द्वारा विषयी की प्रधानता का इसमे वर्णन होता है। इन दो भिन्न प्रतीतियो पर आधृत असगति और अतिशयोक्ति-भेद को भिन्न मानना आवश्यक है। एक प्रश्न और है। क्यो न इस अन्तिम भेद को 'असम्बन्धे सम्बन्धः' में अन्तर्भूत कर लिया जाए। जहाँ सम्बन्ध नही हो सकता है वहाँ भी सम्बन्ध की कल्पना इस भेद का स्वरूप है। 'भेदे अभेदः' में मुख और कमल भिन्न हैं। उनमें वस्तुदृशा कोई सम्बन्ध नही पर सम्बन्ध की कल्पना की गई है। 'अभेदे भेदः' मे श्यामा का यद्यपि किसी नवीन वेधा से सृजनसम्बन्ध नही किन्तु उसमें नवीन सौन्दर्य का वर्णन कर उसे सामान्य प्रजापति से भिन्न किसी दूसरे स्रष्टा की कृति होने का सम्बन्ध सूचित है। 'सम्बन्धे असम्बन्धः' इस तीसरे भेद में भी मनोहर सौन्दर्य का प्रजापति चन्द्र, मदन या वसन्त को बताकर—जिनका सृजन से कोई सम्बन्ध नही, सौन्दर्य की मनोहरता को बताने के लिए उनका सृजनकार्य से भी सम्बन्ध कर दिया गया है।[1] इसी प्रकार कार्यकारण के पौर्वापर्यविध्वंस में कारण से पूर्व या इसके साथ कार्य का सम्बन्ध बताकर 'असम्बन्धे सम्बन्धः' का ही निबन्धन होता है। इस प्रकार अच्छा हो यदि केवल एक इसी भेद को माना जाए और शेष सभी को छोड दिया जाए। अथवा किसी कारण से इन्हे चार पृथक् भेद माना जाता है तो अन्तिम को भी पाँचवां भेद मानना न्यायप्राप्त है। जहाँ तक कार्यकारण की देशगत भिन्नता को लेकर अतिशयोक्ति का एक और भेद मानने का प्रश्न है, इसके उत्तर में

१. अतिशयोक्ति के इन सभी उदाहरणों के लिए देखिए—

—अ० स० पृ० ८४-८८।

बताया जा चुका है कि प्रतीतिभेद के कारण हम उसे एक भिन्न अलंकार मानने को बाध्य हैं । पूर्वाचार्यों मे दण्डी ने कार्यकारण के पूर्वापरभाव के व्यतिक्रम को अतिशयोक्ति न मानकर पूर्वालकार के रूप में एक भिन्न अलंकार माना था । रुय्यक के बाद से (शोभाकर जैसे आलकारिक को छोडकर, सभी ने इस प्रभेद को माना है, भले ही दूसरे नाम से, जैसेकि अप्पय्यदीक्षित इसे अत्यन्तातिशयोक्ति कहते है ।

उपमामूलक अलंकार : तुल्ययोगिता-दीपक

भामह के अनुसार न्यून अर्थात् उपमेय की विशिष्ट किंवा उपमान के साथ गुणसाम्य की विवक्षा से तुल्ययोगिता होती है जिसमें कार्य तथा क्रिया का समान योग रहता है।[1] दण्डी के अनुसार भी तुल्ययोगिता का यही स्वरूप है। उनके अनुसार उत्कृष्ट[2] गुणो के साथ यह समीकरण स्तुति या निन्दा के लिए प्रयुक्त होता है। इसप्रकार भामह-दण्डी द्वारा निरूपित तुल्ययोगिता अपने अर्वाचीन स्वरूप से भिन्न है। वस्तुत इनकी तुल्ययोगिता दीपक अलंकार से भिन्न नही है। उद्भट ने ही इस अलंकार का वह अर्वाचीन स्वरूप निर्धारित किया था जो परवर्ती प्राय· सभी आचार्यो को स्वीकार हुआ। उद्भट के अनुसार उपमान और उपमेय की उक्ति से शून्य अप्रस्तुतो अथवा प्रस्तुतो का साम्याभिधायि वचन तुल्ययोगिता है।[3]

उद्भट के इस लक्षण का स्पष्ट प्रभाव रुय्यक के निम्नलिखित लक्षण पर है—

औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता। अ० स० पृ० ८६।

इनमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में बहुवचन का प्रयोग अवश्य है पर दो प्रस्तुत तथा दो अप्रस्तुतों में भी तुल्ययोगिता हो सकती है। उद्भट के लक्षण से रुय्यक के लक्षण में तीन विशेष तत्त्व हैं। एक तो औपम्य का गम्य होना (जब कि उद्भट ने तुल्ययोगिता में साम्य का अभिधान माना था), दूसरा उसका पदार्थगत होना, तथा तीसरा समान धर्म—गुण अथवा क्रिया—से अभिसम्बन्ध। मम्मट के लक्षण में 'सकृद्धर्मः' से यही तीसरा तत्त्व अभिप्रेत है किन्तु उन्होने

---

१. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता॥ —भामहालंकार, ३।२७।

२. विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥ —काव्यादर्श, २।३३।

३. उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता॥—का० अ० सं० ५।११।

प्रथम तथा द्वितीय तत्त्व के सम्बन्ध में कारिका या वृत्ति में पृथक् से संकेत नहीं दिया है। उद्भट के बाद वामन ने भामह का तथा भोज ने दण्डी का अंशतः अनुसरण किया था। कुन्तक तो उपमेयोपमा की भाँति तुल्ययोगिता को भी उपमा की अस्फुटता ही समझते हैं। शेष परवर्ती आलकारिको ने रुय्यक का ही प्रायेण अनुसरण किया है। जयरथ[1] तथा पण्डितराज जगन्नाथ[2] ने तुल्ययोगिता और दीपक को पृथक् अलकार मानना उचित नही समझा है। रुद्रट का भी कदाचित् यही मत था अत. उन्होने तुल्ययोगिता का विवेचन ही नही किया है।

प्रकृत का गुण अथवा क्रिया और इसी प्रकार अप्रकृत का गुण अथवा क्रिया से समान सम्बन्ध के आधार पर रुय्यक ने तुल्ययोगिता के चार भेद प्रस्तुत किए हैं। इनमें दो भेदो के उदाहरण उन्होने उद्भट से ही लिए हैं, दोनों ही उदाहरण क्रमशः प्रस्तुतों तथा अप्रस्तुतों के गुण से समान सम्बन्ध के है। प्रस्तुतों का समानगुण से सम्बन्ध का उदाहरण है—

योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ् मृगाजिनम्।
उचितानि तवाङ्गेषु यद्यमूनि तदुच्यताम्॥

—का० अ० सं० ५।१३ तथा अ० स० पृ० ९०।

[योगपट्ट, जटाजाल, पेड़ो की छाल, कृष्ण मृगचर्म यदि तुम्हारे शरीर में उचित हो तो बताओ]

इस उदाहरण में योगपट्ट, जटाजाल आदि प्रस्तुतो का औचित्य (या राजानक तिलक के शब्दो में शरीर-स्पर्श का अनौचित्य—शरीरस्पर्शनौचित्यम्) एक साधारण धर्म है जिससे सभी सम्बद्ध है।

अप्रस्तुतो के कठोरतारूप समान धर्म से सम्बन्ध का उदाहरण है—

त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता॥

—का० अ० स० ५।१२ तथा अ० स० पृ० ९०।

---

१. न चैतावताऽनयोः पृथग्लक्षणं युक्तम्। औपम्यगर्भत्वाख्यस्य सामान्यस्य द्वयोरप्यनुगमात्। एवं च समुच्चितोपमादेरपि पृथग्लक्षणं स्यात्।

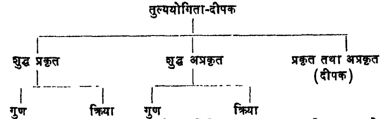
—वि० पृ० ९१।

२. तुल्ययोगिता दीपकं न पृथग्भावमर्हति। धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्।

—रसगं० पृ० ३२६-२७।

जयरथ के अनुसार इन दोनो ही उदाहरणों में (जो उद्भट से लिए गए हैं) औपम्य का अभाव है जबकि ग्रन्थकार औपम्य की गम्य सत्ता में ही इस अलकार को मानता है। जयरथ का यह कथन दूसरे उदाहरण के सम्बन्ध में ठीक नहीं हैं क्योंकि उसमे अगों का मालती आदि के साथ औपम्य प्रतीत हो जाता है।

परवर्ती नरसिंह कवि ने कदाचित् रुय्यक से ही प्रेरणा लेकर द्रव्यतद्भाव, गुणतद्भाव तथा क्रिया-तद्भाव के प्रकृत तथा अप्रकृत में स्थिति के आधार पर बारह भेद बना दिए। अप्पय्यदीक्षित ने शत्रु-मित्र के साथ समान व्यवहार (हिताहिते वृत्तितौल्यम्) तथा गुणोत्कृष्ट के साथ समीकरण (गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचः) के आधार पर दो नए भेद बढाए हैं। इनमे से प्रथम भेद (जिसका आधार सरस्वतीकण्ठाभरण था) तुल्ययोगिता के स्वरूप में अन्तर्निहित है और दूसरा भेद (जिसे उन्होने दण्डी से लिया है) वस्तुतः दीपक में ही अन्तर्हित होगा। पण्डितराज जगन्नाथ जैसे जो आचार्य दीपक और तुल्ययोगिता को भिन्न अलकार नही मानते हैं वे तुल्ययोगिता के तीन आधारभूत भेद मान लेगे; उनके अनुसार तुल्ययोगिता-दीपक की भेदतालिका निम्नांकित बनेगी—



इन भेदो के अतिरिक्त बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव के भेद से भी दीपक तथा तुल्ययोगिता के भेद जयरथ को स्वीकार हैं।[1] दण्डी[2], भोज[3] तथा दीक्षित[4] ने आवृत्ति-दीपक नाम से दीपक का एक और भेद माना है जिसके शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति और उभयावृत्ति के रूप में तीन भेद भी दीक्षित ने किए हैं।

---

१. वि० पृ० ४१, ४३-४।
२. काव्यादर्श, २।१६।
३. सरस्वती० ४।७८।
४. हि० कुवलयानन्द, पृ० ४३।

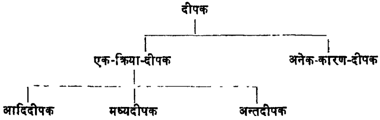
तुल्ययोगिता तथा दीपक

जैसा कि प्रारम्भ में बताया गया था अनेक आचार्य, जिसमें जयरथ तथा जगन्नाथ प्रमुख है, दीपक को पृथक् अलकार नही मानते है । वस्तुतः इन दोनों मे से किसी एक को ही अलकार मानना उचित है क्योकि समान धर्म से सम्बन्ध, दोनो में ही एक तत्त्व है । दोनो ही अलकारो से एक ही प्रकार की अनुभूति होती है; जो कुछ थोडा भेद है उसे हम एक ही अलकार के उपभेद के रूप में भी मान सकते है । यदि हम तुल्ययोगिता के किसी भी उदाहरण पर विचार करे तो प्रतीत होगा जहाँ कही शुद्ध अप्रकृत का वर्णन है वहाँ प्रकृत भी भासित हो जाता है । 'त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः' के उदाहरण मे मालती चन्द्रकला आदि अप्रस्तुतों का वर्णन है पर साथ ही इनकी कठोरता से प्रस्तुत अङ्गो की सुकुमारता भी भासित हो जाती है अर्थात् प्रस्तुत का अप्रस्तुतो के धर्म से समान सम्बन्ध अवश्य नही हो पाता है पर विरोध-सम्बन्ध हो जाता है । मालती की कठोरता अङ्गो की मृदुता को प्रतीति मे स्थिर कर देती है । अतएव हम कह सकते हैं कि तुल्ययोगिता मे प्रस्तुत या अप्रस्तुत प्रतीत हो जाता है और उसका अप्रस्तुत या प्रस्तुत के धर्म के साथ वैधर्म्य भी प्रतिभासित हो जाता है । इस प्रकार एक ही धर्म से यदि वर्णित प्रस्तुत का सम्बन्ध है तो उसी से अवर्णित पर प्रतीत अप्रस्तुत का विरोध से सम्बन्ध हो जाता है । अत· तुल्ययोगिता और दीपक का यह अन्तर कि एक में शुद्ध प्रकृत या शुद्ध अप्रकृत होते हैं पर दूसरे मे दोनों एक साथ होते हैं, बहुत बडा नही है । अनेक स्थानों पर तो यह निश्चित करना ही कठिन होगा कि कौन प्रकृत है और कौन अप्रकृत । उदाहरण के लिए रुय्यक ने अप्रतुतों का क्रियारूप धर्म से सम्बन्ध का जो उदाहरण (पृ० ६०) प्रस्तुत किया है उसमें तन्वी तथा असिलता द्वारा यश पोंछने का वर्णन है । इसमे तन्वी नायिका तथा असिलता दोनों ही प्राकरणिक लगते हैं । पुनश्च औपम्यगर्भता तुल्ययोगिता तथा दीपक दोनो ही में होती है अतः इन्हें भिन्न मानना उचित नही है । रुय्यक के अनुसार तुल्ययोगिता में उपमानोपमेयभाव प्रतीयमान और वैवक्षिक होता है क्योकि उसमें या तो केवल प्रकृत होते हैं या केवल अप्रकृत किन्तु दीपक में यह उपमानोपमेयभाव वास्तविक होता है । पर जैसा कि अभी हमने कहा है वस्तुतः तुल्ययोगिता में भी एक वर्णन से दूसरे का प्रतिभास हो जाता है, साथ ही जब दोनों ही स्थानों पर इवादि का प्रयोग नहीं होता है तथापि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति होती है तो क्यों न इस आधार पर हम इन अलंकारों को एक ही अलंकार का भेद

मान लें। वैवक्षिक और वास्तव औपम्य का भेद दीपक तथा तुल्ययोगिता को एक ही अलंकार के उपभेद बनाकर भी स्थिर रखा जा सकता है।

दीपक-भेद

दीपकालंकार के चार भेदो के उदाहरण रुय्यक ने दिए हैं। धर्म के आदि, मध्य या अन्त में रहने से दीपक के आदि-दीपक, मध्यदीपक तथा अन्त-दीपक भेद होते है। इनमें क्रिया एक ही होती है जिसका एकाधिक कारक से सम्बन्ध होता है। अत इन तीन भेदो को एक क्रिया वाले दीपक के भेद कहा जा सकता है। चौथा भेद वह है जिसमे कारक एक हो और क्रियाए अनेक हो। इन भेदो की तालिका यह होगी —



(धर्म की वाक्य के आदि मध्य या अन्त में स्थिति के अनुसार)

एक क्रियावाले (मध्य-) दीपक का उदाहरण है—

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥

—अ० स० पृ० ९२।

[पत्ते के रंग-जैसी ताम्र सूर्य की प्रभा और वसिष्ठ ऋषि की गौ नन्दिनी दिशाओं को अपने संचरण से पवित्र कर दिवस के अवसान में घर की ओर चल पड़े।]

इस उदाहरण में एक ही क्रिया 'चल पड़े'—प्रचक्रमे—से सूर्यप्रभा तथा नन्दिनी सम्बद्ध हैं। यह क्रिया दीपक की भाँति, दोनो का दीपन या प्रकाशन करती है। रुय्यक के अनुसार यह उदाहरण दीपक का है क्योकि इसमे धेनु प्रकृत है और सूर्य की प्रभा अप्रकृत। पर यदि हम कवि की विवक्षा पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि गोधूलि और गौ दोनों ही प्रकृत हैं, दोनों का ही वर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः दीपक के इस उदाहरण को तुल्ययोगिता का माना जा

सकता है । और जैसाकि हम अभी तुल्ययोगिता के उदाहरण में बता चुके हैं उसमें प्रकृत का प्रतिभास भी होता है और एक ही धर्म से वैधर्म्यमूलक सम्बन्ध भी है। जिस प्रकार एक क्रिया के साथ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के आधार पर एक-क्रिय-दीपक होता है उसी प्रकार एक गुण से सम्बन्ध होने पर एक-गुण-दीपक भी सभव है। उदाहरण के लिए निम्नाङ्कृत श्लोक लीजिए—

> फलत्रासहस्रभृद्भो दिवि नेत्रसहस्रभृत् ।
> अद्वितीयः पृथिव्यां च भवान्नामसहस्रभृत् ॥ —वि० पृ० ६२ ।

यहाँ अद्वितीयत्व गुण एक है जिससे प्रस्तुत आप और अप्रस्तुत शेष तथा इन्द्र सम्बद्ध है।

एक-कारक दीपक का उदाहरण है—

> साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं धर्तुं विहायसा गन्तुम् ।
> न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम् ॥—वही, पृ० ६३ ।

[साधुओं का उपकार करने, लक्ष्मी को अपनी बनाने, आकाश में उडने और महात्माओं का चरित सुनने को किसका मन उत्कण्ठित नही होता है।]

जिस प्रकार 'संचारपूतानि' आदि उदाहरण मे कविविवक्षा की दृष्टि से धेनु और सन्ध्या दोनो के प्रकृत होने से तुल्ययोगिता है उसी प्रकार इस द्वितीय उदाहरण (साधूनामुपकर्तुं ··) में वस्तुतः साधुओं का उपकार करना आदि प्रस्तुत है, जो सामान्य है। इन सभी का एक कारक मन ('कस्य मनः') से अभिसम्बन्ध है इस प्रकार इस उदाहरण को भी, रुय्यक के अनुसार, कारक-दीपक का न मानकर कारक-तुल्ययोगिता का माना जा सकता है।

मम्मट ने एककारक दीपक का (अर्थात् जहाँ क्रियाएं अनेक हैं किन्तु कारक एक ही है) का उदाहरण निम्नलिखित दिया है—

> स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
> अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥

इसमें वधू एक कारक है जिसका अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध अवश्य है पर जब दीपक प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के एक साथ रहने पर होता है और स्वेदन आदि सारी क्रियाएँ केवल प्रस्तुत हैं, अप्रस्तुत नहीं तो यहाँ दीपक कैसे माना जा सकता है ? काव्यप्रकाश के इस उदाहरण को भी वस्तुतः कारक-तुल्ययोगिता में रखा जा सकता था, साथ ही दीपक तथा तुल्ययोगिता में औपम्य आवश्यक है और इस उदाहरण में औपम्य नही है अतः इसमें कारक-दीपक या

कारक-तुल्ययोगिता न मानकर[1] समुच्चयालकार मानना चाहिए। समुच्चया-लकार में गुण और क्रिया का एक आधार में युगपत् अवस्थान होता है। यहाँ वधू आधार है जिसमें विभिन्न क्रियाओं का अवस्थान है। समुच्चय और तुल्य-योगिता का वस्तुत. भेद भी यही हैं कि प्रथम में औपम्य नही होता है केवल विभिन्न धर्म—गुण एव क्रिया—एकत्र अवस्थित होते हैं जब कि तुल्ययोगिता में औपम्य आवश्यक है।

तुल्ययोगिता तथा दीपक के दो-दो उदाहरणो के विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि एक तो इन दोनो मे मौलिक अन्तर नही है और दूसरे अनेक उदाहरणो मे प्रकृत या अप्रकृत का नियत कर पाना कठिन है। इस स्थिति मे इन दोनो को पृथग् अलकार न मानकर एक ही अलकार के भेद मान सकते है जिसका नाम तुल्ययोगिता-दीपक अथवा तुल्ययोग-दीपक रखा जा सकता है।

---

१. उद्भट के अनुसार (देखिए—का० अ० सं० १।१४) भी तुल्ययोगिता में औपम्य आवश्यक है। पण्डितराज जगन्नाथ (रसग० पृ० ४३१) ने इसी कारण मम्मट की आलोचना की है जो वस्तुतः जयरथ का ही अनुसरण है।

उपमामूलक अलंकार : प्रतिवस्तूपमा

तुल्ययोगिता और दीपक पदार्थगत अलकार हैं। इनमे सादृश्य पदार्थ में सन्निहित होता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और प्रतीति की दृष्टि से निदर्शना में एक से अधिक वाक्यो मे सादृश्य सन्निहित रहता है। अतः यदि प्रथम दो अलकार पदार्थगत है तो अन्तिम तीन वाक्यार्थगत। इन सभी मे एक बात समान है और वह यह कि इवादि का प्रयोग न होने से औपम्य गम्य रहता है। औपम्य के गम्य होने की अनुवृत्ति तुल्ययोगिता अलकार के सूत्र से है। स्वभावत. रुय्यक ने ही सर्वप्रथम औपम्य-गम्यता की बात स्पष्टत.[1] इन अलकारो के सम्बन्ध में कही है।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार का निरूपण भामह से उपमा-भेद के रूप मे प्रारम्भ हुआ था। भामह और दण्डी दोनो ने प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त को भिन्न अलंकार नही माना है साथ ही इसे उपमा का ही एक भेद स्वीकार किया है। उद्भट ही सर्वप्रथम आलकारिक हैं जिन्होने प्रतिवस्तूपमा को न केवल पृथक् अलकार के रूप मे प्रतिपादित किया अपितु दृष्टान्त (जिसे उन्होने काव्य-दृष्टान्त की सज्ञा दी है) से इसका पार्थक्य भी सुनिश्चित कर दिया। बाद मे चलकर वामन ने पुन भामह-दण्डी की भाँति इसे उपमा का ही भेद माना है। रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा के स्थान पर उभयन्यास अलकार का प्रतिपादन किया है। किन्तु मम्मट और रुय्यक दोनो ही इसे स्वतन्त्र और दृष्टान्त से अमिश्र अलंकार मानते हैं। इन्ही दोनो आचार्यों का अनुसरण परवर्ती आलंकारिक विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ तथा दीक्षित ने (कुवलयानन्द मे) किया है। परवर्ती आचार्यों के लक्षण मे औपम्य की गम्यता का निर्देश निश्चित ही रुय्यक के प्रभाव का परिचायक है।

रुय्यक का प्रतिवस्तूपमा-लक्षण निम्नलिखित है—

वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ् निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।

—अ० स० पृ० ६४।

---

१. भामह ने 'यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः' में 'अनभिधान' और 'प्रतीति' का प्रयोग कर इसी का संकेत किया था।

वाक्यार्थगत के रूप में साधारण धर्म का दो वाक्यों में पृथङ् निर्देश रहने पर प्रतिवस्तूपमा होती है। वस्तु शब्द वाक्यार्थ का वाचक है। प्रत्येक वाक्यार्थ या प्रतिवस्तु मे उपमा या साधर्म्य प्रतिवस्तूपमा का यौगिक अर्थ है।[1]

उपमादि से भेद

उपमालकार में प्राय एक वाक्य होता है और जहाँ (वाक्यार्थोपमा मे) दो वाक्य होते भी है वे अन्योन्याश्रित होने के कारण एक वाक्यार्थ मे पर्यवसित हो जाते हैं पर प्रतिवस्तूपमा में, जैसाकि रुय्यक ने स्पष्टत लिखा है, सदा दो वाक्य होते है। पुनश्च उपमा मे साधारण धर्म इव, यथा, तुल्य आदि शब्दो से ही बताया जाता है, वहाँ इवादि का उपादान होता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा मे इनका उपादान नही होता है। उपमा मे साधारण धर्म का प्रायेण एक बार (सकृत्) उपादान होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में असकृत् निर्देश होता है। और अन्ततः उपमा का औपम्य पदार्थविश्रान्त होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा मे साम्य सदा वाक्यार्थ में होता है।

दीपक और तुल्ययोगिता मे भी साधारण धर्म का एक बार ही निर्देश होता है,[2] जबकि प्रतिवस्तूपमा में उसका असकृत् निर्देश आवश्यक है। उपमा

---

१. वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्था-श्रयणात्। —अ० स० पृ० ९४-९५।

रुय्यक द्वारा दी गई इसी व्युत्पत्ति को कुवलयानन्दकार ने अपनाया है—
प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः।

—हि० कुवलया० पृ० ५२।

२ जयरथ का कथन है कि दीपक और तुल्ययोगिता में सामान्य धर्म का असकृत् निर्देश भी संभव है तथापि सकृत् निर्देश के बिना इन दोनों अलंकारों का उत्थान ही नहीं हो सकता अतः सकृत् निर्देश ही इन अलंकारों का प्रधान तत्त्व है जबकि प्रतिवस्तूपमा में असकृत् निर्देश ही आवश्यक है, सकृत् निर्देश में उसका स्वरूप सम्भव नहीं है। यद्यपि दीपकतुल्ययोगितयोः सामान्यस्यासकृन्निर्देशोऽपि संभवति तथापि सकृन्निर्देशं विना तयोरनुत्था-नात्तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्। —वि० पृ० ९४।

की ही भाँति दीपक और तुल्ययोगिता में भी साम्य (जो प्रतिवस्तूपमा की भाँति इवादि का उपादान न होने से प्रतीयमान रहता है) पदार्थ-गत होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में साधर्म्य की प्रतीति दो वाक्यार्थों से उत्पन्न होती है। निदर्शना दो वाक्यो में हो सकती है पर प्राय. उसमें एक वाक्य होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा मे दो वाक्य आवश्यक हैं।

सूत्र के विश्लेषण तथा अन्य कतिपय अलकारों से भेद के आधार पर प्रतिवस्तूपमा का जो स्वरूप है उसका आकलन कर लेना उचित होगा। प्रथमत. प्रतिवस्तूपमा मे परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य होते हैं। प्रत्येक वाक्य मे साधारण धर्म का उपादान होता है। ये साधारण धर्म अर्थदृष्टया अनेक होने पर भी वस्तु-दृष्टया एक होते है, केवल काव्य की मर्यादा किंवा पुनरुक्ति से बचने के लिए साधारण धर्म के लिए विभिन्न पर्यायो का प्रयोग होता है। दूसरे शब्दो मे प्रतिवस्तूपमा के साधारण धर्मों में वस्तु-प्रतिवस्तु का सम्बन्ध होता है, इसे ही वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहते हैं। इसका विवेचन हम साधारण धर्म का विश्लेषण करते हुए इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही कर चुके हैं अतः इन्हे यहाँ दुहराना आवश्यक नही है। सुविधा के लिए हम एक प्रसिद्ध लक्षण को पुन उद्धृत कर दे रहे है।

एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः।

एक ही धर्म का सम्बन्धी के भेद से दो बार (शब्दान्तर से) प्रयोग वस्तुप्रति-वस्तुभाव है। प्रतिवस्तूपमा मे इवादि का प्रयोग न होने से दो वाक्यो के अर्थ का औपम्य सदा गम्य होता है। यह औपम्य साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो ही विधाओं से अभिव्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए—

चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥—अ० स० पृ० ६५।

[चाँदनी का पान करने में चकोरियाँ ही चतुर होती है, अवन्ती देश की सुन्दरियां ही प्रणय-परिहास में निपुण होती हैं]

यहाँ परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य हैं—एक उपमेय-स्थानीय और दूसरा उपमान-स्थानीय। प्रथम वाक्य से अर्थत. उपमान और उपमेय प्रतीत हो जाता है। चकोरी चतुर है और अवन्ति-देश की स्त्री निपुण। चतुरता और निपुणता वस्तुतः एक ही साधारण धर्म है जो उपमानवाक्य में एक शब्द से और उपमेय-वाक्य में दूसरे शब्द से आया है। साधारण धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव को

झटिति समझने के लिए सीधा सा तरीका यह है कि जिन शब्दो का कोषार्थ एक ही हो उनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है। उपर्युक्त उदाहरण साधर्म्य या भावात्मक विधा से वस्तुप्रतिवस्तुभाव के उपादान का था। इसे ही थोडा बदल कर **'विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि'**—अवन्ति-देश की सुन्दरियो को छोडकर प्रणय-परिहास मे कोई निपुण नही होता है—यदि यह कहे तो यही वैधर्म्य का उदाहरण होगा।

उपमामूलक अलंकार : दृष्टान्त

प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि दृष्टान्त अलंकार का प्रारम्भ उद्भट से होता है। उन्होने इसे काव्यदृष्टान्त सभवतः इसलिए कहा था ताकि न्याय की अनुमान-प्रक्रिया मे समाविष्ट दृष्टान्त से भेद स्पष्ट रहे। वामन को छोडकर परवर्ती सभी आलकारिको ने, 'काव्य' शब्द का पुछल्ला हटाकर, इस अलकार को स्वीकार किया है।

रुय्यक के अनुसार धर्मी (प्रकृत तथा अप्रकृत किंवा उपमान एवं उपमेय) के अतिरिक्त धर्म का भी जहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है उसे दृष्टान्त अलकार कहते है।

सूत्र तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः।

वृत्ति : तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययोः। तच्छब्देन सामान्यधर्मः प्रत्यवमृष्टः।

इस प्रकार रुय्यक के अनुसार धर्मी तथा धर्म दोनों को ही लेकर दृष्टान्त अलकार हो सकता है।[1] धर्मी के अभिप्राय से बिम्बप्रतिबिम्बभाव[2] होने

---

१. जयरथ ने भी ग्रन्थकार के इसी मत को स्वीकार किया है कि धर्म तथा धर्मी दोनों में ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टान्त अलंकार में होता है, उन्होंने अपने समर्थन में मम्मट के दृष्टान्त-लक्षण को उद्धृत भी किया है। काव्यप्रकाश के एक टीकाकार का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा में तो साधारण धर्म का ही दो बार प्रयोग होता है किन्तु दृष्टान्त में उपमेय आदि का भी दो बार उपादान होता है। जगन्नाथ ने भी इसी मत को साग्रह माना है। और मुझे तो रुय्यक का भी यही मत प्रतीत होता है जैसाकि हम अभी सूत्र-वृत्ति का उद्धरण देकर स्पष्ट कर चुके हैं।

२. जो धर्म (या धर्मी) वस्तुतः भिन्न हों पर अत्यन्त सादृश्य के कारण जिनमें अभिन्नता दिखाई दे उन धर्मों का असकृत् उपादान बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। वस्तुतः भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाऽध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

का उल्लेख रुय्यक ने उपमा-प्रकरण में भी किया था। मम्मट का लक्षण—**दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्**—भी यही सूचित करता है कि जहाँ दो धर्मियो या धर्म में बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो वहाँ दृष्टान्त अलकार होता है। इस प्रतिबिम्बन की अभिव्यक्ति साधर्म्य से भी हो सकती है और वैधर्म्य से भी।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव की प्रक्रिया मे दो भिन्न धर्म या धर्मियो मे सादृश्य के कारण अभिन्नता का जो बोध होता है उसी को ध्यान मे रखकर मम्मट ने दृष्टान्त की व्युत्पत्ति '**दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र**' दी है। मम्मट तथा रुय्यक द्वारा दृष्टान्त का विवेचन एकरूप है। इसी का परवर्ती आचार्यो ने प्रायः अनुकरण किया है।

प्रतिवस्तूपमा आदि से भेद

प्रतिवस्तूपमा मे धर्मों मे वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है अर्थात् धर्म वस्तुन. एक होते हैं केवल उनका शब्दान्तर से उपादान होता है। दृष्टान्त मे इसके विपरीत **धर्मों में ही नहीं अपितु धर्मियों में** भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है अर्थात् वस्तुतः दो बिम्बो में भेद होता है केवल सादृश्य के कारण अभिन्नता का अनुभव (अन्त या निश्चय) होता है। प्रतिवस्तूपमा में कवि की दृष्टि दो धर्मियों के साधारण धर्म के वस्तुत: एक होने की ओर केंद्रित होती है। **चकोर्य एव चतुराः** प्रतिवस्तूपमा के इस उदाहरण मे कवि की दृष्टि चकोरी की **चतुरता** और सुन्दरी की **निपुणता** बताने में है, चकोरी और सुन्दरी के उपमानोपमेयभाव बताने मे नही है। पर दृष्टान्त में धर्म और धर्मी का पूरा वर्णन बिम्ब बनकर उभड़ता है जिसकी वस्तुदृगा भिन्न प्रतिबिम्ब से एकता का बोध कवि कराना चाहता है और इस प्रकार धर्मी तथा धर्म दोनों का ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव इसे अभीष्ट रह सकता है। यह अवश्य है कि कही कवि धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर बल देगा और कहीं धर्मियों के। किन्तु दोनो ही प्रकरण के अनुसार प्रतिबिम्बन की विधा मे आ सकते हैं पर प्रतिवस्तूपमा मे तो धर्म का एकत्व-प्रत्यायन कराने के साथ ही कवि की विवक्षा समाप्त हो जाती है अतः चमत्कार भी धर्मों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव तक ही सीमित रहता है। दृष्टान्त का साधर्म्यमूलक एक उदाहरण देकर यह बात समझी जा सकती है।

त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान्।

यहाँ 'त्व' और 'चन्द्र' अर्थात् दो धर्मियो की भिन्नता होने पर भी

अभिन्नता का प्रत्यायन (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) उतना ही कवि को अभीष्ट है जितना कि कीर्तिमत्ता और कान्तिमत्ता इन दो धर्मों की परस्पर बिम्बप्रति-बिम्बता का।

रुय्यक ने प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण में कहा है कि यह औपम्य के आश्रय से ही होती है—

तदेवमौपम्याश्रयेणैव प्रतिवस्तूपमा।

इस पर टीका करते हुए जयरथ का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा मे प्रकृतार्थ का सादृश्य बताने के लिए अप्रकृत अर्थान्तर का उपादान होता है परिणामतः प्रकृत और अप्रकृत मे उपमानोमेयभाव हो जाता है अत. प्रतिवस्तूपमा औपम्य पर आश्रित है। इसके विपरीत दृष्टान्त अलकार मे अप्रकृत का उपादान प्रकृत अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए होता है ताकि यह बताया जा सके कि जो प्रकृत में वर्णित है उसके समान दूसरा भी वृत्तान्त प्राप्त होता है। इस प्रकार, जयरथ के अनुसार, प्रतिवस्तूपमा मे कवि का लक्ष्य उपमानोपमेयभाव है तो दृष्टान्त में प्रतिपत्ता की प्रतीति को विशद या एक अर्थ को अर्थान्तर से स्पष्ट करना। जयरथ के इस विश्लेषण को स्वीकार भी करले तो उनसे यह पूंछा जा सकता है कि प्रकृत की स्पष्टता के उद्देश्य से ही सही अथवा प्रतिपत्ता को विशद ज्ञान होने की दृष्टि से ही सही जब अर्थान्तर का उपादान होगा तो यदि वह अप्रकृत प्रकृत के समान है तो उपमानोपमेयभाव या औपम्य की अनुभूति मे किस प्रकार बाधक होगा ? कक्षा में जब कभी कोई अध्यापक समान उदाहरण (analogy) द्वारा किसी वस्तु को समझाता है तो अनेकधा उपमानोपमेय की अनुभूति छात्र स्वय कर लेता हैं, भलेही उपमानोपमेयभाव बताना उस समय अध्यापक का उद्देश्य न हो। दृष्टान्त मे भी औपम्य गम्य ही होता है, यह रुय्यक ने स्वयं कहा ही है। अतएव प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को आर्थ औपम्य पर आश्रित मानकर, इन दोनो का भेद वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर ही करना उचित है। कुछ आचार्य दृष्टान्त में प्रकृत और अप्रकृत में समर्थ्य-समर्थकभाव होता है इस आधार पर इसका प्रतिवस्तूपमा से भेद करते है। उनका यह मत अनुचित है। दृष्टान्त में प्रकृत और अप्रकृत सरूप और विशेष होते है, असदृश और सामान्यरूप नही। दो सरूपविशेषों में समर्थ्य-समर्थकभाव नही होता है। पुनश्च दृष्टान्त में यदि समर्थ्य-समर्थकभाव मान लिया जाता है तो इसका अर्थान्तरन्यास से क्या भेद होगा क्योंकि उसमे भी एक वाक्य समर्थक और दूसरा समर्थ्य रहता है।

उपमामूलक अलंकार : निदर्शना

दो वस्तुओं का एकत्र सम्बन्ध—जो अन्वय की बाधा न रहने से सम्भव और अन्वय की बाधा होने पर असम्भव कहलाता है—बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव की प्रतीति कराता है तो निदर्शना होती है। दो वस्तुओ का एकत्र अवस्थान उन दोनो में किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वभावत: बताता है। यदि यह सम्बन्ध कारण और कार्य जैसा है तो निदर्शना अलकार नही होगा क्योंकि कार्यकारणभूत दो वस्तुओ से बिम्बप्रतिबिम्ब की प्रतीति नही होगी। निदर्शना उपमामूलक अलकार है अत जहाँ दो वस्तुओ में, जो दो पदो या (व्याकरण की दृष्टि से) एक वाक्य मे वर्णित हैं, सादृश्य का अनुभव होगा वही निदर्शना अलकार होगा। रुय्यक के निदर्शना-लक्षण[1] का यही अभिप्राय है। उनका लक्षण उद्भट से स्पष्टत प्रभावित है।[2] रुय्यक ने उपमानोपमेयत्व के स्थान पर 'प्रतिबिम्बकरण' शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक उपयुक्त है।

भामह ने निदर्शना का जो लक्षण दिया है वह परवर्ती लक्षणो से भिन्न है। इनके अनुसार जहाँ क्रिया के द्वारा ही यथा, इव, वति के प्रयोग के विना विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन होता है वहाँ निदर्शना होती है। भामह ने इसका जो उदाहरण दिया है[3] उसे राजानक तिलक ने सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है और वह रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यों के उदाहरणों से मिलता-जुलता भी है पर 'क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन' तक इस अलंकार का स्वरूप आगे चलकर सीमित नही रहा। दण्डी की निदर्शना का स्वरूप भामह से ही नही अपितु परवर्ती आचार्यों से भी भिन्न है। उनके

---

१. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना। —अ० स० पृ० ६७।

२. अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना॥—का० अ० सं० ५।१८।

३. अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥
—भामहालंकार, ३।३४; विवृति, पृ० ४५।

अभिन्नता का प्रत्यायन (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) उतना ही कवि को अभीष्ट है जितना कि कीर्तिमत्ता और कान्तिमत्ता इन दो धर्मों की परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बता का ।

रुय्यक ने प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण में कहा है कि यह औपम्य के आश्रय से ही होती है—

तदेवमौपम्याश्रयेणैव प्रतिवस्तूपमा ।

इस पर टीका करते हुए जयरथ का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा मे प्रकृतार्थ का सादृश्य बताने के लिए अप्रकृत अर्थान्तर का उपादान होता है परिणामतः प्रकृत और अप्रकृत मे उपमानोमेयभाव हो जाता है अत प्रतिवस्तूपमा औपम्य पर आश्रित है । इसके विपरीत दृष्टान्त अलकार मे अप्रकृत का उपादान प्रकृत अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए होता है ताकि यह बताया जा सके कि जो प्रकृत मे वर्णित है उसके समान दूसरा भी वृत्तान्त प्राप्त होता है । इस प्रकार, जयरथ के अनुसार, प्रतिवस्तूपमा मे कवि का लक्ष्य उपमानोपमेयभाव है तो दृष्टान्त मे प्रतिपत्ता की प्रतीति को विशद या एक अर्थ को अर्थान्तर से स्पष्ट करना । जयरथ के इस विश्लेषण को स्वीकार भी करले तो उनसे यह पूछा जा सकता है कि प्रकृत की स्पष्टता के उद्देश्य से ही सही अथवा प्रतिपत्ता को विशद ज्ञान होने की दृष्टि से ही सही जब अर्थान्तर का उपादान होगा तो यदि वह अप्रकृत प्रकृत के समान है तो उपमानोपमेयभाव या औपम्य की अनुभूति मे किस प्रकार बाधक होगा ? कक्षा मे जब कभी कोई अध्यापक समान उदाहरण (analogy) द्वारा किसी वस्तु को समझाता है तो अनेकधा उपमानोपमेय की अनुभूति छात्र स्वय कर लेता हैं, भलेही उपमानोपमेयभाव बताना उस समय अध्यापक का उद्देश्य न हो । दृष्टान्त मे भी औपम्य गम्य ही होता है, यह रुय्यक ने स्वय कहा ही है । अतएव प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को आर्थ औपम्य पर आश्रित मानकर, इन दोनो का भेद वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर ही करना उचित है । कुछ आचार्य दृष्टान्त में प्रकृत और अप्रकृत में समर्थ्य-समर्थकभाव होता है इस आधार पर इसका प्रतिवस्तूपमा से भेद करते है । उनका यह मत अनुचित है । दृष्टान्त में प्रकृत और अप्रकृत सरूप और विशेष होते हैं, असदृश और सामान्यरूप नही । दो सरूपविशेषों में समर्थ्य-समर्थकभाव नही होता है । पुनश्च दृष्टान्त में यदि समर्थ्य-समर्थकभाव मान लिया जाता है तो इसका अर्थान्तरन्यास से क्या भेद होगा क्योंकि उसमें भी एक वाक्य समर्थक और दूसरा समर्थ्य रहता है ।

उपमामूलक अलंकार : निदर्शना

दो वस्तुओं का एकत्र सम्बन्ध—जो अन्वय की बाधा न रहने से सम्भव और अन्वय की बाधा होने पर असम्भव कहलाता है—बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव की प्रतीति कराता है तो निदर्शना होती है। दो वस्तुओ का एकत्र अवस्थान उन दोनो में किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वभावत: बताता है। यदि यह सम्बन्ध कारण और कार्य जैसा है तो निदर्शना अलकार नही होगा क्योंकि कार्यकारणभूत दो वस्तुओ से बिम्बप्रतिबिम्ब की प्रतीति नही होगी। निदर्शना उपमामूलक अलकार है अत: जहाँ दो वस्तुओं में, जो दो पदों या (व्याकरण की दृष्टि से) एक वाक्य में वर्णित है, सादृश्य का अनुभव होगा वही निदर्शना अलकार होगा। रुय्यक के निदर्शना-लक्षण[1] का यही अभिप्राय है। उनका लक्षण उद्भट से स्पष्टत प्रभावित है।[2] रुय्यक ने उपमानोपमेयत्व के स्थान पर 'प्रतिबिम्बकरण' शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक उपयुक्त है।

भामह ने निदर्शना का जो लक्षण दिया है वह परवर्ती लक्षणों से भिन्न है। इनके अनुसार जहाँ क्रिया के द्वारा ही यथा, इव, वति के प्रयोग के विना विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन होता है वहाँ निदर्शना होती है। भामह ने इसका जो उदाहरण दिया है[3] उसे राजानक तिलक ने सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है और वह रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यों के उदाहरणो से मिलता-जुलता भी है पर 'क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन' तक इस अलंकार का स्वरूप आगे चलकर सीमित नहीं रहा। दण्डी की निदर्शना का स्वरूप भामह से ही नही अपितु परवर्ती आचार्यों से भी भिन्न है। उनके

---

१. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना। —अ० स० पृ० ६७।

२. अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना॥—का० अ० सं० ५।१८।

३. अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥
—भामहालंकार, ३।३४; विवृति, पृ० ४५।

अनुसार किसी अन्य कार्य मे प्रवृत्त होने पर उसके अनुरूप अच्छे या बुरे फल का निदर्शन 'निदर्शन' अलंकार का स्वरूप है।[1] वामन ने अवश्य भामह का अनुगमन करते हुए कहा—

क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम्। —का० अ० सू० ४।३।० ।

शुद्ध क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन के स्थान पर सम्बन्ध (अन्वय) का ख्यापन वामन के लक्षण की विशेषता है। यह सम्बन्ध-स्थापन जो अन्ततः औपम्य मे पर्यवसित होता है निदर्शना का आवश्यक तत्त्व है। वामन ने सम्बन्ध-स्थापन की बात तो कही थी पर उन्होंने औपम्य की प्रतीयमानता का सूत्रण अपने लक्षण मे नही किया था और न भामह की ही भाँति असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धा को निदर्शना मे सम्मिलित किया था। भामह और वामन के विपरीत, शोभाकर सम्बन्ध के असम्भव होने पर ही आर्थ औपम्य की स्थिति में निदर्शना मानते हैं। इस प्रकार वे रुय्यक-सम्मत सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना को स्वीकार नही करते है। रुय्यक ने दोनो प्रकार की निदर्शना और वह भी औपम्य के ही आधार पर स्वीकार की है। निदर्शना का यही स्वरूप विश्वनाथ, दीक्षित, जगन्नाथ आदि को मान्य है। रुय्यक के अनुसार जहाँ वस्तुसम्बन्ध सम्भव होता है वहाँ सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना होती है। जैसे कि—

चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम्।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः॥

[गृहस्थो को यह जताते हुए कि सज्जनो का अतिथि-सत्कार करना चाहिए, उदयाचल अभ्यागत सूर्यदेव को अपनी मौलिमणि पर धारण करता है]

यहाँ पदार्थों का सम्बन्ध बाधित नही है अतः दो वस्तुओं का सम्बन्ध सम्भव है जो अन्ततः बिम्बप्रतिबिम्बभाव मे पर्यवसित होता है, भामहादि इसे सदसद् के उपदेश की प्रक्रिया कहेंगे।

इस उदाहरण में 'मेरी भाँति गृहस्थो को अतिथि सत्कार करना चाहिए' यह बोध होता है। यह बोध स्मृतिरूप नही है क्योंकि गृहस्थी पुरुषों को सूर्य के दर्शन से अतिथि की स्मृति नही हो रही है। पुनश्च इसमें पर्वत पर बोधन-क्रिया के कर्ता होने का सभावन भी नहीं है अतः न तो इस उदाहरण में स्मरणालकार है और न प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। स्मरण तो वही होता है जहाँ

१. अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत् यदि तत्स्यान्निदर्शनम्॥ —काव्यादर्श, २।३४८ ।

सदृश के दर्शन से दूसरी सदृश वस्तु का स्मरण हो किन्तु यहाँ सूर्य के दर्शन से अतिथि का स्मरण नही हो रहा है। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में संभावन, अभिमान या उत्प्रेक्षण का अंश आवश्यक है किन्तु यहाँ पर्वत मे उस बोधन की संभावना नही की गई है। इस उदाहरण को विशेषालंकार का भी नहीं मान सकते क्योकि इसमें हमें यह प्रतीति नही होती कि सूर्य का अवगम होने से असम्भाव्य आतिथ्य का अवगम हुआ है। इस प्रकार निदर्शना इन सभी अलंकारो से भिन्न है।

निदर्शना जब पदार्थ किंवा एक वाक्य मे होती है तो उसे पदार्थवृत्ति निदर्शना या परवर्ती आलकारिको के शब्दो मे एक-वाक्यगत निदर्शना और जब वह वाक्यार्थवृत्ति होती है तो उसे अनेक-वाक्यगा कहते हैं। मालारूप और शृखलारूप से भी इसके भेद होते हैं।[1] साधारण धर्म की अनुगामिता, वस्तु-प्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश के आधार पर भी इसके त्रिविध भेद हैं।[2] असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना मे दो वस्तुओ का सम्बन्ध भावरूप से भी असभव हो सकता है और निषेध सामर्थ्य से आक्षिप्त प्राप्ति की सम्बन्धानुपपत्ति से भी। प्राचीन आचार्य उपमेय मे उपमानवृत्त को असम्भव मानकर असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा की व्याख्या करते थे किन्तु रुय्यक के अनुसार वस्तुतः उपमेय-वृत्त की उपमान-वृत्त में असम्भव स्थिति को लेकर भी असम्भव-द्वस्तुसम्बन्धा की व्याख्या की जा सकती है—

इयं चोपमेय उपमानवृत्तस्यासम्भवात्प्रतिपादिता पूर्वैः। वस्तुतस्तूपमेय-वृत्तस्योपमानेऽसम्भवादपि भवति। उभयत्रापि सम्बन्धविघटनस्य विद्यमानत्वात्।
—अ० स० पृ० १००।

वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा।
अलक्ष्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु॥—वही।

[गौड देश की स्त्रियों के कपोलतलों पर वियोग मे जो पीलापन था वह खर्जूरी लता के पराग में दिखाई देता था]

यहाँ कपोलतल का वर्णन प्रकृत है। उसका पीलापन खजूर के पराग (उपमान-वृत्त) में सम्भव नही है। उपमानवृत्त का उपमेय-वृत्त में यह असम्भव वस्तुसम्बन्ध दोनो के औपम्य में पर्यवसित होता है अतः यहाँ असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धा निदर्शना है।

---

१. देखिए अ० स० पृ० १००।
२. देखिए—वि० पृ० १०१।

अन्य अलंकारों से भेद

निदर्शना की स्मृति, उत्प्रेक्षा तथा विशेष अलकारों से भेद की चर्चा 'चूडामणि पदं धत्ते . ' आदि उदाहरण के विश्लेषण मे की जा चुकी है। यहाँ हम इस अलंकार के दृष्टान्त, वाक्यार्थरूपक (जगन्नाथ), तथा अर्थान्तरन्यास से भेद की चर्चा करेंगे। *असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा वाक्यार्थ निदर्शना* का एक उदाहरण है—

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डरीकरणं विधोः॥—अ० स० पृ० ९८।

[तुम्हारे चरण के नखरत्नों को यह जो महावर लगाना है वह चन्द्रमा को चन्दन से धवल बनाना है]

नखरत्न का अलक्तकमार्जन और चन्द्रमा का पाण्डरीकरण दो भिन्न वस्तुएँ है जिनमें सम्बन्ध सम्भव नही है पर उनमें बिम्बप्रतिबिम्ब का विधान होने से इसमें असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना है। चूकि यह प्रतिबिम्बभाव वाक्यार्थ से आता है अतः यहाँ वाक्यार्थ-निदर्शना है। अलक्तकमार्जन का (प्रातीतिक दृष्टि से एक) वाक्य और चन्द्रमा का पाण्डरीकरण का वाक्य यहाँ परस्पर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं। दृष्टान्त मे दो वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं। निदर्शना मे तो यह प्रतीति होती है कि जो अलक्तकमार्जन है वही पाण्डरीकरण है और इस प्रकार कह सकते है कि एक वाक्यार्थ पर दूसरे वाक्यार्थ का समान विभक्ति के द्वारा अध्यारोप होता है। इस अध्यारोप का आधार दो वस्तुओं में सम्बन्ध का अभाव है जो अन्तत. सादृश्य की अनुभूति मे परिणत होता है। रुय्यक के अनुसार दो निरपेक्ष वाक्यार्थ में बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टान्त है। पर जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ पर दूसरे वाक्यार्थ का समानाधिकरण से आरोप होता है वहाँ सम्बन्ध की अनुपपत्ति पर आधारित निदर्शना ही मानना उचित है।[1] विश्वनाथ ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है।[2] उनके अनुसार निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्ब का आक्षेप किए बिना वाक्यार्थ का

१. अ० स० पृ० ९९।

२. इह (निदर्शनायां) बिम्बप्रतिबिम्बाक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम्। दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्यात् बिम्बप्रतिबिम्बतानिदर्शनम्।
—सा० द० (नि० स०), पृ० ५५८।

पर्यवसान ही नहीं हो सकता किन्तु दृष्टान्त में पर्यवसित वाक्यार्थ अपने सामर्थ्य से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का प्रत्यायन कराता है। दृष्टान्त में वाक्यों के परस्पर निरपेक्ष और निदर्शना में सापेक्ष होने की जो बात रुय्यक ने कही थी उसी का समुचित व्याख्यान विश्वनाथ ने किया है।

शोभाकर ने रुय्यक के इस विवेचन पर यह प्रश्न उठाया है कि यदि निदर्शना में प्रकृत वाक्यार्थ पर दूसरे वाक्यार्थ का समानाधिकरण से निर्देश होता है तो क्यो न ऐसे उदाहरण में वाक्यार्थ-रूपक माना जाए ? यदि अलक्तकमार्जन पर पाण्डुरीकरण का यहाँ आरोप है और उसी की प्रतीति होती है तो वाक्यार्थ-रूपक मानने में क्या आपत्ति है ? यदि ऐसा नही करते तो 'मुखं चन्द्रः' को भी निदर्शना का उदाहरण मानना होगा क्योकि इसमें भी मुख और चन्द्र मे सम्बन्ध का अभाव है और इस प्रकार रूपक की आवश्यकता ही नही रहेगी।[1] शोभाकर का अशत. अनुसरण करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उपर्युक्त उदाहरण 'त्वत्पादनखरत्नानां' में वाक्यार्थरूपक सिद्ध करने का प्रयास किया है और उन्होने इस उदाहरण में निदर्शना मानने के लिए श्लोक का निम्नलिखित रूप स्वीकार किया है—

> त्वत्पादनखरत्नानि यो रंजयति यावकैः।
> इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डरीकुरुते हि सः॥ —रसग० पृ० ३४४।

पण्डितराज के अनुसार रूपक में आरोप होता है और निदर्शना में आर्थ अभेद जो आरोप तथा अध्यवसान दोनो से भिन्न है।[2] वस्तुत· 'त्वत्पादनखरत्नानां..' में निदर्शना मानना ही उचित है। शोभाकर का यह मत कि निदर्शना असम्भवद्-वस्तुसम्बन्ध-निबन्धना नही होती है क्योकि उसका वाक्यार्थरूपक से भेद सिद्ध न हो सकेगा या पण्डितराज द्वारा इसमें वाक्यार्थरूपक बताना (रसग० पृ० ३४३), उचित नही है। रूपक वही होता है जहाँ लोकप्रसिद्ध उपमान और उपमेय मे अभेद का वर्णन हो। रूपक में अभेद-प्रतीति का आधार सादृश्यमूलक लक्षणा होती है किन्तु निदर्शना में प्रतीयमान अभेद की अनुपपत्ति से ही अभेद का प्रत्यायन होता है। निदर्शना का जीवित अनुपपत्ति-जन्य अभेद में है किन्तु रूपक

---

१. देखिए—अ० र० पृ० २१।

२. एवं चारोपाध्यवसानमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम्।
—रसग० पृ० ३४४।

का लाक्षणिक अभेद में ।[1]

असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा वाक्यार्थनिदर्शना का एक और प्रसिद्ध उदाहरण है जिसमें शकुन्तला के शरीर की रूप-सम्पत्ति को देखकर दुष्यन्त कहता है—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥
—शाकुन्तल, १।१७, अ० स० पृ० ६६ ।

[यदि आश्रम में रहने वाले व्यक्ति का ऐसा रूप है जो रनिवासो में भी दुर्लभ है तो वन की लताओं ने उद्यान की लताओं को सचमुच अपने गुणो से मात दे दी है ।]

इस उदाहरण में प्रकृत वाक्यार्थ, आश्रमवासी के रूप का शुद्धान्तदुर्लभ होना तथा अप्रकृत वाक्यार्थ, वनलताओं द्वारा अभिभव, असम्बद्ध हैं किन्तु इनके एक साथ रहने से हम इन दोनो में सादृश्य मान लेते हैं—वन्यसौन्दर्य द्वारा नागर सौन्दर्य को मात देना उसी प्रकार है जैसे वनलता द्वारा उद्यानलता को मात देना ।[2] शोभाकर ने उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतिवस्तूपमा मानी है । दो वाक्यों मे *साधारण धर्म का असकृत् निर्देश प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप है। यही स्वरूप* शोभाकर को भी मान्य है ।[3] इस उदाहरण का विवेचन करते हुए उनका कहना है कि अन्त.पुर और उद्यान मे रूप (वपु) और लता की दुर्लभता समान धर्म है जो पहले वाक्य में दुर्लभ शब्द द्वारा और दूसरे वाक्य में दूरीकृता—मात दे दी—के रूप में एक ही धर्म दो वाक्यो मे पृथग् उपात्त है । वस्तुत. उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतिवस्तूपमा मानना शोभाकर की बहुत बड़ी भूल है। प्रतिवस्तूपमा वही होती है जहाँ दो वाक्यार्थ परस्पर निरपेक्ष हों और साधारण धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तुभाव हो । इस उदाहरण में न तो दो वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष हैं और न साधारण धर्म में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव ही है । और इसमें अर्थापत्ति अलंकार मानना, जैसा कि शोभाकर ने किया है,[4] और भी अनुचित है क्योंकि

१- इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—उद्योत, पृ० ४७ ।

२. शाकुन्तल में इसी प्रकार का एक और सुन्दर उदाहरण है—
इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥

३. अ० र० पृ० १७-१८ ।

४. देखिए—अ० र० पृ० १३६-४० ।

शुद्धान्त दुर्लभ के वर्णन के साथ अर्थान्तर (वनलताओं द्वारा उद्यानलताओं को मात करना) अर्थात् नही आ जाता है। अर्थापत्ति में सादृश्य भी नही होता है जबकि औपम्य की प्रतीयमानता निदर्शना मे आवश्यक तत्त्व है। कुछ लोग इस उदाहरण में दृष्टान्त अलकार भी मानना चाहते हैं किन्तु जैसा कि रुय्यक ने स्वयं कहा है सम्बन्ध की अनुपपत्ति से होने वाली निदर्शना, जहाँ प्रकृत वाक्यार्थान्तिर का समानाधिकरण से आरोप होता है, और दृष्टान्त में महान् अन्तर है।

उपमामूलक अलंकार : व्यतिरेक

भामह और दण्डी के समय से व्यतिरेक अलंकार का प्रतिपादन होता चला आ रहा है। भेदाभेदतुल्य अलंकारों में उपमेय तथा उपमान दोनों की ही समानता बताने मे कवि की दृष्टि रहती है। अप्रकृष्ट-गुण उपमेय को उत्कृष्ट-गुण उपमान के समान बताने में उसका अभिप्राय उपमेय का उत्कर्ष-प्रतिपादन ही होता है। किन्तु इस प्रथम सोपान मे उपमेय केवल उपमान के समान ही होता है, उससे अभिन्न या अधिक नही। अभेदप्रधान अलकारो में कवि उपमेय को उपमान बताकर अभेद के द्वारा उपमेय और उपमान को समान ही नही अपितु एक बता देता है। यह उपमेय के उत्कर्ष-प्रतिपादन की दूसरी श्रेणी है।

व्यतिरेक में कवि उपमेय का उत्कर्ष बताना चाहता है। इसके लिए वह या तो इन दोनों मे विद्यमान सादृश्य का निषेध करता है या उपमेय को उत्कृष्ट बताकर आक्षेप द्वारा उपमान का अपकर्ष सूचित करता है या कभी उपमान का अपकर्ष बताकर आक्षेप द्वारा उपमेय का उत्कर्ष बताता है। इन तीनो रूपो द्वारा[1] उत्कर्ष-अपकर्ष का विधान उपमेय और उपमान मे भेद की प्रतीति को प्रधान बनाता है।[2] यह भेद-प्रधानता अन्ततः इन दोनों मे विद्यमान सादृश्य को द्योतित करने के लिए ही होती है। 'निष्कलंकं मुखं न चन्द्रवद्' में चन्द्र और मुख के निष्कलंकत्व को लेकर भेद-प्रतीति तो होती है पर साथ ही, हृद्यत्व या उत्कण्ठाजनकत्व आदि अन्य अनेक गुणों के आधार पर इन दोनों मे औपम्य भी गम्य रहता है। इन दोनो मे अगर कही सादृश्य न हो तो किन्ही विशेष गुणो के आधार पर उन्हे भिन्न बताने का भी प्रश्न न उठे।[3] अतः व्यतिरेक गम्यमान औपम्य पर आश्रित भेदप्रधान अलंकार है। दण्डी ने अपनी

---

१. रसग० पृ० ३८१।

२. व्यतिरेके उत्कर्षापकर्षप्रतीतेर्भेदप्राधान्यं स्फुटम्। —समुद्र० पृ० ७८।

३. यद्गुणपुरस्कारेण यस्य यत् सादृश्यनिषेध उत्कर्षपर्यवसायी तस्य तद्गुणपुरस्कारेण तत्सादृश्यस्याप्रतिष्ठानेऽपि गुणान्तरेण सादृश्यप्रत्ययस्य दुर्वारत्वात्। —रसग० पृ० ३५०।

परिभाषा[1] में इसके इस स्वरूप का पर्याप्त संकेत कर दिया था। उदाहरण में तो उन्होंने उपमेय और उपमान का सादृश्य बताने के बाद उपमेय के आधिक्य का वर्णन किया है।

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः।
गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥—काव्यादर्श, २।१८१।

इस उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि भामह की भाँति दण्डी भी उपमेय के आधिक्य या उत्कर्ष के वर्णन को ही व्यतिरेक मानते हैं, यद्यपि उनकी परिभाषा का सामान्य अर्थ यही है कि उपमेय तथा उपमान के भेद का कथन दोनों मे से किसी के उत्कर्ष द्वारा हो सकता है। भोज की परिभाषा भी (सरस्वती० ३।३२) उपमेयोत्कर्ष तथा उपमानोत्कर्ष दोनों में ही समान रूप से लागू होती है।[2] पर उनका भी उदाहरण[3] उपमेय का आधिक्य-वर्णन करता है।

उद्भट की परिभाषा मे भी उपमेय के ही आधिक्य या उत्कर्ष का निबन्धन नहीं है। उनकी परिभाषा[4] का 'विशेषापादन' शब्द भी इस दृष्टि से अस्पष्ट है कि व्यतिरेक उपमान के आधिक्य वर्णन मे होगा या नही। हाँ, उपमान और उपमेय दोनो के लिए ही 'विशेषापादन'[4] या 'उत्कर्षवर्णन' शब्द इस बात की ओर सकेत करते हैं कि सभवतः उद्भट को उपमेयोत्कर्ष के अतिरिक्त उपमानोत्कर्ष के वर्णन में भी व्यतिरेक अभीष्ट है। पर इस बात का स्पष्ट निर्देश न रहने के नाते इनके टीकाकार तिलक उपमेयोत्कर्ष और उपमानापकर्ष में ही व्यतिरेक मानते हैं।[5] उद्भट के दूसरे टीकाकार इन्दुराज उपमेय तथा उपमान दोनों के ही उत्कर्ष-वर्णन में व्यतिरेक सभव समझते हैं।[6]

---

१. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
यत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ —काव्यादर्श, २।१८०।

२. परिभाषा की प्रथम पंक्ति को भोज ने व्यतिरेक-लक्षण में अक्षरशः अपना लिया है।

३. सरस्वती० ३।६०।

४. विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः।—का० अ० सं० २।१२।

५. स च उपमेयोत्कर्षोपमानापकर्षरूपश्च व्यतिरेक. । —विवृति, पृ० २५।

६. तत्र ह्युपमानादुपमेयस्योपमेयादुपमानस्य वा केनचिद् विशेषणातिरेक आधिक्यं ख्याप्यते तस्माद् व्यतिरेकः। —लघुवृत्ति, पृ० ३५।

इस प्रकार उद्भट तक किसी भी आचार्य ने स्वयं इस बात का स्पष्ट निर्देश या प्रतिषेध नहीं किया है कि उपमान के आधिक्यवर्णन में व्यतिरेक मानना चाहिए या नहीं। वामन ने सर्वप्रथम अपनी परिभाषा[1] मे इस बात को स्पष्ट कर दिया कि वे केवल उपमेयाधिक्य में ही व्यतिरेक मानते हैं। इनके बाद रुद्रट ने व्यतिरेक को दोनों ही तरह (उपमेयाधिक्य तथा उपमानाधिक्य) से माना है।

यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।—काव्यालंकार, ७।८६।

यह उपमेयाधिक्यरूप व्यतिरेक का लक्षण है। 'यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये'[2] उपमानाधिक्यरूप व्यतिरेक का लक्षण है। परवर्ती आलंकारिकों में मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने वामन का अनुसरण किया। और रुय्यक ने रुद्रट (और संभवतः उद्भट) का। उनकी व्यतिरेकपरिभाषा मे इसीलिए उपमेयाधिक्य तथा उपमानाधिक्य दोनो का ही सूत्रण है—

उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः।—अ० स० पृ० १०१।

रुय्यक की इस मान्यता का जयरथ ने प्रबल समर्थन किया है। पर इनके दूसरे टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती तथा समुद्रबन्ध इसी साहस के साथ रुय्यक का समर्थन न कर सके। श्रीविद्याचक्रवर्ती सर्वस्व की टीका में तो चुप रहे किन्तु उन्होंने काव्यप्रकाश की टीका मे मम्मट के मत का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें उपमानाधिक्य में व्यतिरेक अभीष्ट नहीं है।

उपमानस्याधिक्यमिति रुचकेनोक्तमयुक्तम्। —अ० स० पृ० ३१७।

समुद्रबन्ध ने 'विपर्ययग्रहणं न कर्तव्यमित्यन्ये' कहकर अपने को तटस्थ अवश्य रखा पर वामन-मम्मट-सम्मत मान्यता का सादर उल्लेख अवश्य कर दिया है। रुय्यक का अनुसरण साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द तथा प्रतापरुद्रयशोभूषण के लेखकों ने किया है। एकावलीकार इस सम्बन्ध में मम्मट के ही अनुयायी हैं, रुय्यक के नहीं। मल्लिनाथ ने अपनी तरल टीका में तथा उनके पुत्र कुमारस्वामी ने रत्नापण टीका में अलंकारसर्वस्व के मत का खण्डन कर मम्मट के

---

१. उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः। —का० अ० सू० ४।३।२२।
वृत्ति—उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद् अर्थादुपमानात् स व्यतिरेकः।

२. काव्यालंकार, ७।८९।

व्यतिरेक-लक्षण को ही उचित ठहराया है। वे सभी आचार्य जो उपमानाधिक्य में व्यतिरेक नहीं मानते उनका खण्डन प्रमुखरूप से इस मान्यता पर आधारित है कि उपमेय सदा निकृष्ट गुण वाला होता है और उपमान सदा उत्कृष्ट गुण वाला। अतः उपमान का आधिक्य तो स्वभावसिद्ध है उसके वर्णन में कोई नवीनता या विच्छित्ति नही। शोभाकर का यही कथन है—

उपमानस्यान्यस्मादाधिक्यं हि स्वभावतः सिद्धम्।
तस्वे तेन न युक्तो व्यतिरेकश्चारुताविरहात्॥

—अ० र० पृ० २६।

अनेक आचार्यों ने उपमानाधिक्य को अलंकार मानने का खण्डन इसके प्राचीन उदाहरणों मे उपमेयाधिक्य का प्रतिपादन करते हुए किया है। रुद्रट का उपमानाधिक्य का उदाहरण है—

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु।

—काव्यालकार, ७।९०।

यहाँ यौवन उपमेय है और शशी उपमान है। दोनों का समानधर्म है अस्थिरता। चन्द्र की अस्थिरता तो जाकर भी लौट आती है पर अस्थिर यौवन एक बार गया तो फिर लौटकर नही आता। दूसरे शब्दो में चन्द्र का गुण इतना नश्वर नही जितना यौवन का। इस दृष्टि से चन्द्र या उपमान अधिक गुणवान् है और यौवन या उपमेय अपकृष्ट है। उपमान मे गुण का आधिक्य है और उपमेय में अपकर्ष। क्षीण दोनो होते हैं पर एक में तो वृद्धि का गुण है जो दूसरे में नही है।

अत्र शश्युपमानं क्षीणोऽपि वृद्धिगुणयुक्तो निर्दिष्टः यौवनन्तूपमेयं क्षयदोषयुक्तम्। —नमिसाधु की टीका, पृ० ९४।

रुय्यक का भी यही मन्तव्य है—

चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्षण्येन तस्यापुनरागमनात्। —अ० स० पृ० १०२।

उपर्युक्त श्लोक के प्रकरण पर यदि हम विचार करें तो यह प्रतीत होगा कि सखी यौवन को अस्थिर बताकर प्रियसंगम का उपदेश देना चाहती है। यदि यौवन अस्थिर न हो तो मान करना भी ठीक है पर चन्द्र की भाँति वह जाकर लौटता नहीं उसमें चन्द्र की अपेक्षा अधिक अस्थिरता है। यही उसकी

कमी या न्यूनगुणत्व है। मम्मट, जगन्नाथ आदि के अनुसार इस प्रकरण का दूसरा ही अर्थ है। उनके अनुसार यौवन की अस्थिरता अच्छी है क्योंकि इसी लिए तो प्रियतम के प्रति अविरत अनुराग रखना आवश्यक है। अस्थिरता भले ही लोक मे अनुपादेय होती है किन्तु प्रियसंगम के लिए स्वभाव की दृष्टि से वह अच्छी है। इस प्रकार यौवन की अस्थिरता उपमेय की न्यूनगुणता नही अपितु आधिक्य है। इन दोनो विरोधी मतो का प्रयोजन एक है क्योंकि 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' का प्रतिपाद्य प्रियानुराग ही है। जो आचार्य इसमें उपमेय की न्यूनगुणता के आधार पर प्रकृत प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं वे भी उपमान (चन्द्र) से यौवन को हीन बताना नही चाहते। अलकारयोजना में कवि की दृष्टि प्रकृत या उपमेय को ऊपर उठाने में रहती है। उपमेय का उत्कर्ष उसका सदा साध्य रहता है। उपमेय को उपमान से अधिक गुणवाला मानना तो उसका एक सीधा ढग है ही पर उपमान को किसी दृष्टि से अधिक गुण-वाला बताकर भी कवि उपमेय में विच्छित्ति का आधान कर लेता है, यही उसकी विशेषता है। ऐसे स्थलों मे उपमान का आधिक्य वाच्य रहता है और उपमेय का आधिक्य आक्षेपलभ्य। कवि का प्रतिपाद्य सदा उपमेय का उत्कर्ष रहता है पर उसका शिल्पविधान अवश्य विलक्षण रहता है। यह विलक्षणता उपमेय को न्यूनगुण बताकर भी उसे वस्तुतः उपमान से बढकर बताने से कम सुन्दर नही। इसी दृष्टि से आचार्यों के विरोधी मतो का समन्वय करना चाहिए। केवल इस आधार पर रुय्यक-जयरथ की मान्यता का खण्डन करना कि उपमेय की न्यूनगुणता तो वास्तविक है (शोभाकर, जगन्नाथ) या ऐसे उदाहरण नही पाए जा सकते जिनमें उपमानाधिक्य प्रतिपादित हो (मल्लिनाथ)[२] कवि के लोकोत्तर शिल्पविधान को नियन्त्रित करना है। सही बात तो यह है कि उपमेय को उपमान के समान या अधिक बताकर जिस प्रकार वाच्यार्थ का उपस्कार सम्भव है उसी प्रकार उपमेय की न्यूनगुणता की चर्चा कर उसकी उत्कृष्टता की प्रतीति कराने मे भी है। तभी तो व्यतिरेक को गम्यमान औपम्य पर आश्रित कहना अधिक उपयुक्त है।

व्यतिरेक-लक्षण

रुय्यक ने उपमेय का आधिक्य तथा न्यूनगुणत्व दोनो का समावेश

---

१. देखिए—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ६४५; रसग० पृ० ३५३।

२. न चान्यदस्योदाहरणं युज्यते दृश्यते वा। —तरल, पृ० २४९।

करने के लिए व्यतिरेक का लक्षण किया है—

भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।

—अ० स० पृ० १०१ ।

वृत्ति में रुय्यक ने विपर्यय का अर्थ न्यूनगुणत्व किया है । इस आधार पर लक्षण का अर्थ है उपमान से उपमेय जहाँ अधिक गुणवाला या न्यूनगुणवाला हो वहाँ व्यतिरेक होता है । इस लक्षण के अनुसार उपमेयाधिक्य तो व्यतिरेक है ही, जैसाकि सभी आचार्य मानते हैं । दूसरे भेद के लिए रुय्यक ने उपमानाधिक्य का प्रयोग न कर उपमेय को ही न्यूनगुण कहा है । इससे रुय्यक का सम्भवतः यही अभिप्राय है कि व्यतिरेक मे कवि की दृष्टि उपमान पर केन्द्रित न होकर उपमेय पर ही केन्द्रित होती है । कभी उसके ऐसे अश पर जो उपमान से अधिक-गुण है और कभी न्यूनगुण पर किन्तु उसका प्रतिपाद्य उपमेय होता है और इस प्रकार उसकी न्यूनगुणता वास्तविक नही कही जा सकती ।

न चैतद्वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम् । तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् ।

—वि० पृ० १०२ ।

इस लक्षण के 'विपर्यये' पद की शोभाकर ने जो आलोचना की है वह बहुत कुछ उपमानाधिक्य को लेकर है जब कि रुय्यक उपमेय के न्यूनगुणत्व की चर्चा करते है , उपमानाधिक्य की नही । शोभाकर ने व्यतिरेक के लक्षण की इस आधार पर भी आलोचना की है कि जहाँ उपमान उपमेय मे किसी अश मे विरुद्ध या प्रतिकूल होता है वहाँ भी व्यतिरेक होता है किन्तु रुय्यक की परिभाषा में इसके लिए कोई स्थान नही है अत यह आलोचना असमीचीन है । जहाँ उपमान का प्रतिकूलवर्णन होता है वहाँ उपमेय का आधिक्य रहता है । पार्वती के अमृतवाही स्वर को सुन कर कोकिल के शब्द कर्णकटु मालूम देते हैं ।[1] इस उदाहरण मे अमृतवाही कहने से उपमेय के गुण में आधिक्य का स्पष्ट अभिधान है । उदाहरण के दूसरे अंश (अन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा) को लेकर यहाँ प्रतिकूलता के वर्णन के आधार पर व्यतिरेक मानने की आवश्यकता नही है क्योंकि ऐसे स्थलो का संग्रह 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये' में ही हो जाता है ।

---

१. स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।

अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥

—कुमारसंभव, १।४५ ।

चिरन्तन आचार्यों के ही समय से व्यतिरेक के अनेक भेदोपभेदों का निरूपण होता रहा है। रुय्यक ने केवल दो प्रकार का व्यतिरेक बताकर किसी भी अन्य भेद की चर्चा नहीं की है। व्यतिरेक सादृश्याश्रित अलकार है। सादृश्य त्रिविध धर्मों (अनुगामी आदि) द्वारा उत्थापित होता है अतः इसके भी साधारण धर्म के पूर्व-निर्दिष्ट त्रिविध आधार पर तीन भेद होते हैं।

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥

—कुमारसम्भव, १।३६।

इसमें 'परिणाहि' अनुगामी धर्म है।

जलजं ललितविकासं सुन्दरहासं तवाननं हसति।

—रसग० पृ० ३५७।

इसमें लालित्य और सौन्दर्य वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप साधारण धर्म हैं। हास तथा विकास इन दो साधारण धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। रुय्यक द्वारा उल्लिखित उपमेयाधिक्य के उदाहरण[१] मे मनोहर और रम्य में वस्तुप्रतिवस्तुभाव और पक्ष्मलता तथा नीलोत्पलिनी के विलास और विकस्वरता में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

१. दिदृक्षव. पक्ष्मलताविलासमक्ष्णां सहस्रस्य मनोहरं ते।
वापीषु नीलोत्पलिनीविकासरम्यासु नन्दन्ति न षट्पदौघाः॥

उपमामूलक अलंकार : सहोक्ति

उपमान और उपमेय में से एक का प्रधानरूप मे निर्देश और दूसरे का सहार्थ से सम्बन्ध सहोक्ति अलंकार कहलाता है।[1] भामह ने इसका सर्वप्रथम लक्षण करते हुए दो भिन्न वस्तुओ मे एक काल मे रहनेवाली दो क्रियाओं का एक पद से कथन सहोक्ति अलकार का स्वरूप माना था।[2] दण्डी ने 'गुण और कर्म के सहभाव से कथन' को सहोक्ति बताते हुए[3] कर्म (भामह की क्रिया) में गुण का तत्त्व और सन्निविष्ट कर दिया था। उद्भट ने भामह के ही लक्षण को (एकाध शब्द के हेरफेर के साथ) यथावत् स्वीकार कर लिया था।[4] अग्निपुराण में दण्डी के लक्षण का अनुसरण है। और वामन का लक्षण भामह के श्लोकबद्ध लक्षण का ही गद्यरूप है।[5] रुद्रट ने सहोक्ति को वास्तव तथा औपम्य इन दो वर्गों में रखा है। प्रथम वर्ग की सहोक्ति मे कार्यकारणभाव और औपम्य दोनों ही समञ्जित रहते हैं किन्तु औपम्यवर्ग की सहोक्ति में औपम्य से भिन्न दूसरा सम्बन्ध समञ्जित नही रहता है।[6] कुन्तक ने भामह द्वारा प्रस्तुत सहोक्ति के लक्षण को उपमा के स्वरूप से अतिव्याप्त मान कर सहोक्ति का लक्षण यह किया है कि जहाँ एक वाक्य के द्वारा ही वर्णनीय अर्थ की

---

१. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः।
—अ० स० पृ० १०३।

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सहोक्ति सा मता यथा॥ —भामहालंकार, ३।३९।

३. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्। —काव्यादर्श, २।३५१।

४. भामह के लक्षण से उद्भट के निम्नलिखित लक्षण की तुलना कीजिए—
तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सा सहोक्तिर्मता सताम्॥
—का० अ० स० ५।२६।

५. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः।
—का० अ० सू० ४।३।२८।

६. देखिए—नमिसाधु० पृ० ७७, ११६।

सिद्धि के लिए अर्थों का युगपत् अभिधान होता है वहाँ सहोक्ति होती है। पद के स्थान पर वाक्य और क्रिया या गुण के स्थान पर अर्थ का प्रयोग कुन्तक के लक्षण की विशेषता है। इनके अनुसार वर्णनीय अर्थ ही प्रधान होता है, सहोक्ति मे उपात्त अन्य अर्थ उसकी अपेक्षा समानरूप से गौण रहते हैं। रुय्यक का सहोक्ति-लक्षण प्राचीन सभी लक्षणों से अधिक महत्त्व का है। इसमें एक तो उन्होने प्रधानभाव और गौणभाव की स्पष्ट व्यवस्था की है और दूसरे उपमान और उपमेय पद का प्रयोग कर इस अलकार की औपम्यमूलकता भी स्पष्ट कर दी है। रुय्यक का सहोक्ति-विवेचन व्याकरण-दर्शन से प्रभावित है। इनके अनुसार जिस अर्थ का निर्देश तृतीया विभक्ति मे होता है वह गौण तथा जिसका प्रथमा विभक्ति मे होता है वह प्रधान होता है—व्याकरण के अनुसार क्रिया प्रधान होती है और उसके साथ कर्त्ता का ही सीधा सम्बन्ध होता है। तृतीया विभक्ति मे आई वस्तु का सम्बन्ध प्रथमा के माध्यम से ही होगा।

सहोक्ति औपम्यमूलक अलकार है। उसमें एक वस्तु उपमेय-स्थानीय और दूसरी उपमान-स्थानीय होती है पर यह उपमानोपमेयभाव नियत या वास्तविक न होकर कवि और सहृदय की विवक्षा के अधीन होता है क्योंकि सहोक्ति मे दोनो ही अर्थ प्रकृत हो सकते है अथवा अप्रकृत और सहार्थ के कारण दोनो ही समान कोटि के होगे तथापि जिसका निर्देश तृतीया विभक्ति मे होगा उसे गौण होने के कारण उपमान और अन्य विभक्ति वाले को प्रधान होने के कारण उपमेय मानना होगा। चूकि उपमानोपमेयभाव प्रकृत और अप्रकृत दोनो के ही एक साथ रहने पर वास्तविक कहलाता है और सहोक्ति मे दोनो प्रकृत या अप्रकृत हो सकते हैं अत उपमानत्व और उपमेयत्व वैवक्षिक है। चूकि सह शब्द के प्रयोग से एक वस्तु गौण बन जाती है अत· उसी के सहारे दूसरी वस्तु को प्रधान जान लिया जाता है अतः सहोक्ति का गुणप्रधानभाव सह शब्द के प्रयोग पर अवलम्बित होने के कारण शाब्द है, आर्थ नही। गुणप्रधानभाव की यह स्थिति नियत नहीं है। कभी कही प्रधान विभक्ति से निर्दिष्ट की अप्रधानता और गुणविभक्ति से निर्दिष्ट की प्रधानता भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में सहोक्ति के मूल में अतिशयोक्ति—कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्ययरूप तथा अभेदाध्यवसायरूप—अनिवार्यत. रहती है। अभेदाध्यवसाय-रूप अतिशयोक्ति कभी श्लेषाभित्तिक होती है और कभी अन्यथा। उदाहरण के लिए 'भवदपराधैः सार्धं सन्तापो वर्धतेतरामस्याः' सहोक्ति के इस उदाहरण में

कार्यकारण-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति मूल में है क्योंकि सन्तापों के हेतुभूत अपराध का कार्यरूप सन्ताप के साथ युगपत् वर्णन है ।

अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि—शत्रुओं के साथ यह सूर्य अस्तगत हो गया है, सेनाओं को वापस हटा लो—श्लेषभित्तिक अभेदाध्यवसायमूलक सहोक्ति के इस उदाहरण मे 'अस्तगत होना' श्लिष्ट है क्योंकि उससे सूर्य के डूबने और राजा के पराजित होने का एक ही शब्द से बोध होता है ।

कुमुदवनैः सह सम्प्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि—कुमुदवनों के साथ अब चकवा-चकवी के जोडे विलग हो रहे हैं—इस उदाहरण में विलग होना अश्लिष्ट शब्द है। यद्यपि कुमुदवन तथा चकवा-चकवी के विभिन्न संदर्भ में उसका अर्थ भिन्न हो जाता है पर इस अर्थ-भेद का आधार सम्बन्धी का भिन्न होना है न कि एक ही शब्द के दो अर्थ होना । रुय्यक का कथन है कि सहोक्ति अतिशयोक्ति से किंवा कारण और कार्य के विपर्यय तथा अभेदाध्यवसाय से अनुप्राणित होती है अन्यथा इसे अलकार नहीं माना जा सकता है—

(क) तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः । —अ० स० पृ० १०४ ।

(ख) एतद्विशेषणपरिहारेण सहोक्तिमात्रं नालंकारः । —पृ० १०५ ।

सहभाव कर्ता, कर्म आदि के साथ हो सकता है, इस आधार पर कर्तृ-साहित्य, कर्मसाहित्य के रूप मे भेद भी रुय्यक ने माने हैं । अभीतक के सभी उदाहरण कर्ता के साथ सहभाव के थे। कर्म के साथ सहभाव का उदाहरण है—

धु जनो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये ।
चक्रे चक्राभिधानेन प्रेष्येणाप्तमनोरथः ॥ —वही ।

सहोक्ति मालारूप से भी हो सकती है जिसमें सह के साथ अनेक का निर्देश तृतीया विभक्ति में होगा ।[1] जयरथ ने धर्म की शुद्ध सामान्यरूपता तथा बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के आधार पर भी इसके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।[2]

रुय्यक द्वारा सहोक्ति के स्वरूप, उसकी अतिशयोक्ति-मूलकता, उसके भेद आदि का विवेचन अत्यन्त मौलिक है ।[3] उनके इस विवेचन का अनुसरण

---

1. उदाहरण है—'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितम् ...' आदि ।
2. वि० पृ० १०५ ।
3. देखिए—अ० स० पृ० १०३-४ ।

परवर्ती अनेक आचार्यों ने किया है जिनमे शोभाकर, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, दीक्षित आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। शोभाकर ने सहोक्ति की अतिशयोक्तिमूलकता ही नहीं[1] अपितु तुल्ययोगिता-मूलकता भी मानी है। जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सहकथन होता है वहाँ इसके मूल में तुल्ययोगिता होती है।

सहोक्ति के मूल में अतिशयोक्ति रहती है या नहीं, इसके सम्बन्ध में मम्मट के काव्यप्रकाश में कोई संकेत नहीं है किन्तु उनके उदाहरण 'सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति' का विश्लेषण करते हुए साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण तर्कवागीश का कथन है कि यहाँ 'गलन्ति'—गिर रहे हैं—इसमें अभेदाध्यवसाय का अश नही है अत सहोक्ति को नियमेन अतिशयोक्तिमूलक नहीं मानना चाहिए।[2] इस सम्बन्ध में यह कहना उचित नही होगा कि सम्बन्धी के भेद से 'गलन्ति' के भी दो अर्थ हैं। मणिवलय का खिसकना या गिरना और आँसुओं का चूना एक ही बात नही है अत. इस उदाहरण मे भी अतिशयोक्ति-मूलकता मानना चाहिए। विश्वनाथ ने 'लक्ष्मण के साथ राम गहन वन में गए' इसे सहोक्ति का उदाहरण न मानकर यह स्पष्ट कर दिया है कि अतिशयोक्ति-मूलकता के अभाव में सहोक्तिमात्र को अलकार नही माना जा सकता है। दो व्यक्तियों की गमन क्रिया का सहृदय की दृष्टि से एक ही स्वरूप है किन्तु मणिवलय के खिसकने और आँसू के चूने में उसे अन्तर प्रतीत होता है, यह न्याय का उतना विषय नही है जितना कि सहृदय की अनुभूति का।

सहोक्ति और इसी प्रकार विनोक्ति[3] मे सह तथा विना शब्द का प्रयोग क्रमश. सहार्थ तथा विनार्थ की शीघ्र प्रतीति में सहायक है अतः इन शब्दों या इनके पर्यायों का प्रयोग साधारणत. होता है किन्तु इन शब्दों का प्रयोग आवश्यक नहीं है और न लक्षण का घटक ही है।[4] यदि हमें वाक्यार्थ

---

१. रुय्यक ने अतिशयोक्ति के दो भेदों पर ही सहोक्ति को आधारित माना था पर शोभाकर सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध वाली अतिशयोक्ति को भी इसके मूल में मानते हैं। देखिए—अ० र० पृ० ७०।

२. सा० द० पर रामचरण तर्कवागीश की टीका, पृ० ५६१।

३. विनोक्ति के उपमामूलक न होने से हमने उसका विवेचन पृथक् से नहीं किया है।

४. अत्र विनाशब्दमन्तरेणापि विनार्थविवक्षा यथाकथंचिन्निमित्तीभवति, यथा सहोक्तौ सहार्थविवक्षा। —अ० स० पृ० १०६।

के पर्यवसान में सहार्थ अथवा विनार्थ की प्रतीति हो जाती है तो सहोक्ति तथा विनोक्ति अलंकार माने जाएंगे । सह शब्द के विना भी सहार्थ की विवक्षा का उदाहरण निम्नलिखित है—

विच्छायवता सौरभरोरदोषं बन्दिमतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः ।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे प्रायेण दृष्टेवंवृथे विवादः ॥
—वि० पृ० १०७ ।

इसी प्रकार जहाँ वाक्यार्थ की पर्यालोचना से 'विना' अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ 'विना' शब्द के प्रयोग के विना भी विनोक्ति अलकार होगा । उदाहरण के लिए—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव न येन दृष्टा नलिनी प्रबुद्धा ॥[1]

[जिस कमलिनी ने चन्द्र-बिम्ब नही देखा उसका जन्म बेकार चला गया । उस चन्द्र का भी जन्म लेना बेकार ही है जिसने कभी विकसित कमलिमी नहीं देखी है]

१. इस उदाहरण में परस्पर विनोक्ति है, कमलिनी चन्द्र के बिम्बदर्शन के विना निष्फल है और चन्द्र विकसित कमलिनी के विना । ऐसे उदाहरणों में अधिक चमत्कार होता है—
इयं च परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयकृत् । —वही, पृ० १०७ ।

उपमामूलक अलंकार : समासोक्ति

समासोक्ति का निरूपण भामह के समय से प्रारम्भ हुआ । परवर्ती सभी आलकारिको ने इसे स्वीकार किया है । मम्मट तक इसका जो रूप स्थिर हुआ वह अधिक स्पष्ट नहीं था । रुय्यक के समासोक्ति के लक्षण और निरूपण का प्रभाव अर्वाचीन आलकारिको पर विशेष रूप से पड़ा है ।

विशेषणो के साम्य से जहाँ अप्रस्तुत गम्य होता है वहाँ समासोक्ति होती है । यह रुय्यक का समासोक्तिलक्षण है । अप्रस्तुतप्रशंसा मे प्रस्तुत गम्य होता है । समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रकृतविषयक होता है और व्यंग्यार्थ अप्रकृतविषयक जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में ठीक इसके विपरीत वाच्यार्थ अप्रकृतविषयक होता है और व्यग्यार्थ प्रकृतविषयक—

गम्यत्वन्तु प्रस्तुतनिष्ठमप्रस्तुतप्रशंसाविषयः । अप्रस्तुतनिष्ठन्तु समासोक्तिविषयः । —अ० स० पृ० १०८ ।

इन दोनों ही अलकारो मे दो अर्थों की प्रतीति होती है । एक वाच्यार्थ रहता है, दूसरा व्यग्यार्थ । श्लेष मे दो अर्थों की प्रतीति होती है पर दोनो ही वाच्य रहते हैं । यही नही समासोक्ति में विशेषण में श्लेष भले ही हो पर विशेष्य में कभी श्लेष नही होता जबकि श्लेषालकार में दोनों ही श्लिष्ट होते हैं ।[1] इस प्रकार समासोक्ति में विशेष्य से दो अर्थ नही निकलते जबकि श्लेष मे विशेष और विशेष्य दोनों ही से दो अर्थ निकलते हैं । समासोक्ति में अप्रस्तुत का आक्षेप क्यों होता है? इस प्रश्न के उत्तर में रुय्यक का कथन है कि इसमें ऐसे विशेषणो का प्रयोग होता है जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों में ही समान रूप से लागू होते हैं । विशेषण शब्द को यदि हम नियन्त्रित अर्थ में न लें तो कार्य तथा लिंग द्वारा निर्दिष्ट साम्य को भी विशेषणसाम्य कहा जा सकता है अत: विश्वनाथ की भाँति, समासोक्ति की परिभाषा में कार्य तथा लिंग का पृथक् निवेश अनावश्यक है । रुय्यक के समासोक्तिसूत्र का पाठ दो प्रकार से मिलता है। एक में 'विशेषणानां साम्याद्' पाठ है और दूसरे में 'विशेषणसाम्याद्' । पहले पाठ के अनुसार समासोक्ति के लिए अनेक विशेषणों का उपादान आवश्यक है । पर—

1. तथा देखिए--वि० पृ० १०८ ।

श्वसनविषमा रात्रिर्ज्योत्स्ना तरंगितविभ्रमा,
शशिमणिभुवो बाष्पायन्ते निमीलति पद्मिनी ।
उपचिततमोमोहा भूमिर्व्यनक्ति विवर्णतां,
तदिति गहनं दर्शं दर्शं कथं सखि जीव्यते ।
—वि० पु० १०८ ।

इस उदाहरण मे रात्रि, ज्योत्स्ना आदि प्रकृत हैं, उनके लिए पृथक् रूप से केवल एक विशेषण है 'श्वसनविषमा', 'तरंगितविभ्रमा' आदि । एक विशेषण से ही रात्रि, ज्योत्स्ना आदि मे वियोगिनी नायिका की व्यवहार-प्रतीति होती है । अतः जयरथ, श्रीविद्याचक्रवर्ती, समुद्रबन्ध द्वारा सम्मत तथा अनेक पाण्डुलिपियो में प्राप्त 'विशेषणसाम्याद्' पाठ ही उचित है । प्रथम पाठ स्वीकार करने पर अनेक विशेषण का होना आवश्यक हो जाएगा फलत उपर्युक्त उदाहरण में समासोक्ति का लक्षण अव्याप्त होगा । अत प्रथम पाठ ठीक नही है । समस्यन्त पदवाले द्वितीय पाठ के विशेषण शब्द को तीनो ही वचनों में समझा जा सकता है अत 'विशेषणसाम्याद्' पाठ लक्षण की दृष्टि से उचित है । इसी आधार पर शोभाकर का 'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्माषच्छेदः समासोक्तिः' (अ० र० सू० ४३) यह लक्षण भी अव्यापक है ।

समान-विशेषण का निर्देश तीन प्रकार से हो सकता है—

(अ) श्लेष के द्वारा जैसेकि 'उपोढरागेण' मे राग शब्द लालिमा तथा अनुराग इन दो अर्थो का वाचक है ।

(ब) उभयार्थसाधारण शब्द के द्वारा जैसेकि 'मनोरमा' ऐसा विशेषण है जो लता तथा नायिका दोनो के लिए ही आ सकता है ।

(स) उपमागर्भ शब्द के द्वारा जैसेकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' पद का समास दो तरह से किया जा सकता है : 'दन्तप्रभाः पुष्पाणीव तैश्चिता' तथा 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' । पहले अर्थात् उपमा-गर्भ समास से प्रकृत नायिका की प्रतीति होती है और दूसरे (मध्यमपदलोपि) समास द्वारा अप्रकृत लता के व्यवहार की । इस पद का तीसरे प्रकार से भी समास सम्भव है । वह है—

---

१. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि तैश्चिता' । तीनों ही समास-प्रकारों से यह पद नायिका तथा लता का विशेषण बन सकता है। प्रथम दो समासों के आधार पर तो समासोक्ति मानी जा सकती है क्योंकि उनके द्वारा अप्रकृत के व्यवहार की प्रतीति से आच्छादित प्रकृत ही प्रधान बना रहता है । पर रूपकगर्भ समास में लता अपने रूप से नायिका को रूपित कर देती है अतः उसमे रूपक होगा ; व्यवहार-समारोप वाली समासोक्ति नही। इन तीनो ही भेदों पर अब हम रुय्यक-जयरथ तथा चक्रवर्ती के अनुसार विशेष विचार प्रस्तुत कर रहे हैं ।

(अ) समासोक्ति, श्लेष तथा शब्दशक्तिमूल ध्वनि तीनों में ही श्लिष्ट पद का प्रयोग होता है । पर इन तीनो का ही विषय भिन्न है। श्लिष्ट पद से निकलने वाले दोनो अर्थ यदि नियमत. वाच्य होते हैं तभी श्लेषालकार होता है । समासोक्ति तथा श्लेषालकार का भेद विशेष्यांश की अश्लिष्टता तथा श्लिष्टता को लेकर है। श्लेषालंकार मे जहाँ केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत का वर्णन होता है वहां विशेषण तथा विशेष्य दोनो में ही श्लिष्ट पद का प्रयोग आवश्यक है । श्लिष्ट विशेषण तथा श्लिष्ट विशेष्य से निकलने वाले दोनों अर्थ इसमे वाच्य रहते हैं क्योंकि अभिधा द्वारा किसी एक अर्थ मे नियन्त्रण नही होता। और जहाँ प्रकृताप्रकृत का वर्णन होता है वहाँ विशेष्य के लिए पृथक् शब्दो का उपादान आवश्यक है। यदि विशेष्य को भी श्लिष्ट कर दिया जाता है तो अभिधा द्वारा केवल एक प्रकरणार्थ की ही प्रतीति होगी, अप्रकृतार्थ का ज्ञान व्यंजना द्वारा होगा । ऐसे स्थलों में श्लेषालकार न होकर शब्दशक्तिमूलध्वनि होगी । श्लेषालंकार के लिए यह आवश्यक है कि दोनों ही अर्थ (चाहें वे प्रकृत या अप्रकृत अथवा प्रकृताप्रकृत हो) वाच्य होने चाहिए । समासोक्ति मे विशेष्य तो कभी श्लिष्ट रहता ही नही, विशेषण भी सदा श्लिष्ट नही रहता। हाँ, उससे दो अर्थों का ज्ञान आवश्यक है । समासोक्ति के विशेषण को अर्थद्वयप्रतिपादक होना चाहिए, चाहें वह श्लेष से हो या साधारण शब्द से या उपमागर्भ समास से । जहाँ एक अर्थ प्रकृत है और दूसरा अप्रकृत, विशेषण तथा विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट हैं तो वहाँ न तो समासोक्ति हो सकती है क्योंकि उसमें केवल विशेषणसाम्य होता है, न श्लेष हो सकता है क्योंकि उसके लिए दोनों अर्थों का वाच्य होना अपरिहार्य है। श्लिष्ट प्रकृताप्रकृत में अभिधा केवल प्रकृतार्थ का बोध करा सकती है । प्रकृतार्थ बताने के बाद उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी अतः अप्रकृतार्थ को बताने के लिए व्यंजना का सहारा लेना पड़ेगा । अस्तु, ऐसे स्थलों में श्लेषालंकार न होकर शब्दशक्तिमूलध्वनि होगी । ध्वनिवादी

की दृष्टि से समासोक्ति, श्लेष तथा शब्दशक्तिमूलध्वनि का यही विषय-विभाग है।[1]

श्लिष्ट पद द्वारा विशेषणसाम्य का उदाहरण रुय्यक ने पाणिनि-प्रणीत निम्नांकित श्लोक दिया है, जिसे आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में समासोक्ति-विवेचन के प्रसंग मे उद्धृत किया था—

> उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
> यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ।।

[रागभरे चन्द्र ने निशा के चपल तारक वाले मुख को यो पकडा कि सारा तिमिर-वसन सामने खिसक जाने पर भी वह जान ही न पाई]

इस श्लोक मे शशी का नायक की भाँति पुलिंग में तथा निशा का नायिका की भाँति स्त्रीलिंग मे निर्देश हुआ है। शेष पदो से दो अर्थ निकलते हैं।[2] एक का सम्बन्ध प्रकृतार्थ से है और दूसरे का अप्रकृतार्थ से। शशी तथा निशा विशेष्य हैं। उनका एक ही अर्थ है। उनमें श्लेष नहीं है किन्तु विशेषण-शब्द दो अर्थ के वाचक है जिनसे अप्रकृतार्थ (या उसके व्यवहार) की प्रतीति होती है। अप्रस्तुत अर्थ चूँकि विशेषणसाम्य से प्रतीत होता है अत विशेष्य से इसका साक्षात् सम्बन्ध नही रहता। रूपक के लिए दोनों की समानतया प्रतीति आवश्यक है। समासोक्ति मे अप्रकृत अर्थ की प्रतीति प्रकृत का उपादान भर कर देने से सम्भव नहीं है। केवल शशी और निशा कहने से नायक और नायिका का ज्ञान नही हो जाता; इसके लिए विशेषण-साम्य आवश्यक है। और यह विशेषण-साम्य अप्रकृत के धर्म, कार्य या व्यवहार का

---

१. यदा पुनः प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्विशेषणविशेष्यांशेऽपि श्लिष्टता तदा तावन्न समासोक्तिः। विशेषणमात्रसाम्यलक्षणा यतः। श्लेषालंकारत्व-प्राप्तिरपि कथम् ? तत्रार्थद्वयस्य वाच्यतैव लक्षणं यतः। न चात्र द्वयो-र्वाच्यतोपपत्तिः। प्रकरणपक्षपातिन्या अभिधाया अप्राकरणिकार्थे स्पर्शा-भावात्। अप्राकरणिकस्य समन्वयसमनन्तरप्रतीतत्वात्, शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः श्लेषेण विषयग्रासप्रसंगाच्च। —सजी० पृ० १०८-९।
तथा देखिए—वि० पृ० ५०।

२. रागः सन्ध्याकृणिमा कामश्च। तारकेऽयतो नक्षत्रकगन्तर्मध्यवक्षणोः प्रतिपत्तिः। मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च। तिमिरमंशुकमिव तिमिरसदृशमंशुकं च।
—संजी० पृ० ११०।

प्रत्यायन करता है, उसके रूप का नहीं। 'तथा गृहीतम्' से नायक के व्यवहार (या वृत्तान्त—अप्पय्यदीक्षित) की प्रतीति होती है, उसके रूप की नहीं। स्वभावत. समासोक्ति में व्यवहार-समारोप होता है, रूपक की भाँति रूप-समारोप नही होता। आरोप के लिए दो का निर्देश उचित है। समासोक्ति में प्रकृत तथा अप्रकृत दोनो का ही व्यवहार पदों की उभयार्थकता के कारण वाच्य रहता है अतः एक पर दूसरे के व्यवहार का आरोप सम्भव है पर विशेष्यांश में प्रकृत का ही उपादान होने के नाते अप्रकृत का रूप ज्ञात नही होता अतः आरोप का प्रश्न ही नही उठता। रूपसमारोप के लिए यह भी आवश्यक है कि दो पदार्थों की प्रतीति अनुयोगी तथा प्रतियोगी के रूप में हो पर समासोक्ति मे ऐसा नही होता क्योंकि इसमें केवल अनुयोगी का उपादान होता है, प्रतियोगी का निर्देश नही होता। यह अवश्य है कि विशेषणसाम्य से जब प्रस्तुत की प्रतीति होती है तो वह प्रस्तुत मे स्वव्यवहारविशिष्ट होने की प्रतीति करा देती है। "विशेषणसाम्याद्धि . तद्रूपरूपितत्वाद्' रुय्यक (अ० स० पृ० १०६) के इस कथन का यही अभिप्राय है।[1] इसी दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त श्लोक में शशि तथा निशा को नायक तथा नायिका के धर्म से विशिष्ट होने की प्रतीति बताई है। विशेषणसाम्य के कारण जब अप्रस्तुत की प्रतीति होती है तो वहाँ लक्षणा द्वारा नही, अपितु आक्षेप से प्रतीति माननी चाहिए। जयरथ के अनुसार 'उपोढरागेण' आदि मे राग नायक का धर्म है, शशि का नहीं। नायक के धर्म का इसीलिए शशि मे अन्वय सम्भव है क्योंकि वह धर्म तो नायक मे ही अविनाभाव सम्बन्ध से रहता है। अत 'उपोढरागेण' आदि से राग आदि के धर्मी नायक का आक्षेप किया जाएगा। जयरथ ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।[2] इनके अनुसार जब दो वस्तुओं में अविनाभाव सम्बन्ध होता है वहाँ लक्षणा न मानकर आक्षेप मानना चाहिए। 'गौरनुबन्ध्यः' में इसीलिए जयरथ लक्षणा नही मानते क्योंकि जाति(गोत्व) और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इसी

---

१. यतो विशेषणसाम्यादप्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते, अतो विशेष्यांशे संस्पर्शाभावाद् विशेष्यं प्रकृतार्थं न स्वेन रूपेण रूपवन्तं कर्तुमीष्टे। किन्तु विशेषणांश-प्रतीतौ स्वव्यवहारं विशेषांशप्रतीते प्रकृतार्थव्यवहारे परिच्छेदकत्वेन समारोपयति। —संजी० पृ० १०६।

२. देखिए—नह्यन्यधर्मिसम्बन्धिनो धर्मा ..... न पुनराक्षिप्यते। —वि० पृ० १०८।

प्रकार समासोक्ति में नायक का व्यवहार नायक का आक्षेप कर लेता है क्योंकि व्यवहार धर्म है जो धर्मी में अविनाभाव से रहता है—

गौरनुबन्ध्यः इत्यत्र यथा कथं मे श्रुतिचोदितमनुबन्धनं स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु लक्ष्यते . एवं समासोक्तावपि नायकव्यवहारस्तद्विनाभावित्वादेव नायकत्वमाक्षिपति । —वि० पृ० ५-६ ।

भामह, उद्भट आदि प्राचीन आचार्य प्रतीयमान अर्थ को लक्षणा मे गतार्थ करते थे या आक्षेप में, यह कहना कठिन है क्योंकि लक्षणा और आक्षेप का परस्पर भेद ही बहुत स्पष्ट नही रहा है। अनेक आचार्य आक्षेप को लक्षणा से भिन्न नही मानते थे। रुय्यक ने प्राचीन मत का उल्लेख इन शब्दो मे किया है—

वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् इति यथायोगं द्विविधया भंग्या प्रतिपादितं तैः।—अ० स० पृ० ४।

रुय्यक ने अपनी तरफ से 'द्विविध भंगी' शब्द का प्रयोग किया है; उन्होने न तो लक्षणा शब्द का प्रयोग किया है और न आक्षेप का। जयरथ ने यह मानकर कि रुय्यक ने लक्षणा शब्द के लिए ही द्विविध भगी शब्द का प्रयोग किया है, प्राचीन आचार्यों की और साथ ही रुय्यक की भी यह आलोचना कर डाली है कि प्रतीयमान अर्थ लक्षणा के द्वारा नही अपितु आक्षेप के द्वारा प्रतीत होता है।

अत्र हि लक्षणाया एव नावकाशः। ग्रन्थकृता पुनरेतच्चिरन्तनानुवादपरतयोक्तम्। अस्माभिस्तु प्रसंगाद् वस्तु पर्यालोचितमित्यलं बहुना।

--वि० पृ० ५-६ ।

जगन्नाथ ने इसके विपरीत प्राचीन आचार्यों का यही मत समझा था कि समासोक्ति में प्रकृतार्थ की अभिधा शक्ति द्वारा और अप्रकृतार्थ की आक्षेप द्वारा प्रतीति होती हैं।

एवं चात्र शक्त्याक्षेपाभ्यां सर्वार्थनिर्वाह इति भामहोद्भटप्रभृतीनां चिरन्तनानामाशयः। —रसग० पृ० ३७१-२।

पर जो भी हो, चाहें प्राचीन आचार्य जयरथ के अनुसार अभिधा और लक्षणा द्वारा प्रकृत तथा अप्रकृत के अर्थज्ञान की व्याख्या करते हों, चाहें जगन्नाथ के अनुसार अभिधा और आक्षेप के द्वारा और चाहे रुय्यक के शब्दो में द्विविध भंगी के द्वारा, उनका मत समाचीन नही है। वस्तुतः व्यजना द्वारा ही अप्रकृतार्थ की प्रतीति माननी चाहिए, लक्षणा या आक्षेप के द्वारा नही। जयरथ

के अनुसार समासोक्ति में विशेषणसाधर्म्य के द्वारा जिन धर्म या कार्य का वर्णन होता है वे प्रकृतार्थ के नहीं होते अतः उनसे अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर चेतन अप्रकृत का आक्षेप होता है।

नह्यनायके नायकधर्माणामन्वयो युज्यते। अन्यधर्माणामन्यत्रान्वयसंभवात्। अत एवान्यारोप्यमाणोऽन्यव्यवहारोऽन्यत्र न संभवतीति तदविनाभावात् स्वव्यवहारिणमाक्षिपति। —वि० पृ० १०८।

यह मत असमीचीन है। 'निशामुखं चुम्बति चन्द्र एषः' में मुखचुम्बन (कार्य या धर्म) का वर्णन है। यह मुख-चुम्बन केवल नायक का ही धर्म नही है। केवल नायक ही नायिका का मुखचुम्बन नही करता है, पिता आदि भी पुत्रादि का मुख-चुम्बन करते है। इस प्रकार यह नही कहा जा सकता है कि मुखचुम्बन धर्म का नायिक-नायिका के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। और फिर यदि धर्मी नायक अथवा नायिका का आक्षेप होता है तो उनका अभेदान्वय उनके धर्म से होना चाहिए पर अभेद-प्रतीति चन्द्र-निशा में नायक-नायिका की होती है, नायक-नायिका का मुखचुम्बन के साथ अभेदेन अन्वय आक्षेप से हो पाता है— 'नायकः नायिकामुखं चुम्बति' और 'चन्द्रः निशाप्रारम्भं स्पृशति' यह बोध होता है। मुखचुम्बन का भेदेन अन्वय करने पर चन्द्र और निशा मे नायक-नायिका-भाव की प्रतीति केवल तटस्थ रूप में होगी और इस प्रकार समासोक्ति रसोद्बोधक भी न हो सकेगी। अब श्लिष्टपद वाले विशेषणसाम्य को लें। 'उपोढरागेण ' मे शशि और निशा मे नायक तथा नायिका की प्रतीति श्लेष पर आधारित विशेषणसाम्य को लेकर होती है, विशेष्यांश में श्लेष नहीं होता। अभिधा के द्वारा उनका प्रकृतार्थ ही बताया जा सकता है। मुख्यार्थबाध आदि न होने से लक्षणा भी सम्भव नही है। अतएव यह मानना पडेगा कि व्यंजना की सहायता से ही अप्रकृत वाक्यार्थ की प्रतीति होती है जो प्रकृत वाक्यार्थ के साथ तादात्म्येन सम्बद्ध रहता है।[1] रुय्यक ने सम्भवतः इसीलिए अभिधीयते, लक्ष्यते या आक्षिप्यते जैसे शब्दों का प्रयोग न कर 'प्रतीयते', 'प्रतीयमानम्', 'प्रतीतेः' 'अप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्' जैसी शब्दावली का ही प्रयोग किया है। जयरथ को छोड़कर सर्वस्व के अन्य टीकारकारो का मेरे उपर्युक्त विवेचन को समर्थन भी प्राप्त है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने तो स्पष्ट लिखा है—

एवमादौ हि धर्मकार्ययोरन्यतरारोपमन्तरेणाप्रकृतार्थो नावगम्यते।

1. देखिए—रसग० पृ० ३७२।

प्रकरणनियन्त्रिताया अभिधाया प्राकरणिकार्थ एवोपक्षयात्, अतो धर्मकार्ययो-रन्यतरारोप एव व्यंजनव्यापारोत्थापनेनाप्रकृतावगमहेतुः ।

—संजी० पृ० १११-१२ ।

यह मत ध्वनिवाद के अनुकूल भी है । आनन्दवर्धन ने 'उपोढरागेण' पर अपनी वृत्ति मे कहा है—

इत्यादौ व्यंग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते ।

—ध्वन्या० (काशी) पृ० १०६ ।

मम्मट का समासोक्ति-लक्षण,[1] जिसमे उन्होने 'उक्ति' और 'अभिधानम्' का प्रयोग किया है, उपर्युक्त आधार पर असम्भव है । उनका लक्षण अव्यापक भी है क्योकि समासोक्ति को उन्होने श्लिष्टविशेषण पर आधारित माना है पर जैसाकि प्रारम्भ में ही बताया गया है समासोक्ति श्लिष्ट विशेषण के अतिरिक्त अश्लिष्ट (उभयार्थसाधारण) पद तथा उपमागर्भ समास के द्वारा भी सम्भव है ।

(ब) उभयार्थ-साधारण शब्द के द्वारा (साधारण्येन) विशेषण-साम्य का उदाहरण है—

तन्वी मनोरमा बालाक्षी पुष्पहासिनी ।
विकासमेति सुभग ! भवद्दर्शनमात्रतः ॥ —अ० स० पृ० १०६ ।

[अयि सुन्दर, तुम्हारे दर्शन से ही वह तन्वी, मनोरमा, तरलनयना, पुष्पहासिनी बाला खिल उठती है]

इसमें 'बाला' का वर्णन प्रकृत है । उसी के लिए 'विकासमेति' का प्रयोग हुआ है । विकास नायिका का नही अपितु लता का होता है अतः लता में रहने वाले इस धर्म का उपचार से प्रकृतार्थ मे भी प्रयोग होता है । लतागत धर्म का नायिका के लिए यह औपचारिक प्रयोग तन्वी, मनोरमा आदि विशेषणो की सहायता से सहृदय को नायिका मे लता के व्यवहार की प्रतीति करा देता है । यदि इस विकास शब्द का, जो केवल अप्रकृत लता का ही धर्म है, प्रयोग न हो तो समासोक्ति होगी ही नही । अतः जहाँ भी साधारण्येन विशेषणसाम्य होता है वहाँ अप्रकृत के धर्म या कार्य का आरोप होना आवश्यक है ।[2] उपर्युक्त

---

१. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।

—का० प्र० पृ० २६३ । इसकी वृत्ति भी द्रष्टव्य है ।

२. तदेवं साधारण्येन समासोक्तिर्विशेषणसाम्ये सत्यपि अप्रकृतसम्बन्धिधर्म-कार्यसमारोपमन्तरेण तद्व्यवहारप्रतीतिर्न भवतीति सिद्धम् ।

—वि० पृ० ११० ।

पद्य में विकास-धर्म का समारोप है ।[1] कार्यसमारोप का उदाहरण है—

> विलिखति कुचावुच्चैर्गाढं करोति कचग्रहम्,
> लिखति ललिते वक्त्रे पत्रावलीमसमञ्जसाम् ।
> क्षितिप ! खदिरः श्रोणीबिम्बाद् विकर्षति चांशुकं,
> मरुभुवि हठात् त्रस्यन्तीनां तवारिमृगीदृशाम् ॥
> —अ० स० पृ० ११४ ।

[राजन्, मरुस्थल मे डरती हुई तुम्हारी शत्रु-स्त्रियो के स्तनो को खदिर वृक्ष जोर से खरोच रहा है, बालो को घसीट रहा है, सुन्दर मुख पर बेतुकी पत्ररचना बनाए डाल रहा है और कटितट से जबरन साड़ी खीचे जा रहा है]

यहाँ खदिर वृक्ष का वर्णन है । जिन कार्यों का वर्णन है उन्हे हठ नायक करता है अत. उसके कार्य के आरोप द्वारा प्रकृत उदाहरण से वृक्ष में हठनायक के व्यवहार की प्रतीति होती है । धर्म और कार्य के समारोप से होने वाली समासोक्ति में इन दोनो मे से किसी एक के आरोप के बिना अप्रकृतार्थ की प्रतीति नही होती । 'विलखति' आदि पदों का अर्थ एक ही है । अभिधा द्वारा केवल एक अर्थ का ही बोध हो सकता है अतः द्वितीय अर्थ की प्रतीति, नायक के धर्म का आरोप होने के नाते, व्यजना द्वारा ही हो सकती है । इन पदों में श्लेष नही है अत. दोनो अर्थ वाच्य नही हो सकते । 'विलिखति' आदि पदो मे मुख्यार्थ का बाध आदि भी नही है जिससे लक्षणा मानी जा सके फलतः व्यजना के द्वारा ही धर्म या कार्य का आरोप अप्रकृतार्थ की प्रतीति करा पाता है । श्लिष्ट-विशेषणसाम्य वाली समासोक्ति और साधारण्यनिबन्धना समासोक्ति में यही भेद है । प्रथम भेद में अप्रकृत के व्यवहार की साक्षात् प्रतीति हो जाती है तो दूसरे मे धर्म या कार्य का आरोप करने के बाद अप्रकृत-व्यवहार की प्रतीति होती है । अतः साधारण्य-निबन्धना समासोक्ति श्लिष्टनिबन्धना की अपेक्षा अस्फुट रहती है—

> इयं च समासोक्तिः पूर्वापेक्षयाऽस्पष्टा । —अ० स० पृ० ११० ।

(स) रुय्यक ने ऐसे स्थलो पर भी समासोक्ति मानी है जहाँ उपमागर्भ समास के द्वारा विशेषणसाम्य सम्भव है । उदाहरण के लिए—

---

१. विश्वनाथ भी इस मत से सहमत हैं पर जगन्नाथ ने इस मत की आलोचना की है । देखिए—रसग० पृ० ३७९-८० ।

दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा ॥ —अ० स० पृ० ११० ।

[फूलों-जैसी दन्तप्रभावाली, पल्लव-जैसे करों से सुशोभित, केश-पाश की भ्रमरावली से सुवेषा यह मृगनयनी है]

इस श्लोक में मृगाक्षी कामिनी का वर्णन है । अनेक विशेषणो मे से 'मृगाक्षी' एक विशेषण है । 'सुवेषा' शब्द प्रकृतार्थ को कामिनी-परक वर्णन में नियत कर देता है क्योंकि लता सुन्दर वस्त्र नही पहिनती, कामिनी ही पहिनती है अत: शेष पदो का पहले कामिनी-परक अर्थ ही लगाना पड़ता है । यद्यपि 'दन्तप्रभा-पुष्पचिता' आदि पदो मे 'दन्तप्रभा एव पुष्पाः तैश्चिता' यह रूपकसमास भी किया जा सकता है पर उपर्युक्त आधार पर पहले उपमागर्भ समास करना आवश्यक है । वह है—'दन्तप्रभा पुष्पाणीव' । उपमागर्भ समास से पद का एक अर्थ तो निकल आता है किन्तु विशेषणसाम्य के लिए दो अर्थ होने चाहिए अत: बाद मे हम इसी पद का मध्यमपदलोपि समास भी करते हैं; वह है—'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' । इस तरह एक ही विशेषण के दो अर्थ हो जाते हैं—एक है पुष्पो की भाँति दन्तप्रभावाली तथा दूसरा है दन्तप्रभा के समान पुष्प वाली । ये ही दो अर्थ क्रमश कामिनी (प्रकृत) और लता (अप्रकृत) की प्रतीति कराते हैं । यह विशेषणसाम्य न तो श्लेष पर आधारित है और न मनोरमा शब्द की तरह उभयार्थ-साधारण ही है अपितु वह उपमामूलकसमास पर आश्रित है अत इस प्रकार के विशेषणसाम्य को रुय्यक ने औपम्यगर्भ कहा है । उपर्युक्त उदाहरण का विवेचन करते हुए हमने यह देखा कि किस प्रकार कामिनी-परक 'सुवेषा' पद शेष सारे विशेषणो मे उपमा-समास करना आवश्यक या नियत कर देता है पर जहाँ एकार्थनियामक इस प्रकार का कोई विशेषण न हो वहाँ रुय्यक के अनुसार सकरसमास के आधार पर अप्रकृतार्थ की प्रतीति होगी । उदाहरण के लिए उपर्युक्त पद्य में यदि 'सुवेषा' के स्थान पर 'परीता' (व्याप्त) पाठ हो तो पाठक सन्देह मे पड़ेगा कि वह 'दन्तप्रभा पुष्पाणीव' यह उपमागर्भ समास करे या 'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि' यह रूपकगर्भ समास करे । स्वभावत: वह सन्देहसकर के आधार पर उपमासमास तथा रूपकसमास दोनों ही करेगा । प्रथम स्थिति में वह पहले की ही भाँति कहेगा 'दन्तप्रभा पुष्पाणीव' जिससे उसे प्रकृत अर्थ की प्रतीति होगी; और फिर मध्यमपदलोपिसमास 'दन्तप्रभा-सदृशैः पुष्पैश्चिता' करने पर अप्रकृत अर्थ लता (या उसके व्यवहार) की प्रतीति होगी । अप्रकृत के व्यवहार का प्रकृत पर आरोप होते ही अलंकारज्ञान में दक्ष

सहृदय उसे समासोक्ति समझ लेगा। अब सन्देह की दूसरी स्थिति को लें। इसमें रूपक के आधार पर पहला समास होगा 'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि' और फिर दूसरा समास 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' (पूर्वोक्त ही) होगा। इस प्रकार रूपक के आधार पर भी विशेषणसाम्य सम्भव है। एकदेशविवर्तिनी उपमा तथा संकर को लेकर आलंकारिको में मतभेद है। उद्भट रूपक को एकदेशविवर्ती मानते हैं पर वे उपमा तथा सकर को एकदेशविवर्ती नहीं मानते। रुद्रट तथा उन्ही का अनुसरण करनेवाले रुय्यक[1], उद्भट के विपरीत उपमा-सकर को भी रूपक की भाँति, एकदेशी भी मानते है। अब उद्भट के अनुसार सन्देहसंकर मे जहाँ उपमागर्भ समास होगा वहाँ एकदेशविवर्तिनी उपमा न मानने के नाते अगत्या समासोक्ति माननी होगी और रूपकगर्भ समास में एकदेशविवर्ति रूपक होगा क्योकि यह अलकारभेद दूसरे अलकारो का बाधक हो जाएगा और इस प्रकार रूपकसमास पर आधारित विशेषणसाम्य समासोक्ति का प्रयोजक न हो सकेगा।

रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रयणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम्। एकदेशविवर्तिरूपकमुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात्।[2]

—अ० स० पृ० ११०-१११।

अत. उद्भट तथा उनके इस मत के अनुयायियो के अनुसार औपम्यगर्भ समास मे समासोक्ति और रूपकगर्भ समास में एकदेशविवर्ति रूपक, यह व्यवस्था सम्भव है। पर जो आचार्य, जैसेकि रुद्रट तथा रुय्यक, एकदेशविवर्तिनी उपमा मानते हैं उनके अनुसार उपमासमास पर आधारित इस भेद मे एकदेशविवर्तिनी उपमा क्यों न मानी जाए? यदि विशेषण-साम्य के तत्त्व को लेकर ये आचार्य औपम्यगर्भ समास मे समासोक्ति मानना चाहते हैं तो इसी आधार पर रूपकगर्भ समास मे भी समासोक्ति क्यो न मानी जाए? जयरथ का उत्तर है कि केवल

1. देखिए—अ० स० पृ० ११७-१८।
2. न ह्युपमालंकारः संकरालंकारश्चैकदेशविवर्तित्वेन केनचिदनुशिष्टौ अतः स्वतन्त्रालंकारसंशयावन्यबाधकौ। रूपकं त्वेकदेशविवर्तितयानुशिष्टमन्य-बाधकममेव। अत एवंविधे विषये रूपकप्राप्तौ समासोक्तेरप्राप्तिः।

—सजी० पृ० १४१।

यह ध्यान रखना है कि रुय्यक तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती ने यह मत उद्भट का अनुवचन करने के लिए लिखा है, कम से कम इस मत को रुय्यक का समर्थन प्राप्त नहीं है।

औपम्यगर्भसमास और इस पर आधारित विशेषणसाम्य ही समासोक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है । जहाँ केवल औपम्यगर्भ समास ही सर्वस्व हो वहाँ तो एकदेश-विवर्तिनी उपमा ही होगी पर जहाँ समासोक्ति के अन्य तत्त्व भी, जो उसे उपमा से भिन्न अलकार बनाते हैं, विद्यमान हैं तो वहाँ औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य पर आधारित समासोक्ति अलंकार मानना उचित है ।

यतोऽस्त्येव तावदौपम्यगर्भविशेषणहेतुकत्वं समासोक्तेः । किन्त्वेतदन्य-भेदसहचरितमेवास्या निमित्ततां भजते न पुनः केवलम् । तथात्वे हि विशेषणा-नामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविवर्तिन्या उपमायाः प्राप्तिः । —वि० पृ० १११ ।

प्रतीतिभेद अलकार भेद का नियामक है । मेरी दृष्टि में औपम्य-समास मे व्यवहार-समारोप की प्रतीति साधारण सादृश्यप्रतीति से भिन्न है और वह अधिक चमत्कारिणी भी है । 'दन्तप्रभापुष्पचिता' इस पूरे पद्य से अप्रकृत व्यवहार की प्रकृत व्यवहार में प्रतीति अधिक बलवती है । रूपकसमास में आरोप-प्रतीति से अप्रकृत के व्यवहार की प्रतीति भी हो जाती है साथ ही आरोप में चमत्कार भी शेष रहता है । अतः रूपकगर्भ समास में रूपक तथा औपम्यगर्भ समास मे समासोक्ति मानना अधिक समीचीन है जैसाकि उद्भट, रुद्रट, रुय्यक तथा जयरथ का मत प्रतीत होता है । कतिपय आचार्यों का कथन है कि सकर-समास पर आश्रित समासोक्ति को उपमा तथा रूपक इन दोनो अलकारो के सन्देहसकर का उदाहरण क्यों न मान लिया जाए । सन्देहसकर का चमत्कार दो अलकारो की सन्दिह्यमानता मे है, पर जैसाकि अभी बताया गया है अप्रस्तुत की प्रतीति तथा विशेषणसाम्य के रहने पर उपमागर्भ समास में व्यवहार-समारोप की तथा रूपक-गर्भ समास में आरोप की उत्कटतया प्रतीति होती है अत. सन्दिह्यमानता का तत्त्व न रहने के नाते ऐसे स्थलों में उपमारूपक का सन्देह-सकर मानना तर्कहीन है । विमर्शिनी के अनुसार अलकारसार के लेखक का भी यही मत प्रतीत होता है ।[1]

समासोक्ति के सभी उदाहरणो में प्रकृत के अतिरिक्त अप्रकृत की प्रतीति होती है । वह अप्रकृत अर्थ व्यंग्य होता है, न तो वाच्य होता है और न लक्ष्य । समासोक्ति का अप्रकृत व्यग्यार्थ वाच्यार्थ का केवल उपस्कारक होता है । 'उपोढरागेण विलोलतारकम्...' समासोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण में अप्रस्तुत

१. न चैवमादावुपमारूपकयोः सन्देहसंकरो न्याय्यः । तस्यालंकारसारकारा-दिभिर्निराकृतत्वात् । —वि० पृ० ११३ ।

नायक का व्यवहार स्वतः चमत्कार का कारण नहीं होता पर वह प्रस्तुत चन्द्र-व्यवहार पर आरोपित होकर उसे एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। यह नवीन विच्छित्ति ही चमत्कार का कारण है। समासोक्ति मे अप्रस्तुत व्यवहार की प्रतीयमानता प्रस्तुत व्यवहार मे चमत्कार का आधान कर उस अप्रस्तुत व्यवहार को ही हमारे चमत्कार का केन्द्रबिन्दु बना देती है। अतः कवि की अभिव्यजना विशिष्ट अभिधान की ओर होती है न कि अभिधान से अतिरिक्त प्रतीयमान के चमत्कार को उल्लमित करने की। अस्तु, प्रतीयमान की विच्छित्ति रहने पर भी समासोक्ति के उदाहरणो को ध्वनि के उदाहरण नही माना जा सकता। ध्वनि से उपस्कृत यह अलकार काव्य का अनुपम शिल्प बन जाता है।

भेद

विशेषणसाम्य के आधार पर अभी तक समासोक्ति के पाँच भेदों की चर्चा की जा चुकी है जिनका तालिकारूप इस प्रकार होगा—

विशेषणसाम्य-निबन्धना समासोक्ति

- श्लिष्टविशेषण १
- अश्लिष्टविशेषण
  - धर्मसमारोप २
  - कार्यसमारोप ३
- औपम्यगर्भविशेषण
  - उपमागर्भसमास ४
  - या सकर-समास से ५

रुय्यक के अनुसार समासोक्ति के तीन मूल भेद हैं—

(क) शुद्धकार्यसमारोपा समासोक्ति,

(ख) विशेषणसाम्यमूला समासोक्ति, तथा

(ग) कार्यविशेषणसाम्यमूला समासोक्ति।

प्रथम का उदाहरण 'विन्निखति कुचावुच्चैः' इत्यादि पिछले पृष्ठों मे दिया जा चुका है। वहाँ मैंने यह संकेत किया था कि किस प्रकार कार्य तथा धर्म सभी को विशेषण के व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। विशेषण शब्द प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ के धर्मों का सूचक है। ये धर्म कार्य तथा गुण आदि के रूप मे होते हैं अतः कार्य शब्द का विशेषण शब्द से पृथक् निर्देश अनावश्यक है। अधिक से अधिक हम इन दोनो में यही भेद कर सकते है कि कार्य-समारोप में विशेषणसाम्य उपचरित होता है और वैसे अनुपचरित। रुय्यक ने भी इसका

एक स्थल पर निर्देश किया है।[1] शोभाकर शुद्धकार्य और विशेषण में यह भेद मानने को तैयार नही है।[2] वे शुद्ध कार्य को भी तत्त्वत. विशेषण ही मानते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार 'विक्षिखति कुचावुच्चैः' में शुद्धकार्यसमारोपा समासोक्ति ही मानना चाहिए। वस्तुत· विशेषण शब्द का व्यापक अर्थ—'स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम्' ही लेना चाहिए; इसीलिए मैं शोभाकर से भी सहमत हूँ। विश्वनाथ ने कार्य और विशेषण के अतिरिक्त लिंगसाम्य से समासोक्ति मानी है। यह भी अनुचित है क्योंकि स्वय लिंग अप्रस्तुत वस्तु का व्यजक नही होता। केवल निशा कहने से नायिका की प्रतीति नही होती और न चन्द्र कहने से नायक की। उनकी प्रतीति कराने के लिए विशेषणसाम्य ही प्रधान आधार है अत· विश्वनाथ की समासोक्ति-परिभाषा सदोष है।[3]

द्वितीय भेद (विशेषणसाम्य-निबन्धना समासोक्ति) के पाँच अवान्तर भेदों की तालिका ऊपर दी गई है। अन्तिम भेद कार्य-विशेषणसाम्यमूला समासोक्ति को लेकर समासोक्ति के सात भेद किए गए हैं। रुय्यक ने उन भेदो के कही लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु का, कही शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का, कही लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय का तथा कही शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक वस्तु के व्यवहार-समारोप के आधार पर अन्य अवान्तर भेद भी किए हैं। लौकिक वस्तु जाति, गुण आदि, तथा स्थावर, जगम और भावाभाव के रूप में तथा शास्त्र के आगम, तर्क, आयुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र, नाटयशास्त्र, साहित्यशास्त्र (रुय्यक ने इन्हे भरतादिशास्त्र की सज्ञा दी है) आदि के रूप में अनेक भेद हैं और इस प्रकार समासोक्ति के अनेक भेद सम्भव हैं।

तदेवं बहुप्रकारा समासोक्तिः। —अ० स० पृ० ११३।

तत्रापि लोकस्य स्थावरजंगमात्मनोऽनन्तत्वात् शास्त्राणां चेयत्तानन्त्यमस्याः। —अ० र० पृ० ७१।

इन भेदों के अतिरिक्त, समासोक्ति अर्थान्तरन्यास के अनुसार कहीं समर्थ्य वाक्य में और कही समर्थक वाक्य में हो सकती है। कभी वह उत्प्रेक्षा से

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ११६।

२. देखिए—अ० र० पृ० ७२।

३. तथा देखिए—अलंकारकौस्तुभ, 'व्यंजकं हि तत्र...तदापत्तेः'—पृ० २५६।

उत्थापित होती है। वस्तुतः इन अवान्तर भेदों के आधार पर गणना करना भी कठिन है—

एवमियं समासोक्तिरनन्तप्रपंचेत्यनया दिशा स्वयमुत्प्रेक्ष्या।

—अ० स० पृ० १२०।

इन सभी भेदों का निर्देश चिरन्तन आचार्यों में नहीं मिलता। मम्मट ने केवल एक ही उदाहरण दिया है, वह श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति का है। शोभाकर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों ने रुय्यक की भेदव्यवस्था का अनुसरण कर, शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय या लौकिक वस्तु के व्यवहार-समारोप आदि भेदो का सोदाहरण विवेचन किया है। 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा' जैसे उदाहरणो में जो सहज काव्य-सौन्दर्य है वह आयुर्वेद, मीमांसा, तर्कशास्त्र जैसे शास्त्रों के विषय का समारोप करने में नही है। शास्त्रीय वस्तु आदि के व्यवहार-समारोप में पाठक को व्याकरण और तर्क के नियम और न्याय ही समझने में अपनी सारी बुद्धि खपा देनी पड़ेगी। कवि को भी शब्द खोजने का व्यायाम करना पडेगा परिणामतः यह स्वभाविक है कि अलकार में सहज बोधशीलता न रहेगी। अतः मेरी दृष्टि में तो इन भेदो को मान्यता देना उचित नही है। पर सस्कृत के अलंकारशास्त्री तो कवि को कवि ही नही अपितु पण्डित भी देखना चाहते हैं। वे कविता-कला में सब कुछ पाना चाहते हैं। तभी तो प्रथम साहित्यशास्त्री कहता है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥

—भामहालंकार, ५।४।

संस्कृत का और उसके पाठक का बोझा सचमुच बहुत भारी है!

उपमामूलक अलंकार : अर्थान्तरन्यास[1]

इस अलंकार का प्रारम्भ भी भामह से प्राप्त होता है, उन्होंने इसका निम्नलिखित लक्षण दिया है—

उपन्यसनमर्थस्य यदर्थस्योदिताद्दते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥

—भामहालंकार, २।७१।

यौगिकार्थ पर आधारित भामह के इस लक्षण में यह सकेतित नही है कि इस अलकार के दो अर्थों में परस्पर सामान्य-विशेषभाव होता है। हाँ, इसमें यह अवश्य प्रतिपादित है कि अर्थान्तर प्रथम अर्थ से भिन्न होता है (उदिताद्दते) साथ ही इससे सम्बद्ध या अनुगत होता है। यह अनुगम दो अर्थों में सादृश्य के कारण सम्भव है तथा दोनो मे किसी एक सम्बन्ध का भी परिचायक है जो सामान्यविशेषरूप भी हो सकता है। दण्डी ने इस सम्बध को साध्य-साधन-भावरूप माना है अत कमसे कम उन्होंने इस बात के लिए अधिक सन्देह नहीं रहने दिया है कि वे अर्थान्तरन्यास के सम्बन्ध को अनुमान की तरह साध्य-साधनरूप मानते थे, सम्भवत. सामान्यविशेषरूप नही। धूम और वह्नि का

---

१. समासोक्ति के बाद रुय्यक की सादृश्यमूलक सूची में परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप अलंकार भी आते हैं। इन अलंकारों की चर्चा इसी पुस्तक मे अन्यत्र (पृ० ११५-१८ आदि में) की जा चुकी है अतः विस्तार से बचने के लिए उपर्युक्त अलंकारों के सम्बन्ध में पृथग् रूप से विशिष्ट मीमांसा हम नही दे रहे हैं। परिकर, श्लेष के सभी रूप और आक्षेप को उपमानुप्राणित मानना भी कदाचित् उचित नहीं है। अर्थान्तरन्यास के सम्बन्ध में भी विवाद रहा है कि इसे सादृश्यमूलक माना जाए या नहीं, कार्यकारणभाव पर आश्रित भेद को उपमामूलक मानना कदाचित् सम्भव नहीं है। इस पूरे संदर्भ के लिए तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है। हम यहाँ उस विवाद को न उठाकर इस अलंकार की मीमांसा प्रस्तुत कर रहे हैं। अर्थान्तरन्यास की उपमामूलकता के लिए देखिए—उपमा कालिदासस्य, पृ० ६५।

सम्बन्ध साधन और साध्य का अवश्य है पर सामान्यविशेषभाव का नहीं । हाँ, उनके लक्षण[1] में आए साधन शब्द का यदि 'समर्थक' अर्थ करें तो दूसरी बात है । मल्लिनाथ ने मेघदूत की टीका में दण्डी के ही लक्षण का उल्लेख किया है और वे उससे समर्थ्य-समर्थकभाव का ही अर्थ निकालते प्रतीत होते हैं । दण्डी ने इसके आठ भेद किए थे जो परवर्ती आलकारिक-परम्परा को स्वीकार न हो सके ।[2]

उद्भट ही ऐसे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने स्पष्टत समर्थ्य-समर्थक-भाव के आधार पर अर्थान्तरन्यास का लक्षण और उसका अप्रस्तुतप्रशंसा तथा दृष्टान्त से भेद प्रस्तुत किया है—

समर्थकस्य पूर्वं यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः ।
विपर्ययेण वा यत्स्याद्धिशब्दोक्त्याऽन्यथापि वा ।।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः प्रकृतार्थसमर्थनात् ।
अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थितिः ।।

—का० अ० सं० २।६-७ ।

आगे चलकर वामन ने अलकार-सूत्र (४।१।२१) की वृत्ति मे यह स्पष्ट कर दिया कि उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए ही दूसरी वस्तु या वाक्यार्थ का उपन्यास होता है; हेतु का उपन्यास इस अलकार का घटक नही है ।[3] रुद्रट ने सर्वप्रथम यह बताया कि धर्मी अर्थ-विशेष अथवा सामान्य का अभिधान कर उसकी सिद्धि के लिए दूसरे सधर्मी का उपन्यास अर्थान्तरन्यास है ।[4] इन्होंने इस अलकार की उपमामूलकता का तथा सामान्यविशेषभाव सम्बन्ध का निर्देश स्पष्टत. सर्वप्रथम किया है । उद्भट ने अर्थान्तर को समर्थक बताया था तो

१. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ।। —काव्यादर्श, २।१६९ ।

२. दण्डी ने इन भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है—
विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धो विरोधवान् ।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तविपर्ययः ।। —वहीं, २।१७० ।

३. उक्तसिद्ध्यै उक्तस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थे वस्तुनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः । वस्तुग्रहणादर्थस्य हेतोर्न्यसनं नार्थान्तरन्यासः ।
—का० अ० सू० ४।३।२१ पर वृत्ति ।

४. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै ।
यत्सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः ।।—काव्यालंकार, ८।७९ ।

कुन्तक ने उसी के लिए 'समर्पक' शब्द का प्रयोग किया तथा दो अर्थों में इस सम्बन्ध का आधार मुख्य और तात्पर्य का साम्य माना।[1] इनके अनुसार प्रथम अर्थ मुख्य होता है और अर्थान्तर उसका तात्पर्यार्थ होता है। प्रथम 'समर्थ्य' (भामह-दण्डी के अनुसार 'साध्य', उद्भट के अनुसार 'समर्थ्य' और रुद्रट के अनुसार धर्मी) तो दूसरा 'समर्पक' या दूसरे आचार्यों के शब्दो में कहें तो साधक, समर्थक या सधर्मी। सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने भी दो तथ्य स्पष्टत दिए हैं—एक तो यह कि अर्थान्तर द्वारा समर्थन साधर्म्य की विधा से हो सकता है और वैधर्म्य की विधा से भी और दूसरा यह कि समर्थक वाक्य का पहले या बाद में उपन्यास हो सकता है।[2]

अपने लक्षण[3] मे मम्मट ने एक अर्थ सामान्य होता है और दूसरा विशेष तथा साधर्म्य एवं वैधर्म्य से समर्थन होता है, यह स्पष्टत लिखकर अर्थान्तरन्यास में सामान्यविशेषभाव तथा समर्थ्य-समर्थकभाव इन दोनो की ही चर्चा की है। अस्तु, यह है रुय्यक से पूर्व तक इस अलंकार के स्वरूप का इतिहास।

रुय्यक ने न केवल सामान्यविशेषभाव अपितु कार्यकारणभाव होने पर भी प्रकृत के समर्थन में अर्थान्तरन्यास माना है—

सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।
--अ० स० पृ० १३९।

अप्रस्तुतप्रशसा की भाँति, अर्थान्तरन्यास को रुय्यक ने कार्यकारणभाव रहने पर भी माना है। उनके टीकाकार जयरथ इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। जहाँ दो अर्थों मे कार्यकारणभाव हैं वहाँ काव्यलिंग[4] अलकार ही मानना

---

१. वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो यः समर्पकतयाहितः॥ —व० जी० पृ० २१३।

२. स उपन्यस्तवस्तूनां साधर्म्येण च कथ्यते।
वैधर्म्येण च विद्वद्भिर्वैपरीत्येन कुत्रचित्॥ —सरस्वती० ४।६८।

३. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥ —का० प्र० १०।२३।

४. रुय्यक के अनुसार हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ होना काव्यलिंग है। जहाँ हेतु का निबन्धन वाक्यार्थ के रूप में हो वहाँ वाक्यार्थ को ही हेतुरूप होना चाहिए। देखिए—अ० स० पृ० १८१।

ठीक है अतः कार्यकारणभाव पर आधारित दो भेदों को अर्थान्तरन्यास का नहीं मानना चाहिए। यह जयरथ का मत है।[1] इसी का अनुगमन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है। मम्मट ने भी अर्थान्तरन्यास को सामान्यविशेषभाव तक ही सीमित रखा था। रुय्यक ने स्वयं अर्थान्तरन्यास और काव्यलिंग का भेद स्पष्ट किया है। इनके अनुसार जहाँ हेतु का उपन्यास हेतुरूप में ही वाक्यार्थ में होता है अर्थात् जहाँ उपनिबद्ध अर्थ हेतु नही बनता है वहाँ काव्यलिंग होता है अन्यथा अर्थान्तरन्यास।[2] श्रीविद्याचक्रवर्ती के शब्दो में अर्थान्तरन्यास मे समर्थन अर्थतः उपलब्ध होता है किन्तु काव्यलिंग में यह समर्थन शब्दतः प्राप्त होता है—

अर्थान्तरन्यासे हि अर्थात् प्रकृतसमर्थनम्। इह तु शब्दत इति विभागः।
—सजी० पृ० १६६।

इन दो अलकारो तथा अनुमान का एक दूसरे से भेद हम दो भिन्न प्रकार की प्रतीतियों के विश्लेषण से भी कर सकते है। एक प्रतीति प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव की होती है और दूसरी समर्थ्य-समर्थकभाव की। जहाँ अप्रतीत (अननुभूत और अज्ञात) अर्थ का दूसरे अर्थ द्वारा प्रत्यायन (ज्ञापन) होता है वहाँ एक अर्थ प्रत्याय्य (प्रतीति कराने योग्य) होता है और दूसरा अर्थ प्रत्यायक या ज्ञापक होता है। इन दो अर्थों के इस सम्बन्ध को प्रत्याय्य-प्रत्यायक-भाव कहा जाता है। इसके विपरीत जहाँ अर्थ पूर्वतः प्रतीत होता है और उसका प्रत्यायन दूसरा अर्थ कराता है तो उनमें एक अर्थ समर्थ्य और दूसरा समर्थक होता है अत इस स्थिति में समर्थ्य-समर्थक-भाव होता है। जहाँ भी अप्रतीत का प्रत्यायन होगा वहाँ सदा अनुमान अलंकार होगा। समर्थ्य-समर्थक-भाव की स्थिति में कहीं तो कारणरूप या कार्यरूप पदार्थ या वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष होंगे अथवा तटस्थ। हेतु के सापेक्ष और हेतुरूप मे ही उपन्यास रहने पर काव्यलिग होगा और तटस्थ वाक्यार्थ के हेतु बन जाने की स्थिति में

१. कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिंगत्वं ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम्॥
—वि० पृ० १३९।

२. वाक्यार्थगत्या च निबध्यमानो हेतुत्वेनैवोपनिबद्धव्यः, नोपनिबद्धस्य हेतुत्वम्। अन्यथार्थान्तरन्यासाम्नास्य भेदः स्यात्। —अ० स० पृ० १८१।

अर्थान्तरन्यास।[1]

कार्यकारणभाव पर आश्रित अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग के भेद का यह विवेचन दोनों के एक-एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है—

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां,
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां,
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥

—अ० स० पृ० १४०।

[अयि भूमि! स्थिर रहो। शेषनाग! तुम इसे सम्भाले रहो। कूर्मराज! तुम इन दोनो को सम्भाल लो। दिग्गजो! इन तीनों को सम्भालने का तुम सब मनसूबा बाँध लो। भगवान् राम शिव का धनुष चढाने जा रहे हैं] यहाँ अन्तिम वाक्य—'भगवान् राम शिव-धनुष चढ़ाने जाने जा रहे हैं'—प्रथम तीन अर्थों का कारण बन गया है, यद्यपि कारण के रूप में उसका उपनिबन्धन नही है। यह कारण समर्थक है और जिन कार्यों का श्लोक के प्रथम तीन चरणों में वर्णन हुआ है वे समर्थ्य हैं। और काव्यलिंग का उदाहरण होगा—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरे
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता—
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥

—अ० स० पृ० १८२।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० १८६-८७। इस बात का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि उद्भट आदि प्राचीन आचार्य काव्यलिंग का वही स्वरूप मानते थे जो रुय्यक ने कार्यकारणभाव पर आश्रित अर्थान्तरन्यास का माना है। यह बात उद्भट के काव्यलिंग के निम्नांकित लक्षण से स्पष्ट हो जाएगी—

श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते॥

उद्भट के अनुसार काव्यलिंग में अर्थ का हेतुरूप में उपन्यास नहीं होता अपितु उपन्यस्त अर्थ ही हेतुरूपता को प्राप्त कर लेता है, जहाँ हेतुरूप में ही शब्द उपन्यास होता है वहाँ वे कोई भी अलंकार न मानेंगे।

[यह जो तुम्हारे नेत्रों-सी कान्तिवाला नीलकमल है वह जल में डूबा हुआ है। तुम्हारी मुख-कान्ति का अनुकरण करने वाले चन्द्र को प्रेयसि ! बादलो ने छिपा लिया है। और वे राजहस भी जो तुम्हारी गति का अनुसरण करते थे (वर्षा के कारण मानसरोवर की ओर) चले गए। तुम से सदृश के साथ विनोद भी विधाता को नही भाता है]

इस पद्य के प्रथम तीन चरणों का अर्थ चतुर्थ चरण के अर्थ के लिए हेतुरूप में उपन्यस्त है। नीलकमल का जल मे डूबना, चन्द्र का छिपना और राजहसों का चला जाना अन्तिम वाक्यार्थ के हेतुरूप हैं—अन्तिम वाक्यार्थ की उपपत्ति प्रथम तीन वाक्यार्थ से है। सहृय को यहाँ यह प्रतीति होती है कि चूकि नील-कमल आदि छुप गए हैं अत. लगता है कि विधाता को यह स्वीकार नही है कि विरही अपना मन प्रेयसी के सादृश्य को देखकर भी बहला सके। स्पष्ट है कि प्रथम तीन वाक्यार्थ अन्तिम के प्रति सापेक्ष हैं।

अस्तु, जहाँ दो अर्थों में सामान्यविशेषभाव या कार्यकारणभाव होता है, जो वाच्य होता है और जिसके द्वारा प्रकृत का समर्थन होता है अर्थात् ये सम्बन्ध जहाँ अन्तत. समर्थ्य-समर्थकभाव में पर्यवसित होते हैं वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। समर्थन सदा प्रकृत का होता है और समर्थक सदा अप्रकृत होता है। इनमें से कोई भी सामान्य या विशेष अथवा कारण या कार्य हो सकता है। रसगगाधर के अनुसार यह भी सम्भव है कि समर्थ्य तथा समर्थक दोनो ही प्रकृत हो। निष्कर्ष यह कि समर्थ्य-समर्थक-भाव ही इस अलकार का जीवित है। यह भाव दो अर्थों में हो सकता है जो या तो सामान्यविशेषरूप होगे या कार्य-कारणरूप। सामान्य विशेष के विना और विशेष सामान्य के विना सम्भव नहीं है अतः जिन अर्थों में सामान्य-विशेषभाव होता है वहाँ समर्थ्य-समर्थकभाव वास्तविक, स्वाभाविक या युक्तियुक्त है। पर ऐसी दो वस्तुओ में जो या तो वस्तु-प्रतिवस्तुरूप हैं या बिम्बप्रतिबिम्बरूप एक का समर्थ्य और दूसरे का समर्थक होना निश्चित और निर्णीत नहीं है। अतः प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त में समर्थन का अंश रहने पर भी वह सम्भावनात्मक ही होता है, निश्चित या वास्तविक नहीं। पुनश्च अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ (चाहें वे सामान्य-विशेष हों या कार्यकारण) वाच्य होते हैं पर अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत ही एकमात्र वाच्य होता है, प्रस्तुत सदा गम्य रहता है। दृष्टान्त में दोनों अर्थ वाच्य तो अवश्य होते हैं पर वे कभी कार्यकारणरूप या सामान्य-विशेष न होकर सदा सरूप होते हैं।

शोभाकर ने सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन (दार्ष्टान्तोपादान) में ही अर्थान्तरन्यास अलंकार माना है। कार्यकारण के उपादान होने पर वे हेतु अलंकार मानते हैं और जहाँ विशेष सामान्य की प्रतीति को विशद बनाता है वहाँ वे उदाहरण अलकार मानते हैं।[1]

भेद

रुय्यक ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेद माने हैं—(१) सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन, (२) विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन, (३) कारण का कार्य द्वारा समर्थन, (४) कार्य का कारण द्वारा समर्थन। ये चार भेद साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर आठ प्रकार के हो जाते हैं। 'हि' शब्द के प्रयोग या अप्रयोग तथा समर्थक वाक्य का समर्थ्य वाक्य से पहिले या बाद में उपन्यास के आधार पर उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने जो भेद बताए थे उनकी गणना रुय्यक ने उचित नही समझी है क्योकि उनके अनुसार इस प्रकार के भेदो मे कोई अधिक चारुता या वैचित्र्य नही होता है।[2] शोभाकर अर्थान्तरन्यास को चार ही प्रकार का मानते है। उनके अनुसार विशेष का सामान्य द्वारा साधर्म्य और वैधर्म्य से समर्थन दो भेद हैं और 'हि' शब्द के उपादान अथवा अनुपादान से ये भेद चार हो जाते हैं। 'हि' आदि शब्दों का उपादान होने पर अर्थान्तरन्यास शाब्द अन्यथा आर्थ होता है। यह है शोभाकर का मत जो परवर्ती आचार्यों को मान्य न हो सका। कार्यकारणभाव-मूलक भेदो को तो कुछ आचार्यों, जैसेकि पण्डितराज जगन्नाथ, ने नही स्वीकार किया पर वैसे रुय्यक का ही विश्वनाथ आदि ने विशेषत. अनुसरण किया है।

मेघदूत के अर्थान्तरन्यास[3]

महाकवि कालिदास का मेघदूत सस्कृत-साहित्य में बेजोड है। उसका उपमान न पहले था, और न बाद मे पाया जाता है। हाँ, उसके अनुकार अवश्य हैं—पवनदूत, हसदूत, आदि। पश्चिम मे भी उसके अनुकार हुए हैं

१. देखिए—अ० र० पृ० १२९-३०।

२. देखिए—अ० स० पृ० १३६, १४१।

३. कालिदास द्वारा अन्य काव्यों में अर्थान्तरन्यास के कुछेक उदाहरणों के लिए देखिए—उपमा कालिदासस्य, पृ० ६६-६८।

किन्तु उसके समान कोई नहीं है। कल्पना की सुकुमारता और नवीनता में, प्रकृति, पुरुष और प्रणय के त्रिवेणीसंगम की भावुक वर्णना में यह गीतकाव्य, संस्कृत का प्रथम और अनुपम भावोच्छ्वास, आजतक नवीन बना हुआ है। वस्तुतः कविहृदय की भावभूमि का रागात्मक स्पन्दन होने के नाते यह जितना काल्पनिक है उतना ही वास्तविक भी है। कल्पना और अनुभूतिगत तीव्रता की वास्तविकता का क्षितिज इसमें इतना पास है कि कल्पना और यथार्थ का अन्तर ही नहीं मालूम हो पाता। इस कार्य के लिए कालिदास ने जिस शिल्प-विधान का आश्रय लिया है वह एक अर्थान्तरन्यास अलकार है। उपमा के सौष्ठव का धनी महाकवि जिसके प्रत्येक पद में मधुपाक है, और जिसे अपनी अलकृत अभिव्यक्ति के लिए उपमा का छोटा सा फलक पर्याप्त उपकरण प्रतीत हुआ था, और है भी, वह अर्थान्तरन्यास के लिए आवश्यक एक विशाल फलक का सहारा ले, यह स्वतः कम आश्चर्यजनक नही है।

मेघदूत में लगभग एकसौ बीस श्लोक हैं मन्दाक्रान्ता के विशाल वितान में। उसमे प्रायः इक्कीस बार अर्थान्तरन्यास का प्रयोग है जिनमे से ६ बार दो चरणो में तथा शेष पन्द्रह बार एक-एक पूरे चरण मे। इसका अर्थ है कि अर्थान्तरन्यास के माध्यम से अभिव्यक्ति के लिए शब्दशिल्पी कालिदास ने प्रायः २७ चरणों का प्रयोग किया है—एक ऐसे छोटे से काव्य (संस्कृत अलंकारशास्त्र की दृष्टि से इसे खण्डकाव्य कहेंगे) मे जिसमें केवल १२० श्लोक हैं।

अर्थान्तरन्यास अलकार समर्थन का समर्थ माध्यम है यह इसके स्वरूप-विश्लेषण से स्पष्ट किया जा चुका है। किसी वस्तु के समर्थन में समर्थक का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता है। उसकी धारणा, मान्यता और चिन्तना व्यक्तित्व की विभा लेकर अवतरित होती है। इस बात का महत्त्व तब और भी बढ जाता है जबकि कालिदास गीति-काव्य में (जिसे कवि के व्यक्तित्व तथा उसके तीव्र मानसिक उद्वेग का काव्य कहा जाता है) इसका प्रयोग करते हैं। और वह भी बहुत बार। अर्थान्तरन्यास का किन स्थितियों मे कवि ने मेघदूत में प्रयोग किया है और उससे कहाँ तक हम कवि-व्यक्तित्व के निकट पहुंच पाते है, यह जानने का सबसे सुन्दर माध्यम अर्थान्तरन्यास के प्रयोगों का विश्लेषण होगा।

विरही यक्ष (यह यक्ष भी 'कश्चित्' है और साथ ही 'अस्तंगमितमहिमा' अतः यक्ष होने पर भी वह किसी भी साधारण विरही से अधिक महिमाशाली नहीं

है) आषाढ़ के प्रथम दिन मेघ को देखकर उन्मना हो उठता है ; मेघ के आलोक मे तो सुखी भी उन्मना हो जाता है प्रेयसी से दूर रहने पर उसकी क्या हालत होती होगी[1] जो विषयास्वाद से परिचित है[2] पर पराधीन है, विवश है दूर रहने के लिए[3] । विषयवस्तु का यह उपन्यास कालिदास ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से किया है । इसमें राजराज कुबेर के अनुचर यक्ष के अन्तर्बाष्प होकर ध्यान करने (विशेष-प्रकृत) का समर्थन अवश्य है पर एक ऐसे सामान्यरूप तथा अप्रकृत से जिसे केवल सामान्यरूप तथा अप्रकृत कहना कठिन होगा, क्योंकि पूरा का पूरा अर्थान्तिर प्रधान विषय का भी निर्देश करता है—मेघ की उपस्थिति, प्रियतमा से विछोह आदि का प्रकृत वर्णन से भी पूर्णतः सम्बन्ध है ।

मेघ को दूत बनाना कितना विचित्र है, कितनी विचित्र कल्पना है, कितनी अवैज्ञानिक ? पर हर कामी इस प्रकार के अपराध करता है । दार्शनिक की भाँति *या ब्रह्मवादी की भाँति, वह चेतन और अचेतन में भेद ही नहीं* कर पाता । अनुभूति की इसी तीव्रता ने मेघ को दूत बना पाया था—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु । —१।५ ।

अर्थान्तरन्यास के इसी प्रयोग में मेघ को दूत बनाने की कल्पना का समस्त स्वारस्य छिपा पड़ा है। अर्थात् मेघ को दूत बनाने का प्रारम्भ और उसका इस रूप मे काव्यत्व इसी अर्थान्तिरन्यास के प्रयोग में है । यही से काव्य का वास्तविक प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व पात्र का परिचय भर था। और इस काव्य का वास्तविक अन्त भी अर्थान्तरन्यास मे ही है । जब यक्ष अपनी सब सुना चुका, मेघ ने सब कुछ सुन ली अब यदि मेघ उत्तर भी दे दें, उसमें वाक्-शक्ति भी कवि भर दे तो फिर असम्भव और सम्भव का भेद ही क्या होगा ? यह ठीक है कि कामी की दृष्टि में मेघ चेतन है पर क्या कवि के लिए भी यह उचित होगा कि उससे उत्तर में कुछ कहला दे । क्या किया जाए ? साधारण कवि शायद कुछ उत्तर दिलवा भी देता । हुआ भी यही,

---

१. मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे । —१।३ ।

२. ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः । —१।४४ ।

३. कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां,
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ।—१।८।

क्योंकि प्रक्षिप्त श्लोक इस बात के प्रमाण हैं कि एक साधारण कवि बहक गया और उसने मेघ को वाणी दे दी—'तद्गेहिन्याः सकलमवदत् कामरूपी पयोद:'। पर कालिदास ने उस भोंडी अस्वाभाविकता को अर्थान्तरन्यास से बड़ी चातुरी से बचाया है। केवल इतना भर कहा—

'निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥—२।५४

सज्जन का वास्तविक उत्तर तो कार्य करके दिखाना है। सज्जनों की इसी उदारता, उत्तम प्रकृति तथा उदात्तता, मित्र और सुहृत की उपकारपरायणता पर ही यक्ष को महान् विश्वास है, मेघ के ये ही सहज आश्रय हैं, विपद में सहारे के लिए और भविष्य में आशा के लिए कवि के भी ये ही अवलम्ब हैं क्योंकि उसे छोटों या ओछों से तो कुछ माँगना नहीं है। इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिये कवि ने अनेक बार अर्थान्तरन्यास का आश्रय लिया हैं।[1] कौन जाने मेघदूत लिखते समय कवि की विपन्नावस्था रही हो जो सदा नहीं रहती है,[2] जिसमें उसे मित्र का आश्रय लेना पड़ा हो और भविष्य में खोए सरक्षण को पुनः प्राप्त करने की बलवती आशा और विश्वास हो जिसे व्यक्त करने के लिए अर्थान्तरन्यासो का कवि ने माध्यम अपनाया है। यह तो निश्चित है कि मेघदूत का कवि निराश भले ही न हो पर रिक्त अवश्य था[3] उसके प्रयत्न को एकबार ठोकर मिली थी[4] और भारत के इस कमल (कवि) की वह सहज

---

१. (क) याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा। —१।६।
(ख) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।—१।१७।
(ग) सद्भावार्द्रः फलति नचिरेणोपकारो महत्सु। —१।१६ (अ)।
सम्भवत: प्रक्षिप्त।
(घ) मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः। —१।४१।
(ङ) आपन्नार्तिप्रशमनफला सम्पदो ह्युत्तमानाम्। —१।५६।

२. कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ —२।४६।

३. रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय। —१।२०।

४. के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः। —१।५७।

शोभा नहीं रह गई थी, जो सूर्य के हट जाने पर स्वतः नष्ट हो जाती है।[1]

मेघदूत के कवि ने अर्थान्तरन्यास का प्रयोग नारी के प्रेमी हृदय की सुकुमारता, वियोग में उसके हृदय की विह्वलता, विलास से प्रेम को प्रदर्शित करने की रीति तथा वियोग में मन बहलाने की विधियों को बताने के लिए भी किया है। इस संदर्भ के तीन अर्थान्तरन्यास इस प्रकार हैं—

(१) आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।—१।६।

(२) स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु।—१।२६।

(३) प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः। —२।२७।

अन्तिम अर्थान्तरन्यास (२।२७) की यह विशेषता है कि वह तीन श्लोकों के लिए (जिसे संस्कृत में विशेषक कहते है—त्रिभिः श्लोकैः विशेषकम्) आया है। इस अलंकार के इस प्रकार के प्रयोग के सम्बन्ध में सभी साहित्य-शास्त्री मौन हैं।

प्रेम का मार्ग अनोखा है। सच्चे प्रेम के लिए कालिदास के अनुसार शरीर-सम्बन्ध का महत्त्व नहीं है। इसलिए इस कवि ने प्रेम का परिपाक तपस्या में माना है। कुमारसम्भव की पार्वती को अपर्णा बनने के बाद शंकर की प्राप्ति हुई, शकुन्तला को तपोवन के बाद पुनः मारीच आश्रम मे जाकर 'नियमक्षाममुखी, धृतैकवेणिः' का स्वरूप धारण करना पड़ा क्योंकि उसने प्रेम की तन्मयता मे अतिथि-कर्तव्य को भुला दिया था। यक्ष भी अपना कर्तव्य भूल बैठा था, उसे भी शाप मिला, विरह हुआ। पर विरह से प्रेम नष्ट नहीं होता अपितु सहज स्नेह या आकर्षण प्रेमराशि बन जाता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।—२।५२।

इस प्रकार कर्तव्य से मर्यादित तपःपूत प्रेम का यह स्वरूप कवि ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से स्पष्ट किया है जिसमें पूर्वपक्ष भी है और सिद्धान्त भी।

---

१. सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्। —२।२०।
मल्लिनाथ अथवा दूसरे टीकाकारों ने इसमें अर्थान्तरन्यास का निर्देश नहीं किया है, किन्तु मेरी सम्मति में यह उसका उदाहरण है।

यह हम प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं कि किस प्रकार कवि ने मेघ को दूत बनाने का उपन्यास तथा विषय-वस्तु का उपसंहार अर्थान्तरन्यास के माध्यम से किया है। अब मुझे केवल इतना भर कहना है कि न केवल विषय-वस्तु के उपन्यास और उपसंहार में कवि ने इस अलंकार का सहारा लिया है अपितु सन्देशकाव्य के उद्देश्य तथा सन्देशकथन की विधि का भी ग्रथन इसी विधा में किया है—

कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सगमात् किञ्चिदून. ।—२।४० ।
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ।—२।४१ ।

मित्र का लाया हुआ प्रियतम का सन्देश संगम के समान होता है और वियोगी से पूछना केवल इतना भर है कि कुशल तो है। सम्भव है मेघदूत को पढकर सहृदयों को सन्देशकाव्य के इसी उद्देश्य (२।४०) की अनुभूति होती हो। अस्तु, मेघदूत के अर्थान्तरन्यास में इस काव्य का समग्र स्वारस्य और विशेष प्रयोजन छिपा है। निश्चित ही अर्थान्तरन्यास के इसी अनुपम शिल्प-विधान को दृष्टि में रख कर किसी सस्कृत कवि ने कहा है कि कालिदास मे उपमा से कही अधिक सुन्दर अर्थान्तरन्यास का प्रयोग है—

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ॥

अनुबन्ध

श्रीविद्याचक्रवर्तिप्रणीता

अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका

—संस्करण एवं अनुवाद—

अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका

विश्व[1] प्रकाशयति या जातिगुणाद्यात्मकैर्निजै. प्रसरैः ।
सस्कारगुणसमृद्धा वाणी मामवतु सरलसन्दर्भा ॥१॥

विभागाधिगत[2] त्रित्व त्रिशब्देन समाप्यते ।
त्रिप्रकारत्ववचन इतिशब्दस्ततो मत ॥२॥

पुनरुक्तवदाभासो (? सं) यत्रेत्येव हि सत्क्रिया ।
अलंकार्यैकनिघ्नत्वव्यक्तये[3] समुपाश्रिता ॥३॥

प्रकृष्टो वर्णविन्यासो रसाद्यनुगतस्तु यः ।
सोऽनुप्रासः स च च्छेकवृत्त्युपाधिवशाद् द्विधा ॥४॥

समुदायद्वयं यत्र विविध साम्यमृच्छति ।
सच्छेकलालनात् प्राज्ञैश्छेकानुप्रास ईरित· ॥५॥

व्यजनव्यापृतिर्वृत्तिर्वर्णानां रसगोचरा ।
तत्सयोगादिय वर्णरचना वृत्तिरिष्यते ॥६॥

सा वैदर्भ्यादिभेदेन त्रिधा पूर्वैर्निरूपिता ।
तयोपलक्षितत्वात्तु वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥७॥

यत्र तावेव शब्दार्थौ तात्पर्यं तु विभिद्यते[4] ।
तत् पौनरुक्त्यमाचार्यैर्लाटानुप्रास इष्यते ॥८॥

दोषापत्तिभयादेव शब्दैक्यं स्यादनन्वये ।
अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम् ॥९॥

---

१. विश्वं प्रकाशयति .. द्यात्मकै—नि० का० नास्ति ।
२. गत°—नि० का० ।
३. व्यक्तिः—म० ।
४. विभाव्यते—म० ।

अनुवाद

जो जाति, गुण आदि के रूप में अपने वितान से विश्व को प्रकाशित करती है, सस्कारगुण से समृद्ध सरल-सदर्भ वाली वह वाणी मेरी रक्षा करे ॥१॥

तीन [पौनरुक्त्य के तीन भेद] होने का ज्ञान [पौनरुक्त्य के] विभाग से मालूम पड जाता है, 'त्रि' शब्द से उसकी समाप्ति [सूचित] होती है अतः 'इति' शब्द तीन प्रकार को बताता है[1] ॥२॥

'जिसमें पुनरुक्तवत् आभास हो' इस प्रकार का सस्कार [बहुव्रीहि समास] अलकार्य [काव्य] के प्रति परतन्त्रता ध्वनित करने के लिए किया गया है ॥३॥

रसादि से अनुगत जो प्रकृष्ट वर्णविन्यास है वह अनुप्रास है। और वह छेक तथा वृत्ति की उपाधि के कारण दो प्रकार का होता है ॥४॥

जिसमें [व्यंजन-] समुदाय का युग्म अनेकधा सादृश्य प्राप्त करता है उसे छेक [विदग्ध] से लालित होने के कारण विद्वानो द्वारा छेकानुप्रास कहा जाता है ॥५॥

वर्णों का रसगोचर-व्यजन व्यापार वृत्ति है, उससे युक्त होने के कारण वर्णरचना को वृत्ति कहा जाना अभीष्ट है ॥६॥

उसे वैदर्भी आदि के भेद से प्राचीनों ने तीन प्रकार का बताया है। उस [त्रिविध वैदर्भी आदि वृत्ति] से उपलक्षित होने के नाते ही इसे वृत्त्यनुप्रास [कहा जाना] अभीप्सित है ॥७॥

जहाँ शब्द और अर्थ तो वे ही रहें किन्तु तात्पर्य भिन्न हो जाए उस पौनरुक्त्य को आचार्य लाटानुप्रास मानते हैं ॥७॥

अनन्वय में शब्दों की एकता दोषापत्ति [पुनरुक्ति] के डर से ही होती है किन्तु इस लाटानुप्रास में तो वह [शब्दों की एकता] साक्षात् ही स्वरूप [लक्षण] है ॥९॥

---

१. 'इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्य-प्रकाराः' इस अ०सू० १ में पौनरुक्त्य का तीन होना विभज्य वचन से पता चलता है। 'त्रयः' के 'त्रि' शब्दसे तीन प्रकार ही हो सकते हैं यह सूचित होता है अतः शेष 'इति' शब्द यहाँ प्रकार के अर्थ में आया है।

कर्णिकाया लिखेदेकं द्वौ द्वौ दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु पद्मबन्धो भवेदयम् ॥१०॥

आरोप्य लिपिवर्णानां साम्याद् वाचकवर्णताम् ।
खड्गबन्धादिकं चित्रं काव्यालंकार इष्यते ॥११॥

भेदाभेदतुलावृत्तौ[1] साधर्म्यमुपमोच्यते ।
धर्मविच्छित्तिवशतस्त्रैविध्यमुपयाति सा ॥१२॥

विरुद्धधर्मसंसर्गस्तुल्यान्तरनिवृत्तये ।
ततस्तदन्वयाभावाद् भवेदयमनन्वयः ॥१३॥

उपमानोपमेयत्वव्यत्यये न क्रमं[2] विना ।
उपमेयोपमा तेन वाक्यभेदैकगोचरा ॥१४॥

स्मृतिः सा स्मर्यते यत्र सदृशात् सदृशान्तरम् ।
असादृश्यादवाच्यत्वादितः प्रेयान् विभिद्यते ॥१५॥

यत् त्वभेदप्रधानं स्यात् साधर्म्यं तद् द्विधा मतम् ।
आरोपाध्यवसानाभ्यामारोपे रूपकं भवेत् ॥१६॥

वस्तुतो भेदसद्भावाच्छंकया[3] नातिशयोक्तिता ।
विषयस्यानपह्नुत्या[4] न चैतत्[5] स्यादपह्नुतिः ॥१७॥

ततो विषयि[6]रूपेण रूपवान् विषयो[7] यतः ।
आरोपणेन क्रियते तेनैतद् रूपकं मतम् ॥१८॥

भेदस्तृतीयो यस्त्वत्र परम्परितसंज्ञकः ।
साधर्म्येणैव तत्सिद्धि.[8] वैधर्म्येणापि दृश्यते ॥१९॥

विषय्यारोप्यते येन प्रतिस्वं विषयेषु तत् ।
भवेद् विषयसंख्यात्वं सख्यावेशे विधर्मिणः ॥२०॥

---

१. त्रिभेदा°—नि० का० ।
२. उपमानोपमेयत्वं व्यत्येन क्रमं विना—म० ।
३. शङ्कया—म० ।
४. °नभिपह्नुत्या—नि० का० ।
५. चैतत्—म० ।
६. विषय°—म० ।
७. °यी—म० ।
८. तत्सिद्धेः—म० । नि० का० नास्ति ।

कर्णिका [कमल के छत्ते] में एक [वर्ण] लिखे और दो-दो दिशाओं तथा विदिशाओं में। दिशाओ में प्रवेश तथा निर्गम होने पर यह पद्मबन्ध बन जाता है ॥१०॥

लिपि के वर्णों से साम्य होने के कारण [बन्ध में आने वाले] वर्णों मे वाचक होने का आरोप करके खंग-बन्ध आदि चित्र को काव्यालकार मान लिया जाता है ॥११॥

भेद और अभेद के तुलित होने पर समान धर्म से सम्बन्ध [साधर्म्य] उपमा कहलाती है। यह [साधारण] धर्म के वैचित्र्य [अनुगामितया निर्देश, वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से निर्देश तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश] के आधार से तीन प्रकार की हो जाती है ॥१२॥

द्वितीय सदृश की निवृत्ति के लिए विरुद्ध धर्म से संसर्ग [एक का ही उपमान और उपमेय होना] अन्वय [सम्बन्ध] के न होने से, अनन्वय है ॥१३॥

उपमान और उपमेय-भाव का व्यत्यय विना क्रम के नही होता है अतः उपमेयोपमा वाक्यभेद होने पर ही दिखाई देती है ॥१४॥

वह स्मृति [स्मरणालकार] है जहाँ सदृश से दूसरे सदृश का स्मरण हो, सादृश्य [-मूलक] न होने से और वाच्य न होने से प्रेयान् इससे भिन्न है ॥१५॥

जो साधर्म्य अभेदप्रधान होता है वह दो प्रकार का माना गया है—आरोप से और अध्यवसान से। आरोप होने पर रूपक होगा ॥१६॥

भेद के वस्तुत. रहने से [रूपक में] अतिशयोक्ति-स्वरूप की आशंका नही करनी चाहिए। और न यह [रूपक] अपह्नुति [अलकार] ही होगा क्योकि [इसमें] विषय का अपह्नव नही होता है ॥१७॥

अस्तु, विषयी के रूप से विषय को आरोप के द्वारा रूपवान् बना दिया जाता है अत इसे रूपक माना गया है ॥१८॥

इसका जो परम्परित नामक तीसरा भेद है उसकी सिद्धि साधर्म्य से है ही साथ ही [वह] वैधर्म्य से भी दिखाई देता है ॥१९॥

विषय पर एक-एक कर के चूंकि विषयी का आरोप होता है अतः विधर्मी की संख्या का आवेश होने पर विषय का संख्या-भाव बनेगा[1] ॥२०॥

---

१. 'कपिलाः दावाग्नयः'—दावाग्नियां कपिल (कपिल मुनि तथा कपिल वर्ण) हैं—यहाँ दावाग्नि पर कपिल मुनि का आरोप है। कपिल मुनि एक है अतः उसमें बहुवचन का प्रयोग दावाग्नि को एक-एक रूप में अनेक बार लेकर उपपन्न होता है—'अयमग्निः कपिलः, अयमग्निः कपिलः'।

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि ।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते ॥२१॥

विषय्याकारमारोप्य विषयस्थगन[1] यदा[2] ।
रूपकत्व तदा तत्र रजनेन समन्वयः ॥२२॥

यदा तु विषयी[3] रूपात् स्वस्मादप्रच्युतो भजेत्[4] ।
उपयुक्त्यै[5] पराकार[6] परिणामस्तदा मतः ॥२३॥

आरोप्यमाणः प्रकृते यदासावुपयुज्यते ।
परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य भिन्नता ॥२४॥

रूपमात्रसमारोपाद् रूपके रजको[7] ह्यसौ ।
व्यवहारसमारोपादिह स्यात् प्रकृतान्वयः ॥२५॥

[8]भवेदप्रस्तुतत्वेन[9] रूपके प्रकृतस्थिति ।
परिणामसमासोक्त्योर्ज्ञातिव्योऽस्माद् विपर्यय. ॥२६॥

उपादानानुपादानकृतो भेदस्तयोर्मिथ. ।
सन्देहोऽप्रकृतद्वारा प्रकृत सस्पृशेद् यदि ॥२७॥
प्रतिभोत्थापित. सोऽय सन्देहालकृतिर्मता ।
सादृश्योत्थापिता[10]भ्रान्तिर्यत्रासौ[11]भ्रान्तिमान् मत. ॥२८॥

नानाधर्मबलादेकं यदि नानेव गृह्यते ।
नानारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः ॥२९॥

---

१. विषयस्य गतं—म० ।
२. यदि—तरल, पृ० २२१ ।
३. विषयारोपात्—म० ।
४. भवेत्—म०, तरल, पृ० २२१ ।
५. °युक्ते म० । उपयुक्तौ, रत्नापण, पृ० ३७७ ।
६. पराकारः—तरल, पृ० २२१ ।
७. व्यञ्जको—स० ।
८. कारिकेयं नि०का० पुस्तके नास्ति ।
९. °प्रकृतत्वेन—म० ।
१०. कारिकायाः द्वितीयार्धं नि० का० पुस्तके नास्ति ।
११. यत्र स—स० ।

पूर्वतः सिद्ध रूपक यदि श्लेष का उत्थान करे तब रूपक ही होगा अन्यथा श्लेष माना जाता है ॥२१॥

विषयी के आकार का आरोप कर जब विषय का स्थगन होता है तब रूपकता होगी, यहाँ [प्रकृत का] उपरंजन करने से [रूपण का] सम्यक् सम्बन्ध है ॥२२॥

किन्तु जब विषयी अपने स्वरूप से प्रच्युत न होकर दूसरे के आकार को उपयोग के लिए धारण करता है तब परिणाम [अलकार] माना जाता है ॥२३॥

जब यह आरोप्यमाण [विषयी] प्रकृत का उपयोगी होता है तब परिणाम होता है अत. रूपक से इसकी भिन्नता है ॥२४॥

रूप-मात्र का समारोप होने के कारण वह [आरोप्यमाण] रूपक में उपरंजक होता है किन्तु इस [परिणामालंकार] में व्यवहार-समारोप होने के कारण [इसका] प्रकृत से अन्वय [सम्बन्ध] होता है ॥२५॥

रूपक में प्रकृत की स्थिति अप्रस्तुत के रूप में रहती है इसी से परिणाम और समासोक्ति का विपर्यय समझ लेना चाहिए ॥२६॥

इन दोनों [परिणाम और समासोक्ति] का परस्पर भेद [आरोप्यमाण का] उपादान और अनुपादान होने से होता है ।

यदि सन्देह अप्रकृत के माध्यम से प्रकृत का स्पर्श करता है[1] (२७) तो वही [कवि की] प्रतिभा से उत्थापित होकर संदेहालकार माना जाता है ।

सादृश्य से उत्थापित भ्रान्ति जिसमें हो वह भ्रान्तिमान् माना जाता है ॥२७-२८॥

अनेक धर्म के बल से यदि एक अनेक की भाँति गृहीत हो तो अनेक रूपों का उल्लेख रहने से उल्लेख नामक अलकार माना जाता है ॥२९॥

---

१. जहाँ हिन्दी भाषा की दृष्टि से वाक्य पूरा नहीं होता किन्तु कारिका की कोई संख्या पूर्ण हो जाती है वहाँ संख्या को कोष्ठक ( ) में दिया गया है ताकि कारिका की संख्या की समाप्ति बताई जा सके । कारिका की संख्या पुनः वाक्य के अन्त में सूचित कर दी गई है ।

यदेकं तद्धि नानेति गृह्यते रूपभेदत:[१] ।
रुच्यादिवशतो लोके नानात्वं चेदकृत्रिमम्[२] ॥३०॥
अतद्रूपस्य ताद्रूप्यान्न ह्यसौ भ्रान्तिरिष्यते ।
न चाप्यतिशयोक्ति: स्यादभेदे भेदरूपिणी ॥३१॥
आद्ये नानेकधात्वं स्याज्ज्ञातृभेदो[३] न चान्तिमे ।
विषयज्ञातृभेदाभ्यां विना नोल्लेखसम्भव. ॥३२॥
यद्यपि श्लेषतो बाधो न तथाप्यस्य निह्नव: ।
अनपेक्ष्यापि[४] यच्छ्लेषं तत्रैव स्थातुमर्हति ॥३३॥
प्रकृत यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुति: ।
नञा[५] छलादिशब्दैश्च सा शब्दान्तरतस्त्रिधा[६] ॥३४॥
स्याद् भेदाभेदतुलया विच्छित्तिरुपमादिका[७] ।
रूपकादिस्त्वभेदांशे मुख्ये त्वारोपसंश्रयात्[८] ॥३५॥
उत्प्रेक्षादिरभेदेन वक्ष्यतेऽध्यवसायभाक् ।
यदायमुपमानांशो[९] लोकत· सिद्धिमृच्छति ॥३६॥
तदोपमैव येनेवशब्द साधर्म्यसूचक: ।
यदा पुनरयं लोकादसिद्ध: कविकल्पित: ॥३७॥
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्द: सम्भावनापर: ।
गुणक्रियादिसबन्धात्[१०] प्रकृतेऽप्रकृतात्मना ॥३८॥
सम्भावनं स्यादुत्प्रेक्षा वाच्येवाद्यै: परान्यथा ।
जातिक्रियागुणद्रव्योत्प्रेक्षात् सा चतुर्विधा ॥३९॥
भावाभावाभिमानत्वे जात्यादे: साष्टधा पुन: ।
गुणक्रियानिमित्तत्वे ज्ञेया षोडशधा तथा[११] ॥४०॥

---

१. धर्म°—म० । २. भ्रम°—म० । ३. भेदेन भान्ति मे—म० ।
४. °पयैव°—म० । ५. नञु—म० । ६. तथा—म० ।
७. °दित:—म० । ८. चारोपसंभवात्—म० ।
९. यदायमुपमानांशो . .. न पुन: कविमोत्तमाभेदे भेदो न सिध्यति । एते श्लोका म० पुस्तके नोपलभ्यन्ते । १०. °क्रियाभि°—स० ।
११. °निमित्तत्वे ..तथा—नि० का० नास्ति ।

जो एक है वह लोक में रूप-भेद से अनेक के रूप में रुचि आदि के कारण गृहीत होता है—यदि अनेकत्व अकृत्रिम [स्वाभाविक या सहज] हो ।।३०।।

[भ्रान्तिमान् में] अतद्रूप की तद्रूपता होने के कारण, इस [अलकार] को भ्रान्ति नही माना जा सकता है और न अतिशयोक्ति ही जो अभेद में भेद-रूपा होती है ।।३१।।

प्रथम [भ्रान्तिमान् अलंकार] अनेकधा-रूप नही होता है और अंतिम [अतिशयोक्ति अलंकार] में ज्ञाता का भेद नही रहता है; उल्लेख [अलंकार] विषय तथा ज्ञाता के भेद के बिना सम्भव नही है ।।३२।।

यद्यपि [उल्लेखालंकार का] श्लेष से बाध होता है पर इसका निह्नव नही होता है क्योकि श्लेष की अपेक्षा किए विना भी [अर्थात् जहाँ श्लेष नहीं भी है] यह [अलकार] रह सकता है ।।३३।।

प्रकृत का निषेध कर जो दूसरे [अपकृत] की सिद्धि है वह अपह्नुति है। नञ्, छलादि शब्द या [इसी प्रकार के] दूसरे शब्द के आधार से यह [अपह्नुति] तीन प्रकार की है ।।३४।।

उपमादि की विच्छित्ति भेद और अभेद के समान रहने पर होगी किंतु रूपक आदि अभेदांश के मुख्य रहने पर आरोप का आधार लेकर होता है ।।३५।।

अभेद के द्वारा [अभेद की स्थिति में] अध्यवसाय से होनेवाले उत्प्रेक्षा आदि अलकार का निरूपण किया जाएगा ।

जब उपमान का अंश लोकसिद्ध होता है (३६) तब उपमा ही होती है और इसलिए उपमाका 'इव' शब्द सादृश्य का सूचक होता है । किन्तु जब यह लोक से असिद्ध [अर्थात्] कविकल्पित होता है (३७) तब उत्प्रेक्षा ही होती है और इसलिए 'इव' शब्द सम्भावनापरक होता है। गुण क्रिया आदि के सम्बन्ध से प्रकृत में अप्रकृत-रूप की (३८) सभावना उत्प्रेक्षा होगी, जो 'इव' आदि के रहने से वाच्या अन्यथा दूसरी [प्रतीयमाना] है । जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य के उत्प्रेक्षण से वह चार प्रकार की है ।।३६-३९।।

पुनश्च जाति आदि का भावाभिमान [भावात्मक संभावन] तथा अभावाभिमान होने से वह आठ प्रकार की तथा गुण एवं क्रिया की निमित्तता होने से सोलह प्रकार की जाननी चाहिए ।।४०।।

द्वात्रिंशच्च निमित्तस्योपादानादन्यथा स्थितेः।
हेतौ स्वरूपे चोत्प्रेक्ष्ये फले षण्णवतिः पुनः ॥४१॥
द्रव्ये हेतुफलात्मत्वासभवात् तद्भिदा च्युतिः।
तथा प्रतीयमानाया[1] निमित्तस्यानुपग्रहः ॥४२॥
नापि स्वरूप तैर्भेदैस्तस्मान्न्यूना भवेदियम्।
क्वचिच्छ्लेषेण धर्मांशगतेनैषा[2] न बाध्यते ॥४३॥
उपमोपक्रमाप्येषा भवेत् सापह्नवापि च।
अभेदाध्यवसायो हि फले[3]ऽतिशयनामनि[4] ॥४४॥
न पुनः फलिनोस्तत्राभेदे[5] भेदो न सिध्यति।
प्रस्तुतेष्वथवान्येषु[6] ज्ञातव्या तुल्ययोगिता ॥४५॥
गुणक्रियाभिसम्बन्धात् समानादन्विताथिका[7]।
दीपक वास्तवौपम्य प्रकृताप्रकृताश्रयम् ॥४६॥
आदिमध्यान्तवाक्येषु क्रियाकारकभेदतः[8]।
असकृद् धर्मनिर्देशा[9] इवादेरनुपग्रहे[10] ॥४७॥
प्रतिवस्तूपमा ज्ञेया प्रतिवाक्यार्थसाम्यतः।
बिम्बानुबिम्बन्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम् ॥४८॥
दृष्टान्तालकृतिर्ज्ञेया भिन्नवाक्यार्थसंश्रया।
सम्भवन्[11]वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्[12]वावबोधयेत् ॥४९॥

---

१. °या°—स० ।
२. धर्मांशे ग°—नि० का० ।
३. °शयनादिह—रत्नापण, पृ० ३९८ ।
४. नामानि—नि० ।
५. फलिलोऽस्त्वत्र—तरल, पृ० २३७ ।
६. प्रकृते°—म० ।
७. °थिता—म० ।
८. म० पुस्तके कारिकायाः प्रथमाशो नोपलभ्यते ।
९. °निर्देशात्—म० ।
१०. °ग्रहात्—म० ।
११. पंचमम्—म० । १२. नाव°—म० ।

निमित्त के उपादान अथवा अन्यथा स्थिति [अर्थात् अनुपादान] से बत्तीस प्रकार की और हेतु, स्वरूप तथा फल की उत्प्रेक्षा रहने से छयानवे प्रकार की होती है ॥४१॥

द्रव्य का हेतुरूप तथा फलरूप होना सभव नही है अत. इन भेदो के निकल जाने से साथ ही प्रतीयमाना [उत्प्रेक्षा] में निमित्त का उपादान नहीं होता है (४२) और न स्वरूप का अत. इन भेदों से यह [उत्प्रेक्षा] न्यून होती है। किसी धर्मांश में विद्यमान श्लेष से इस [श्लिष्टशब्दहेतुका उत्प्रेक्षा] का बाध नहीं होता है ॥४२-४३॥

यह [उत्प्रेक्षा] उपमोपक्रमा [उपमा से प्रारम्भ होनेवाली] और सापह्नवा भी होती है।

अभेदेन अध्यवसाय अतिशय नामक फल से होता है (४४) न कि फलवान् [वस्तुओं] से[1] क्योंकि [ऐसा मानने पर अतिशयोक्ति का एक अन्य भेद] 'अभेद होने पर भेद' सिद्ध नही हो पाता। प्रस्तुत अथवा इतर [अप्रस्तुत] मे तुल्ययोगिता जाननी चाहिए ॥४४-४५॥

गुण और क्रिया का समान [तुल्य] सम्बन्ध [योग] के रहने से इसका अर्थ अन्वित [इसकी सज्ञा चरितार्थ] है।

प्रकृत और अप्रकृत पर आश्रित वास्तविक औपम्य [समानधर्म से सबन्ध] दीपक है (४६) जो वाक्य के आदि, मध्य या अंत में क्रिया और कारक के भेद से होता है।

धर्म का असकृत् निर्देश होने पर, इव आदि का उपादान न होने पर (४७) प्रतिवस्तूपमा जाननी चाहिए जो प्रति वस्तु [वाक्य] में अर्थ-साहश्य रहने से होती है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब के न्याय से धर्म और धर्मी का निर्देश (४८) दृष्टान्त अलकार जानना चाहिए जो भिन्न वाक्यों के अर्थ पर आश्रित होता है।

वस्तु का सम्भव या असम्भव सम्बन्ध यदि प्रतिबिम्ब का बोध (४९)

---

१. मुख और कमल में (फलवान्) अभेदाध्यवसाय नहीं होता है अपितु मुख के वस्तुसौन्दर्य का कविसमर्पित चन्द्र के साथ अभेदाध्यवसाय होता है। यदि ऐसा नही मानते तो अतिशयोक्ति का एक अन्य भेद 'अभेदे भेदः' जिसका सामान्य लक्षण अभेदाध्यवसाय है, सम्भव न हो सकेगा क्योंकि दो वस्तुओं (फलवान्) में अभेद संभव नहीं है। इसके पूर्व अतिशयोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करनेवाली एक या आधी कारिका होनी चाहिए थी।

प्रतिबिम्बं यदि तदा निर्ज्ञातव्या निदर्शना ।
बिम्बानुबिम्बार्थतया वाक्ययोः प्रकृतान्ययोः ॥५०॥
स्यान्नैरपेक्ष्ये[1] दृष्टान्तः सापेक्षत्वे निदर्शना ।
भेदप्रधाने[2] साधर्म्ये व्यतिरेको विधीयते ॥५१॥
आधिक्याद्उपमेयस्य न्यूनत्वाद् वोपमानतः ।
गुणप्रधानभावो य. शाब्दस्तेन भिदोत्कटा ॥५२॥
सम्श्रितातिशयोक्तिं च सहोक्तिः समयोर्मता ।
सदसत्त्वनिवृत्ति[3]श्चेन्निवृत्त्यान्यस्य वर्ण्यते ॥५३॥
तदा द्विधा विनोक्तिः स्याद् विधिरत्र फल भवेत् ।
अप्रस्तुत[4] प्रतीत चेद् भेदकाशैक्यसाम्यत ॥५४॥
व्यवहार [5]स्वमारोप्य प्रस्तुते न्यग्भवत्यथ ।
तेनाप्रस्तुतवृत्तान्तारोपेण प्रस्तुतं स्वयम् ॥५५॥
सक्षेपेणोच्यते तस्मात् समासोक्तिरियं मता ।
स्याद् विशेष्याशसाम्यं चेत् प्रस्तुताकाररूपितम् ॥५६॥
भवेदप्रस्तुतं भेद्यं रूपकालंकृतिस्तदा ।
स्यादौपम्यसमासेन समासोक्तिर्विनिश्चये ॥५७॥
स्यात् सकरसमासेन समासस्य तु सशये ।
न रूपकसमासस्य प्राप्तावस्याः प्रवर्तनम् ॥५८॥
रूपकादर्थससिद्धेरेकदेशविवर्तिनः ।
विशेषणाशसाम्येनाप्रस्तुतार्थस्य गम्यता ॥५९॥
समासोक्तिर्मता येन सक्षिप्यार्थोऽभिधीयते ।
शुद्धकार्यसमारोपे साम्य[6] स्यादौपचारिकम् ॥६०॥

---

१. नान्यैरपेक्ष्यो—म० ।
२. भेदप्रधाने साधर्म्ये.........सहोक्तिः समयोर्मता—इयानंशो म० नास्ति ।
३. निवृत्तिम्—म० ।
४. अप्रस्तुतं प्रतीतं चेद्......रूपकाद्यर्थसंसिद्धेरेकदेशविवर्तिनः—म० नास्ति ।
५. समा°—नि० का० ।
६. कार्यम्—नि० का० ।

कराए तो निदर्शना समझनी चाहिए।

बिम्ब तथा प्रतिबिम्बभाव से प्रकृत तथा इतर [अप्रकृत] दो वाक्यों में अपेक्षा न रहने पर दृष्टान्त और अपेक्षा रहने पर निदर्शना होती है ॥५०॥

भेदप्रधान साधर्म्य होने पर व्यतिरेक [अलंकार] का विधान (५१) उपमान से उपमेय के आधिक्य अथवा न्यूनता में होता है।

[इस सहोक्ति[1] अलंकार में] जो शब्द गुणप्रधान-भाव [तृतीयान्त शब्द गौण और अन्यविभक्तिक शब्द प्रधान होता है, सह शब्द के उपादान से यह गुण-प्रधान-भाव शाब्द या शब्दतः उपात्त माना जाता है] होता है उसी से भेद की प्रधानता होती है ॥५१-५२॥

सहोक्ति अतिशयोक्ति पर आश्रित है और दो समान मे मानी जाती है।

सत्त्व [शोभनता] तथा असत्त्व [अशोभनता] की निवृत्ति यदि दूसरे की निवृत्ति द्वारा वर्णित होती है (५३) तो दो प्रकार की विनोक्ति होगी। इसका फल [शोभन का] विधान होगा।

भेदक अंश [विशेषण] से साम्य के कारण जहाँ अप्रस्तुत गम्य हो (५४) और अपने व्यवहार का समारोप कर प्रस्तुत के प्रति गौण बना रहे तो अप्रस्तुत के वृत्तान्त का आरोप करते हुए स्वयं प्रस्तुत (५५) की संक्षेप [समास] मे उक्ति होती है अतः इसे समासोक्ति कहा जाता है। यदि विशेष्य अंश में साम्य प्रस्तुत के आकार से रूपित है (५६) और अप्रस्तुत भेद्य है तो रूपकालंकार होता है। औपम्य-समास के द्वारा विनिश्चय की स्थिति में समासोक्ति होती है ॥५३-५७॥

समास के संशय की स्थिति मे संकरसमास से यदि रूपकसमास प्राप्त है तो इस समासोक्ति की प्रवृत्ति नही होती है। (५८) क्योंकि एकदेशविवर्ति रूपक से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

विशेषण अंश में साम्य से अप्रस्तुत अर्थ का प्रतीयमान होना (५९) समासोक्ति मानी जाती है जिससे संक्षेप [समास] में अर्थ का अभिधान हो जाता है [समासेन—संक्षेपेण उक्तिः]। शुद्ध कार्य का समारोप रहने पर साम्य औपचारिक [अवास्तव] होता है (६०) क्योंकि व्यवहार का समारोप ही इस [अलंकार] का साक्षात् घटक है।

---

1. यहाँ भी सहोक्ति का लक्षण करने वाली कारिका आवश्यक थी।

व्यवहारसमारोपः साक्षादस्यां प्रयोजकः ।
स्याद् विशेषणसाम्यं चेत् समासान्तरसंश्रयात्[1] ।।६१।।

उपमा बाधते नैनामेकदेशविवर्तिनी ।
दृश्यतेऽर्थान्तरन्यासः[2] समर्थ्ये[3] च समर्थके ।।६२।।

उत्प्रेक्षायोगिनी चैषा क्वचित् स्यादेककालगा ।
विशेषणानां व्यङ्ग्यार्थगर्भीकरणलक्षणा[4] ।।६३।।

सोत्प्राशता परिकरो[5] व्यङ्ग्यः परिकरो यत.[6] ।
शब्दसाम्य[7] भवेच्छ्लेषो विशेषणविशेष्ययो ।।६४।।

यद्येकोऽप्रकृतोऽर्थश्चेद् भेद्याशे भिन्नशब्दता ।
शब्दार्थोभयनिष्ठोऽय सर्वालंकारबाधकः ।।६५।।

पूर्वसिद्धस्य चेदङ्गस्तदा न्यायेन बाध्यते ।
अप्रस्तुतप्रशसा तु प्रस्तुतावगमोऽन्यतः ।।६६।।

सा सामान्यविशेषादिविच्छित्त्या पंचधा मता ।
भवेत् साधर्म्यवैधर्म्ययोगतः सा पुनर्द्विधा[8] ।।६७।।

सम्भवेऽसंभवे द्वैधे वाच्यस्याथ पुनस्त्रिधा ।
प्रस्तुस्तस्यावगम्यत्वात् पर्यायोक्ताद् विभिद्यते ।।६८।।

इयमर्थान्तरन्यासाद् दृष्टान्तालकृतेरपि ।
समर्थ्यत्वेन निर्दिष्टः प्रकृतो यः समर्थ्यते ।।६९।।

---

१. समासान्तैरसंश्रया—म० ।
२. °न्यासे—म० ।
३. सामर्थ्ये—म० ।
४. °नभःकरण°—म० ।
५. परिकरे—म० ।
६. मतः—म० ।
७. शब्दसाम्यं भवेत् . . सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरष्टधा—इत्येष कारिकांशो म० पुस्तके नास्ति ।
८. त्रिधा—म० ।

यदि समासान्तर का आश्रय लेकर [अर्थात् रूपक-समास को छोड़कर] विशेषण साम्य बनता है तो (६१) एकदेशविवर्तिनी उपमा[1] इस [अलंकार] की बाधक नही होती है। समर्थ्य या समर्थक [वाक्य] में अर्थान्तरन्यास [इस समासोक्ति अलकार में] दिखाई देता है [अर्थात् समासोक्ति कही कही अर्थान्तर-न्यास के योग में भी होती है] ।।६१-६२।।

यह उत्प्रेक्षागर्भित भी होती है और कही [उत्प्रेक्षा और समासोक्ति की प्रतीति] एक काल में वर्तमान रहती है।

विशेषणों का साभिप्राय होना—प्रतीयमान अर्थ को गर्भीकृत करना—(६३) परिकर है, चूंकि इसमें व्यङ्ग्य रहता है [अतः इसका परिकर नाम सार्थक है]।

विशेषण और विशेष्य का शब्द-साम्य श्लेष है (६४) यदि एक अर्थ अप्रकृत है तो विशेष्य अश मे शब्द भिन्न होता है।

शब्द, अर्थ और उभय मे रहनेवाला यह [अलकार] सभी अलकारो का बाधक है ।।६३-६५।।

यदि यह [श्लेष] किसी पूर्वसिद्ध [अलंकार] का अंग है तो न्यायतः बाधित होता है।

अन्य [अर्थात् अप्रस्तुत] से प्रस्तुत की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशसा है ।।६६।।

यह सामान्य-विशेषभाव आदि की विच्छित्ति से पाँच प्रकार की मानी गई है। साधर्म्य और वैधर्म्य के योग से [सारूप्यहेतुका] यह [अप्रस्तुतप्रशसा] दो प्रकार की है ।।६७।।

वाच्यार्थ के सम्भव, असम्भव और उभयरूप होने से इसके तीन भेद और होते हैं। प्रस्तुत के प्रत्येय होने के कारण पर्यायोक्त से (६८) और अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त अलंकार से भी यह भिन्न है।

समर्थ्य के रूप में निर्दिष्ट प्रकृत का यह जो समर्थन किया जाता है(६९)

---

१. जहाँ उपमा या रूपक का साधक या बाधक प्रमाण नहीं है वहाँ औपम्य-गर्भ समास करने पर तो समासोक्ति होती है और रूपक-गर्भ समास करने पर समासोक्ति न होकर रूपक (एकदेशविवर्ति) होता है।

सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरष्टधा ।
पर्यायोक्तं तु कार्यादिद्वारा गम्यस्य वर्णनम् ॥७०॥

अप्रस्तुतप्रशंसातो वाच्यस्य प्रस्तुतोर्भिदा[1](?) ।
व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिर्व्याजस्तुतिद्वयम् ॥७१॥

अप्रस्तुप्रशंसातः स्तुतिनिन्दात्मिका भिदा ।
निषेधाभास[2] आक्षेपः प्रकृतस्येष्टसिद्धये ॥७२॥

स उक्तविषये वस्तुतदुक्त्योर्वारणात्मक ।
वक्ष्यमाणे पुनस्त्वन्यो ज्ञेय आगूरणात्मकः ॥७३॥

सामान्यतो विशेषो[3]ऽशादशश्चेत्येष च द्विधा ।
इष्टोऽर्थोऽस्य निषेधोऽस्य बाधोऽथातिशयध्वनिः ॥७४॥

चतुष्टयमिद ज्ञेय सम्भूयाक्षेपकारणम् ।
अनुक्तस्य निषेधस्य विध्याभासेन सूचनम् ॥७५॥

आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष सम्मतः ।
विरोधस्तु तदाभासो [4]जात्याद्यर्थसमाश्रयः ॥७६॥

तद्वैचित्र्याद् दशविधो विषयैक्ये[5] व्यवस्थितः ।
प्रसिद्धकारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना ॥७७॥

कार्योत्पादनवैशिष्ट्याद्[6] द्विधा चेय निमित्ततः ।
कार्यांशस्य[7] यदा भावाभावौ वक्तुमपेक्षितौ ॥७८॥

विभावनाविशेषोक्त्योस्तदा सन्देहसङ्करः ।
विशेषोक्तिर्भवेत् कार्यानुत्पत्ति· सति कारणे ॥७९॥

---

१. °भिधा—नि० का० ।

२. निषेधाभास आक्षेपः .....आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष सम्मतः । —इयानशो म० पुस्तके नोपलभ्यते ।

३. विशेषांशादंशः—नि० का० ।

४. ज्ञाप्याद्यर्थ°—म० ।

५. विषयोऽन्ते—म० ।

६. °वैचित्र्याद्—म० ।

७. कार्यांशस्य .....तदा सन्देहसंकरः ।—म० पुस्तके नोपलभ्यते ।

वही अर्थान्तरन्यास है, सामान्यादि (के भेद) से यह आठ प्रकार का है।

कार्य आदि के द्वारा गम्य का वर्णन पर्यायोक्त है ।।६८-७०।।

इसका अप्रस्तुतप्रशसा से भेद प्रस्तुत के भी वाच्य रहने से है।

व्याजस्तुति दो प्रकार की है—व्याज से [स्तुति] तथा व्याजरूप स्तुति ।।७१।।

इसका अप्रस्तुतप्रशसा से भेद स्तुति-निन्दा के स्वरूप से है।

प्राकरणिक अर्थ की इष्टसिद्धि [विशिष्ट प्रतीति] के लिए निषेधाभास आक्षेप है ।।७२।।

यह [आक्षेप] उक्तविषयक के सम्बन्ध [भेद] में वारणात्मक होता है और वक्ष्यमाण के सम्बन्ध में उसका जो दूसरा भेद है वह आपूरणरूप होता है ।।७३।।

सामान्य से विशेष का और अश से [दूसरे] अंश का निषेध इसप्रकार से भी यह [आक्षेपालकार] दो प्रकार का है। इष्टार्थ, उसका निषेध, उसका बाध तथा अतिशय-ध्वनि (७४) ये चार मिलकर आक्षेप के हेतु हैं। अनुक्त निषेध का विध्याभास द्वारा सूचन (७५) वक्ष्यमाण-विषयक आक्षेप माना जाता है।

विरोध [अलंकार] वह है जिसमें उसका आभास हो। यह जाति आदि अर्थों पर समाश्रित है (७६) और उसके वैचित्र्य के आधार पर दस प्रकार का माना गया है। इसमें विषय की एकता आवश्यक है [विषयभेद होने पर तो असंगति अलंकार होगा]।

प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति विभावना है ।।७३-७७।।

कार्योत्पत्ति के वैशिष्ट्य से निमित्त [के उक्त अथवा अनुक्त होने] के कारण यह दो प्रकार की [उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता] है। जब कार्यांश का भाव या अभाव बताना अपेक्षित होता है (७८) तो विभावना और विशेषोक्ति का सन्देहसंकर होता है।

कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना विशेषोक्ति होती है ।।७८-७९।।

अत्रैकगुणहान्या[1] तु साम्यदार्ढ्यमलक्षणम् ।
कार्यकारणयोर्यौ[2] तु कालसाम्यविपर्ययौ ॥८०॥

अन्या[3] त्वतिशयोक्ति: सा विरोधाशोपजीवनात् ।
कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसगति: ॥८१॥

अभेदाध्यवसायादिविच्छित्त्या दृश्यते च सा ।
विरूपानर्थयोर्हेत्वो[4]रुत्पत्तिर्विषम मतम् ॥८२॥

तथा [5]विरूपघटना[6] तेनेद त्रिप्रभेदकम्[7] ।
सरूपयो. संघटना समालकार इष्यते ॥८३॥

श्लाघ्याश्लाघ्यत्वयोगेन द्वौ[8] भेदावस्य सम्मतौ ।
प्रयत्नस्तु विचित्रं[9] स्याद् विपरीतफलाप्तये ॥८४॥

निषेधतो वैपरीत्याद् विषमालंकृतेर्भिदा ।
अनानुरूप्यमधिकमाश्रयाश्रयिणोर्मतम् ॥८५॥

आश्रयाश्रयिवैपुल्यवशतो द्विप्रभेदकम् ।
क्रियाजननमन्योन्यमन्योन्यालकृतिर्मता ॥८६॥

अनाधारादिभेदेन[10] विशेषोऽपि त्रिधा मत: ।
यथा साधनमेकेन तथैवान्येन बाधनम्[11] ॥८७॥

व्याघातोऽथ विरुद्धस्य सौकर्येण क्रिया तथा ।
कार्यकारणमालाया[12] प्राच प्राच: पर परम् ॥८८॥

एकावल्या यथापूर्व भेदक [13]तूत्तरोत्तरम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते चैव तेनेयं द्विविधा मता ॥८९॥

---

१. त्रुटितोऽत्र म० पुस्तकपाठ: ।
२. °योस्तुल्यौ—म० ।
३. °प्यति°—म० ।
४. हेतोरु°—नि० का०, स० ।
५. त्रिरूपघटना—म० ।
६. °घटनात्—नि० का० ।
७. त्रिषु वेदनम्—म० ।
८. द्वि°—म० ।
९. विचित्र:—म० ।
१०. अनाधारादिभेदेन..... तथैवान्येन बाधनम् । —म० पुस्तके नास्ति ।
११. साधनम्—नि० का० ।
१२. °मालाया:—नि० का० ।
१३. चो°—म० ।

एक गुण की हानि होने से साम्य की दृढ़ता इस [अलंकार] का स्वरूप नही है [रुय्यक के अनुसार ऐसी स्थिति मे रूपक होगा, विशेषोक्ति नही]।

कारण और कार्य की समकालता मे तथा [पूर्वापरभाव के] विपर्यय में (८०) दूसरे प्रकार की [कार्यकारणभावमूलक] अतिशयोक्ति होती है। यह विरोधाश से उपजीवित होती है [अर्थात् इसमें कार्यकारणभाव विरुद्ध रहता है]।

कारण और कार्य के भिन्न देश में होने पर असगति होती है ॥८०-८१॥

यह अभेदाध्यवसाय आदि की विच्छित्ति से [भी] होती है।

हेतु से विरूप [कार्य] और अनर्थ की उत्पत्ति तथा विरूप की सघटना विषम माना जाता है (८२) इस प्रकार यह [विषमालंकार] तीन प्रकार का है।

सरूप[वस्तुओं]की सघटना समालकार के रूप मे अभीप्सित है ॥८२-८३॥

श्लाघ्य योग और अश्लाघ्य योग से इसके दो भेद माने गए हैं।

विपरीत फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न विचित्र [अलकार] होता है ॥८४॥

निषेध से विपरीतभाव [की प्रतीति] होने से इसका [प्रथम] विषमालकार से भेद है।

आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता अधिक [नामक अलकार] है। (८५) आश्रय और आश्रयी की [एक दूसरे की अपेक्षा] विपुलता के कारण इसके दो भेद है।

क्रिया द्वारा एक दूसरे का जनन अन्योन्य अलंकार माना गया है ॥८५-८६॥

अनाधार आदि के भेद [आधेय का अनाधार होना, एक परिमित वस्तु का अनेकधा पाया जाना, असभाव्य वस्त्वन्तर का निष्पादन] से विशेष [अलंकार] तीन प्रकार का माना गया है।

एक किसी के द्वारा जिस प्रकार साधन हो उसी प्रकार दूसरे के द्वारा बाध हो (८७) तो व्याघात [अलंकार] होता है। और सुकरता के साथ [कार्य के] विरुद्ध क्रिया भी व्याघात है।

कारणमाला [अलंकार] मे पूर्व-पूर्व कार्य उत्तरोत्तर का हेतु बन जाता है ॥८८॥

एकावली [अलंकार] में एक के बाद आनेवाला दूसरा-दूसरा [उत्तरोत्तर] क्रमशः पहले-पहले आनेवाले का विशेषण बनता है जिसकी या तो स्थापना होती है या निवृत्ति, इस प्रकार यह [एकावली] दो प्रकार की है ॥८९॥

मालादीपकमाद्यावस्योत्तरोत्तरदीपनम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षाबहृत्वे सार इष्यते ॥९०॥

काव्यलिंगं तु हेतुत्वेनोक्तिर्वाक्यपदार्थयोः ।
नायमर्थान्तरन्यासो हेतोः शाब्दत्वसश्रयात् ॥९१॥

अनुमान तु साध्याय साधनस्योपवर्णना ।
तत्संकीर्णत्वशुद्धत्वविच्छित्त्यान्यविलक्षणम्[1] ॥९२॥

अप्रतीतप्रतीतौ स्यादनुमानव्यवस्थितिः ।
पदार्थाद् वाथ वाक्यार्थान्निर्देशे सति हेतुतः ॥९३॥

समर्थन प्रतीतस्य काव्यलिङ्गद्वय मतम्[2] ।
भवेदर्थान्तरन्यासस्ताटस्थ्ये हेतुभावतः ॥९४॥

कार्यकारणभावे तु तस्योक्तं लक्षणान्तरम् ।
प्रागुक्तानामनुक्तैस्तु[3] संबन्धः क्रमिको[4] यदा ॥९५॥

यथासंख्य तथा शाब्दमार्थं चेति द्विधा मतम् ।
पर्याय एकोऽनेकस्मिन्नेकत्रानेक इत्यपि ॥९६॥

द्विधा क्रमवशादेतौ न विशेषसमुच्चयौ ।
नेय विनिमयाभावात्[5] परिवृत्तिर्भिदास्त्विह[6] ॥९७॥

चतस्रोऽनेकरूपस्य[7] पृथक् संघातवर्तनात् ।
पृथक् संघातवृत्तित्वादनेकोऽर्थो द्विधा स च ॥९८॥

आधाराधेयभावस्थश्चतस्रोऽस्य भिदास्ततः ।
परिवृत्तिर्विनिमयस्त्रिधा सेयं समादिभि. ॥९९॥

परिसंख्या त्वनेकत्र प्राप्तस्यैकत्र यन्त्रणम् ।
चतुर्धा प्रश्नवर्ज्योक्त्योर्भावाभावादियं[8] मता ॥१००॥

---

१. कारिकेयं म० पुस्तके नास्ति ।
२. °लिंगाख्यं मतः—म० ।
३. °क्तैः—म० ।
४. क्रमकोविदाः—म० ।
५. विनिगमा°—नि० का० ।
६. वदास्त्विह—म० ।
७. चतस्रोऽनेकरूपस्य......सेयं समादिभिः । —म० नास्ति ।
८. भावा°—म० पुस्तके नास्ति ।

पूर्व-पूर्व [पहले आने वाले] के द्वारा उत्तरोत्तर का उत्कर्षनिबन्धन [दीपन] मालादीपक [अलकार] होता है।

[पूर्व-पूर्व की अपेक्षा] उत्तरोत्तर के उत्कर्षावह होने पर सार [नामक अलकार] होता है ॥९०॥

वाक्य अथवा पदार्थ का हेतु रूप मे वचन काव्यलिग है। यह अर्थान्तर-न्यास नही है क्योकि इसमे हेतु श्रौत बनकर आता है ॥९१॥

साध्य के लिए साधन का वर्णन अनुमान [अलंकार] है। यह [दूसरे अलकारो से] सकीर्ण तथा असंकीर्ण [शुद्ध] होने के वैचित्र्य से दूसरे [तर्कानुमान आदि] से भिन्न है ॥९२॥

अप्रतीत की प्रतीति में अनुमान [अलकार] मान्य है; पदार्थ अथवा वाक्यार्थ से हेतुरूप मे निर्देश होने पर (९३) प्रतीत का समर्थन दो प्रकार का काव्यलिंग [अलकार] माना जाता है। [जहाँ वाक्यार्थ] तटस्थरूप में उपन्यस्त होकर हेतुभाव प्राप्त करता है वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है ॥९३-९४॥

कार्यकारण-भाव की स्थिति मे उस [काव्यलिंग] का [उद्भट ने] दूसरा ही लक्षण दिया है।

जहाँ प्राक् निर्दिष्ट [वस्तुओं] का पश्चात् निर्दिष्ट [अनुक्त वस्तुओं] के साथ क्रमशः सम्बन्ध हो (९५) वहाँ यथासंख्य [अलकार] होता है, वह शाब्द तथा आर्थ [अनुनिर्देश] के रूप मे दो प्रकार का माना गया है।

एक का अनेक [आधार] में और अनेक का एक [आधार] में (९६) क्रमशः रहना दो प्रकार का पर्याय माना जाता है। क्रम के कारण विशेष और समुच्चय से [पर्याय अलंकार के] ये दो भेद भिन्न हैं। विनिमय न रहने से परिवृत्ति [अलकार] से भी इसका भेद है ॥९५-९७॥

अनेकार्थ के पृथक् रूप में तथा संहत [एक साथ] रूप में रहने से दो भेद हैं (९८) और उसके आधार तथा आधेय में रहने से चार भेद होते हैं।

विनिमय परिवृत्ति [अलंकार] है, सम आदि [अधिक, न्यून] से [सम, न्यून, अधिक का विनिमय होने से] वह तीन प्रकार का है ॥९८-९९॥

अनेकत्र प्राप्त का एक में नियमन परिसंख्या है। प्रश्न तथा बर्जनीयता के रहने तथा न रहने से यह चार प्रकार की है ॥१००॥

न[1] परं युगपत्प्राप्तिः पक्षेऽपि प्राप्तिरिष्यते ।
परिसंख्यानियमयोरतो[2]ऽत्रालौकिकी स्थितिः ॥१०१॥

अर्थापत्तिस्तु [3]कैमुत्येनान्यार्थापत्तिरिष्यते ।
प्रकृताप्रकृतापातादियं च द्विविधा मता ॥१०२॥

विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पः सन्निपातिनोः ।
अश्लेषश्लेषभित्तित्वाद्[4] द्विधायमुपवर्ण्यते[5] ॥१०३॥

गुणक्रियायौगपद्ये[6] त्रिविधः स्यात् समुच्चय ।
एकक्रियायामन्यस्य क्रिया त्वन्यः समुच्चय.[7] ॥१०४॥

सदसद्द्वैधयोगेन[8] स त्रिधा सव्यवस्थित: ।
समाधि· सम्यगाधान कारणान्तरयोगत· ॥१०५ ।

तदीयस्य तिरस्कार. प्रत्यनीकमशक्तित ।
उपमानस्य [9]कैमर्थ्यादुपमेयस्य[10] कल्पनात् ॥१०६॥

द्विधा प्रतीपं[11] क्वाप्येतदुपमानत्वतोऽपि च ।
निजेनागन्तुना[12] वापि लक्षणेनान्यगोपनम् ॥१०७॥

निमीलिताख्योऽलकारो द्विप्रकार. प्रकाशित: ।
[13]प्रस्तुतस्यान्यतादात्म्य सामान्य गुणसाम्यत. ॥१०८॥

---

१. न वरम्—म० ।
२. °रतन्त्रा—म० ।
३. कैमुत्यन्यायार्था°—म०, कैमुत्येन्यार्थापात्—स० ।
४. सश्लेषाश्लेष°—म० ।
५. °मुपपद्यते—म० ।
६. यौगपद्यै:—नि० का० ।
७. एकक्रियायामन्यक्रियात्वमेकः समुच्चयः—म० ।
८. सदसद्भेदयोगेन द्विविधस्समुपस्थितः—म० ।
९. कैमर्थक्याद्—स० ।
१०. °मेवत्वकल्पना—म० ।
११. प्रतीपमाक्षेप उपमान°—म० ।
१२. निजेनागन्तुना वापि......याथा बुद्धया परेऽन्यथा—म० पुस्तके नास्ति ।
१३. प्रस्तुतेनान्य—नि० का० ।

न केवल युगपत्-प्राप्ति अपितु पाक्षिकी प्राप्ति भी अभीष्ट होने से परिसंख्या तथा नियम का स्वरूप इस [अलंकारशास्त्र] मे विलक्षण [अलौकिक, या मीमांसाशास्त्र से भिन्न] है ॥१०१॥

स्पर्धा-भाव से दूसरे अर्थों का [स्वतः] आ पडना अर्थापत्ति मानी जाती है। प्रकृत और अप्रकृत अर्थ के आपतन से यह दो प्रकार की है ॥१०२॥

दो समान बल वालों के एक साथ होने पर विरोध विकल्प [अलंकार] है। श्लेष के बिना और श्लेष के आधार से होने के कारण इसे दो प्रकार का बताया जाता है ॥१०३॥

गुण तथा क्रिया की [व्यस्त तथा समस्त रूप में] एक साथ स्थिति तीन प्रकार का समुच्चय [अलंकार] है।

एक की क्रिया में अन्य की भी क्रिया [एक के साधक हेतु होने पर किसी दूसरे का स्पर्धा पूर्वक साधक बन जाना] द्वितीय समुच्चय [अलकार] है ॥१०४॥

शोभन, अशोभन तथा इन दोनो के योग से यह तीन प्रकार का माना गया है।

किसी दूसरे कारण के सहयोग से सम्यग् आधान [कार्य की सुकर सम्पन्नता] समाधि [नामक अलंकार] है ॥१०५॥

सामर्थ्य का अभाव होने से [विरोधी] के सम्बन्धी का तिरस्कार प्रत्यनीक [अलंकार] है।

उपमान की अनुपयोगिता [अर्थात् उपमान के आक्षेप] से तथा (१०६) [उपमान की] उपमेय-कल्पना से प्रतीप [अलंकार] दो प्रकार का है। [उत्कृष्ट गुण वाला होने पर भी उपमेय की] उपमानरूपता से भी यह [अलंकार] होता है।

सहज अथवा आगन्तुक लक्षण के द्वारा [एक वस्तु से] दूसरी का गोपन (१०७) निमीलित नामक अलंकार है जो दो प्रकार का माना गया है।

प्रस्तुत का अन्य [अर्थात् अप्रस्तुत] के साथ गुणसाम्य के कारण तादात्म्य सामान्य [नामक अलंकार] है ॥१०६-१०८॥

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः[1] ।
न तद्गुणोऽननुहारस्तु गुणताद्रूप्ययोर्द्विधा ।।१०६।।

प्रश्नोह् उत्तर तस्माद् गूढ चासकृदुत्तरम् ।
आकृतव्यजिकाश्चेष्टा[2] इगित बुद्धिकारिता. ।।११०।।

आकारः[3] पुनराम्नातस्ताः एवाबुद्धिकारिताः ।
तारापुटभ्रूदृष्ट्यादेर्विकारानिगित[4] विदुः ।।१११।।

आकाराः सात्वजा[5] भावा आद्या[6] बुद्धया परेऽन्यथा ।
सूक्ष्मं तु[7] सूक्ष्मं संलक्ष्य विदग्धेषु प्रकाशनम् ।।११२।।

इगिताकारतः सूक्ष्मसलक्षणमिति द्विधा ।
व्याजोक्तिर्व्याजवचनेनोद्भिन्नस्य निगूहनम् ।।११३।।

अपह्नवाय सादृश्य इष्टा[8] नापह्नुतिर्यत ।
अन्यथायोजन[9] वाक्ये वक्रोक्तिरभिधीयते ।।११४।।

द्विप्रकारा च विज्ञेया काकुश्लेषसमाश्रयात् ।
स्वभावोक्तिर्बुधोन्नेयवस्तुस्वाभाव्यवर्णनम्[10] ।।११५।।

अथ प्रतीतिवैचित्र्यतारतम्यनिरूपणैः ।
भाविक [11]दूरदुर्लक्ष व्यक्त व्याक्रियतेतमाम् ।।११६।।

योऽय[12] प्रत्यक्षवद्भावस्त्वतीतानागतार्थयोः ।
तद्भावबिम्बनाच्चित्ते विनिवेशाच्च भाविकम् ।।११७।।

---

१. °दुरकृष्टस्य—स० ।
२. आकृतिव्यञ्जिताश्चेष्टाः—रत्नापण, पृ० ४६५ ।
३. आकाराः पुनराम्नाताः—नि० का०; म० ।
४. तारकापुटदृष्ट्यादेः—स० प्र० पृ० ३७८ ।
५. सात्त्विकाः—सं० प्र० पृ० ३७८ ।
६. पूर्वे—सं० प्र० पृ० ३७८ ।
७. तु—म० पुस्तके नास्ति ।
८. इत्थं—म० ।
९. अन्यथानयनं—म० ।
१०. बुधैर्नेय°—स० ।
११. दूरदुर्लक्ष्यम्—म० ।
१२. योऽयं प्रत्यक्षवद्भावः..... ......व्याकरणशिल्पस्य निकषः स मे धीमान् भविष्यति—म० नास्ति ।

अपने गुण का त्याग करके अत्यन्त उत्कृष्ट गुण का स्वीकार तद्गुण [नामक अलंकार] है।

गुण तथा ताद्रूप्य का स्वीकार न करना दो प्रकार का अतद्गुण [नामक अलंकार] है ॥१०९॥

[उत्तर से] प्रश्न का उन्नयन तथा गूढ असकृत् उत्तर देना उत्तर [नामक अलकार] है।

आकृत [हृदय के भाव] को जताने वाली बुद्धिपूर्वक की गईं चेष्टाएँ इगित कहलाती है ॥११०॥

यदि वे ही बुद्धिपूर्वक नहीं होती तो आकार कही जाती हैं। तारापुट, भ्रकुटि तथा दृष्टि आदि के विकारों को इगित मानते है ॥१११॥

आकार सात्त्विक भाव हैं, पहले [इगित] बुद्धि से होते हैं तो दूसरे [आकार] अन्यथा [अबुद्धिपूर्वक] होते है। सूक्ष्म [अर्थ] का अनुसधान कर उसका विदग्ध लोगो के प्रति प्रकाशन सूक्ष्म [नामक अलकार] है ॥११२॥

इगित तथा आकार के कारण सूक्ष्म का सलक्षण होता है अत यह दो प्रकार है।

उद्भिन्न [वस्तु] का व्याच-वचन से गोपन व्याजोक्ति [नामक अलकार] है (११३)। अपह्नव करने के लिए जो सादृश्य होता है उसमें चूँकि अपह्नुति नही मानी जाती है अत. व्याजोक्ति अपह्नुति अलकार से भिन्न है।

[भिन्न अभिप्राय से कहे गए] वाक्य की अन्यथा योजना वक्रोक्ति कही जाती है ॥११३-११४॥

काकु तथा श्लेष का आश्रय लेने से इसे दो प्रकार का समझना चाहिए।

विदग्ध [व्यक्ति] द्वारा संवेद्य वस्तु के स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति [अलंकार] है ॥११५॥

अब प्रतीति के वैचित्र्य का तरतम बताते हुए बडी कठिनता से परिभाषित हो सकने वाले भाविक को स्पष्टता के साथ निरूपित किया जा रहा है ॥११६॥

अतीत और अनागत अर्थों का यह जो प्रत्यक्ष-सा होना है वह चित्त मे भाव के बिम्बित होने तथा विनिवेश के कारण भाविक [अलकार] है ॥११७॥

नाविपर्ययतो[1] भ्रान्तिः साक्षात्त्वान्नेतिवृत्तकम् ।
अन्यत्वानध्यवसितेर्न चात्रातिशयोक्तिता ॥११८॥

न पर वर्तमानार्थधर्मः प्रत्यक्षतेष्यते ।
प्रतिपत्त्रनपेक्षायां प्रत्यक्षत्वपरिक्षयात् ॥११९॥

प्रत्यक्षत्वे च[2] सामग्री भावनाद्भुतवस्तुजा ।
प्रत्यक्षत्व न सम्भाव्यमिह नोत्प्रेक्षणं तत. ॥१२०॥

अलिंगलिंगिभावाच्च काव्यलिंग न चेष्यते ।
ताटस्थ्यात्[3] स्फुटसवित्तेर्न तदा रसवद्भ्रम. ॥१२१॥

पश्चात् साधारणीभावे रसवांस्तन्निमित्तक. ।
स्फुटत्वान्न स्वभावोक्तिर्लोकोत्तीर्णस्य वस्तुन· ॥१२२॥

स्वभावोक्ते रसवतो भेदः सवादभेदत. ।
न प्रसादगुणश्चैतद् यस्मादौत्तरकालिकम् ॥१२३॥

वास्तवेऽपि च सौन्दर्ये योग्यत्वादस्य सम्भवः ।
चिरन्तनानुरोधात् तु तथा व्यक्त न कीर्तितम् ॥१२४॥

भाविके बुद्धिसवादो मया स्याद् यदि कस्यचित् ।
व्याख्याशिल्पस्य निकष. स मे धीमान् भविष्यति ॥१२५॥

उदात्तं तु समृद्धस्य वस्तुनः कविवर्णनम् ।
अङ्गयन्तरङ्गतापन्न[4] महच्चरितलक्षणम् ॥१२६॥

द्वितीयोदात्तविषयो व्याप्तो रसवदादिभिः ।
रसभावगुणीभावादनौचित्यप्रवृत्तितः ॥१२७॥

---

१. नापि पर्यायतो—नि० का० ।
२. स्वसाग्रमीभावना भूतवस्तुजा—नि० का० ।
च साग्रमीभवनाद् भूतवस्तुजा—स० ।
पाठद्वयमप्यशुद्धमपार्थं चास्तीति पाठान्तरमत्र योजितम् ।
३. ताटस्थ्यास्फुट°—स० ।
४. अङ्गयरङ्गतापन्नं...त्रिधा तु संकरः शब्दार्थकृत्यो रेकवाचके ।
—म० नोपलभ्यते ।

विपर्यय [विपरीत-बुद्धि] न होने से यह [भाविक-प्रतीति] भ्रान्ति नही है और साक्षात्कारिता [अनुभूति की प्रत्यक्षता] के कारण यह इतिवृत्त भी नहीं है। इसमे अतिशयोक्ति का स्वरूप भी नही है क्योंकि अन्यरूप मे अध्यवसाय [अर्थात् निश्चय-ज्ञान] नही होता है ॥११८॥

इसमे प्रत्यक्षता भी मानना अभीष्ट नही है क्योकि अर्थ का वर्त्तमान होना उस [प्रत्यक्षता] का धर्म है। प्रतिपत्ता की अपेक्षा न रहने पर प्रत्यक्षता समाप्त हो जाती है ॥११९॥

[भाविकालकार मे अतीत और अनागत अर्थों के] प्रत्यक्षभाव में अद्भुत वस्तु से उत्पन्न होने वाली भावना ही सामग्री [करण] है। चूंकि इसमें प्रत्यक्ष का अध्यवसाय नही होता है [अर्थात् अप्रत्यक्ष की प्रत्यक्ष के रूप मे सम्भावना नही होती है] अत उत्प्रेक्षा भी नही है ॥१२०॥

गम्यगमकभाव न होने से काव्यलिंग भी मानना अभीष्ट नही है। [भाविक की प्रतीति में] तटस्थता [अहम् और इदम् की भिन्न प्रतीति] होने से स्फुटरूप में [अर्थात् एक दूसरे का भेद स्पष्ट बना रहता है] अनुभूति होने से रसवद् का भी भ्रम [भाविकालकार में] नही हो सकता है ॥१२१॥

साधारणीभाव हो जाने के पश्चात् उसके निमित्त से रसवत् होता है।

अलौकिक वस्तु के स्फुट होने से यह स्वभावोक्ति भी नही है [स्वभावोक्ति मे वस्तु लौकिक होती है भाविक में लोकोत्तीर्ण] ॥१२२॥

स्वभावोक्ति और रसवत् का भेद सवाद-भेद के आधार पर होता है [स्वभावोक्ति में वस्तु-सवाद होता है और रसवत्‌मे हृदय-संवाद] यह [भाविकालकार] प्रसाद गुण भी नही है क्योकि यह उत्तरकालिक है। प्रसाद गुण द्वारा उपस्थापित अर्थों के ज्ञान के बाद ही भाविक की अनुभूति का जन्म होता है ॥१२३॥

[लोकोत्तीर्ण या अद्भुत मे नही अपितु] वास्तव सौन्दर्य में भी यह [अलंकार] अपनी शक्ति के कारण सभव है किंतु प्राचीन [परम्परा] का अनुरोध स्वीकार कर इस स्वरूप को स्पष्टत. [हमने] नही बताया है ॥१२४॥

भाविक [अलकार] के सम्बन्ध में किसी दूसरे व्यक्ति की समझ का यदि मेरे साथ मेल हो जाए तो वह मनीषी मेरे व्याख्या-शिल्प की कसौटी बनेगा ॥१२५॥

समृद्ध वस्तु का कवि द्वारा [प्रातिभ] वर्णन उदात्त [नामक अलकार]है।

महापुरुष का अगभाव को प्राप्त चरित (१२६) द्वितीय उदात्त [अलंकार] का विषय है जो रसवत् आदि [अलंकारो] से व्याप्त है।

रस, और भाव के गुणीभाव से तथा अनुचित रूप में प्रवृत्ति से (१२७)

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितचतुष्टयम् ।
रसवत्त्वप्रियत्वाभ्यामूर्जःप्रशमयोगतः ।।१२८।।

निबन्धनं रसवदाद्याख्यां संप्रतिपद्यते ।
स्थितिप्रशमवद् भावस्योदयः सन्धिरेव च ।।१२९।।

शाबल्य तु गुणीभावे पृथक् पृथगलक्रिया ।
तिलतण्डुलनीत्या सश्लेष ससृष्टिरिष्यते ।।१३०।।

सा शब्दार्थोभयगतैरलकारैस्त्रिधा मता ।
अगागिभावात् सन्देहात् प्रवेशादेकवाचके ।।१३१।।

त्रिधा तु सकरः शब्दालकृत्योरेकवाचके ।
शब्दन्यासो विषमविषमो[1] दुर्घटार्थव्यवस्था ,
[2]व्याप्त्यव्याप्तिप्रकटनपटुर्न्यायचर्चा[3] गभीरः ।
इत्थ भूम्ना[4] रुचकवचसा विस्तरः कर्कशोऽयं ,
टीकास्माभिः[5] समुपरचितानेन[6] संजीविनीयम् ।।१३२।।

[7]सूक्ष्मामव्याकुलामत्र शास्त्रयुक्त्युपबृंहिताम् ।
मीमासामुपजीवन्तु कृतिनः काव्यतान्त्रिकाः ।।१३३।।

काव्यप्रकाशेऽलकारसर्वस्वे च [8]सचेतसाम् ।
[9]अस्यादरो जगत्यस्मिन् व्याख्यातमुभयं तत[10] ।।१३४।।

।। समाप्तेयं श्रीविद्याचक्रवर्तिकृता अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका ।।

---

१. विषयविषमो दुर्लभार्थ°—म० ।
२. व्याप्तिः व्याप्त°—म० ।
३. °प्रकटनपरम्—स० ।
४. भीमो—म० ।
५ किंवास्माभिः—म० ।
६. तेन—स० ।
७. कारिकैषा नि० का० नास्ति ।
उपलभ्यते—म०, स०, सं० प्र० ।
८ विपश्चिताम्—म० ।
९. येनादरो महांस्तेन—स०, सं० प्र० ।
अस्यादराज्जगत्यस्मिन्—एवमपि पाठः स० पुस्तके लिपिकेन कृतः ।
अलंकारजगत्यस्मिन्—म० ।
१०. सह—म०, सं० प्र० । स० पुस्तकेऽपि पाठोऽयं लिपिकेनैकत्र स्वीकृतः ।

रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वी, समाहित, ये चार [अलकार] होते हैं ।

रसवत्ता, प्रियता, ऊर्ज [बल], और प्रशम के योग से (१२८) निबन्धन [क्रमशः] रसवत् आदि [प्रेयः, ऊर्जस्वी तथा समाहित] संज्ञा प्राप्त करता है । स्थिति और प्रशम की भाँति, भाव का उदय तथा सन्धि (१२९) और शबलता, गुणीभाव की स्थिति में भिन्न-भिन्न अलकार हैं ।

तिल-तण्डुल की भाँति सश्लेष समृष्टि [अलकार] माना जाता है ॥१२९-१३०॥

यह शब्द, अर्थ तथा उभय के अलकारो से [सश्लिष्ट होने के कारण] तीन प्रकार का माना गया है ।

अगागिभाव से, सन्देह से, एक वाचक में अनुप्रवेश से (१३१), [इस प्रकार] शब्दालकारो के एक वाचक मे रहने से सकर तीन प्रकार का होता है ।

शब्दों का विन्यास कठिन से भी कठिन है, अर्थों की योजना दुरूह है, व्याप्ति और अव्याप्ति को बताने मे निपुण गहरी न्याय-चर्चा है, इस प्रकार रुचक का यह वाग्-विस्तार कर्कश है । इसीलिए हमने यह सजीविनी टीका बनाई है ॥१३२॥

इस [टीका] की सूक्ष्म, विशद तथा शास्त्रीय युक्तियो से समृद्ध मीमासा का कृती काव्यशास्त्री सहारा लें ॥१३३॥

काव्यप्रकाश तथा अलकारसर्वस्व का इस जगत् में सहृदय अत्यन्त आदर करते है अतः दोनो की व्याख्या हमने की है ॥१३४॥

॥ इति श्रीविद्याचक्रवर्ति-कृत अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका ॥

संस्करण में प्रयुक्त विशिष्ट संकेताक्षर

नि० का०—निष्कृष्टार्थकारिका जो त्रिवेन्द्रम से प्राप्त हस्तलिखित प्रति के अन्त में दी हुई है ।

म० —मैसूर पुस्तकालय से प्राप्त हस्तलिपि जो प्रायः अशुद्ध थी ।

स० —सञ्जीविनी, यूनिवर्सिटी मैनस्क्रप्ट्स लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम से प्राप्त हस्तलिपि जिसके अन्त में निष्कृष्टार्थकारिका दी हुई है ।

स० प्र० —सम्प्रदायप्रकाशिनी ।

टिप्पणी—इन पाण्डुलिपि के विशिष्ट विवरण के लिए लेखक द्वारा सम्पादित अलंकारसर्वस्व तथा संजीविनी का संस्करण द्रष्टव्य है ।

अलंकारानुक्रमणिका

अलकार-भेदों को मूल अलंकार के माध्यम से ही सूचित किया गया है। उद्धरण तथा टिप्पणी के अलकार एकत्र उल्लिखित है। किसी अलकार-भेद के स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकृति होने पर उसका पृथक् निर्देश कर दिया गया है।

अ

भ

जयदेव, पीयूषवर्षी —चन्द्रालोक, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९३९ ।
जयरथ —विमर्शिनी (अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी), निर्णयसागर प्रेस, १९३९ ।
,, —विवेक (तन्त्रालोकटीका), तत्त्वविवेचक मुद्रणालय, बम्बई ।
जल्हण —सूक्तिमुक्तावली, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९३८ ।
तिलक —विवृति (काव्यालकारसारसग्रह-टीका), ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, १९३१ ।
दण्डी —काव्यादर्श, सम्पादक वी० नारायण अय्यर, मद्रास-१ ।
धनजय तथा धनिक —दशरूपक तथा अवलोक, बम्बई संस्करण ।
नरेन्द्रप्रभ सूरि —अलकारमहोदधि, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा, १८४२ ।
नमिसाधु —वृत्ति (रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका), निर्णयसागर प्रेस, १९२८ ।
प्रतिहारेन्दुराज —लघुवृत्ति (काव्यालंकारसग्रह-टीका), निर्णयसागर प्रेस, १९२८ ।
भट्टगोपाल —साहित्यचूडामणि (काव्यप्रकाशटीका), अनन्तशयन-संस्कृत-ग्रन्थावलि, १९२६, १९३० ।
भट्टनायक —हृदयदर्पण (अप्राप्य) ।
भट्ट, देवशकरपुरोहित —अलकारमजूषा, ओरियन्टल मैनस्क्रप्टस् लाइब्रेरी, उज्जैन ।
भरत —नाट्यशास्त्र, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा ।
भर्तृहरि —वाक्यपदीय, सरस्वतीभवन ग्रंथमाला वाराणसी, १९६३ ।
भामह —भामहालंकार (काव्यालंकार), बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९५६ ।
भोजराज (भोजदेव) —सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ।
मखक —श्रीकण्ठचरित, निर्णयसागर सस्करण ।
मम्मट —काव्यप्रकाश, (वामनाचार्य झलकीकर की टीका), पूना ।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

इस सूची में काव्य, नाटक आदि को सम्मिलित नहीं किया गया है। काव्यप्रकाश जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों के विभिन्न सस्करणों मे से एक-दो का ही उल्लेख किया गया है।

संस्कृत

अप्पय्यदीक्षित —चित्रमीमासा, काव्यमाला ३८, १९४१।

,, —कुवलयानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५६।

अभिनवगुप्त —ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९४०।

,, —अभिनवभारती, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, १९५४।

आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९४०।

उद्भट —काव्यालंकारसारसंग्रह, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, १९३१।

,, —काव्यालकारसग्रह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८।

कल्हण —राजतरगिणी।

कविकर्णपूर —अलकारकौस्तुभ, राजशाही, १९२६।

कुन्तक —वक्रोक्तिजीवित, स० डा० दे, ढाका, १९२७।

कुमारस्वामी —रत्नापण, (प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका), गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९०९।

केशवमिश्र —अलकारशेखर, काशी सस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९२७।

क्षेमेन्द्र —औचित्यविचारचर्चा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९।

,, —कविकण्ठाभरण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९।

जगन्नाथ, पंडितराज —रसगंगाधर, काशी संस्करण तथा काव्यमाला १२, निर्णयसागर प्रेस, १९१६।

मम्मट —काव्यप्रकाश, अनन्तशयन सस्कृत-ग्रन्थावलि, न० ८८, १००, सन् १९२६, १९३०।

" —काव्यप्रकाश (दशम उल्लास), एस० एस० सुखथकर (सपादक), कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई-२।

" —काव्यप्रकाश, ओरियन्टल बुक ऐजेन्सी, पूना २।

मल्लिनाथ —तरल (एकावली-टीका), बम्बई सस्कृत एन्ड प्राकृत सीरीज, न० ६३, बम्बई, १९०३।

महिमभट्ट —व्यक्तिविवेक, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९३६ तथा त्रिवेन्द्रम सस्कृत सीरीज न० ५, १९०९।

माणिक्यचन्द्र —काव्यप्रकाशसकेत, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, नं० ८९, १९२१।

मुकुलभट्ट —अभिधावृत्तिमातृका, काव्यमाला सस्करण।

राजशेखर —काव्यमीमासा, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, १९२४।

रुद्रट —काव्यालकार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८।

रुय्यक —अलकारसर्वस्व, निर्णयसागर प्रेस, १९३९।

" —अलकारसर्वस्व, अनन्तशयन सस्कृत ग्रन्थावलि ४०, त्रिवेन्द्रम।

" —अलकारसर्वस्व, शारदासस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, १९२६।

" —काव्यप्रकाशसकेत, कलकत्ता ओरियन्टल जर्नल, भाग २, सख्या १२, १९३५।

" —व्यक्तिविवेकव्याख्यान (व्यक्तिविवेकविचार), काशी सस्करण तथा त्रिवेन्द्रम सस्करण।

" —सहृदयलीला, निर्णयसागर प्रेस, १९३७। (तथा पिशेल सम्पादित)।

" —साहित्यमीमासा, त्रिवेन्द्रम, १९३४।

वाग्भट —वाग्भटालकार, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, २०१३ सवत्।

वामन —काव्यालकारसूत्रवृत्ति, काव्यमाला, १९२६।

" —काव्यालकारसूत्रवृत्ति, स० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९२२।

विद्यानाथ —प्रतापरुद्रयशोभूषण, गवर्नमेण्ट सैन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १६०६।

विद्याधर —एकावली, बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, न ६३, १६०३।

विश्वनाथ, कविराज —साहित्यदर्पण, निर्णयसार प्रेस, १६३६।

विश्वेश्वर —अलकारकौस्तुभ, काव्यमाला संस्करण।

व्यास —अग्निपुराण (अलकारप्रकरण), साहित्यदर्पण का परिशिष्ट, निर्णयसागर प्रेस, १६३६।

शोभाकर —अलकाररत्नाकर, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १६४२।

श्रीवत्सलाञ्छन —काव्यपरीक्षा, मिथिलाविद्यापीठ, दरभगा, १६५६।

श्रीविद्याचक्रवर्ती —सम्प्रदायप्रकाशिनी, (काव्यप्रकाश-टीका) भाग १-२। अनन्तशयन संस्कृत ग्रथावलि, न० ८८, त्रिवेन्द्रम, १६३६

" —विरूपाक्षपचाशिकाटीका, त्रिवेन्द्रम, १६१०।

समुद्रबन्ध —समुद्रबन्धव्याख्या (अलकारसर्वस्वटीका), अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि, न० ४०, त्रिवेन्द्रम।

हेमचन्द्र —काव्यानुशासन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३४।

पाण्डुलिपियां[1]

जयरथ —अलकारोदाहरण, भण्डारकरप्राच्यविद्यासस्थान, पूना, (देखिए—डिस्क्रिप्टिव कैटलाग, जिल्द १२)।

श्रीविद्याचक्रवर्ती —अलकारसर्वस्वनिष्कृष्टार्थकारिका।

" —सजीविनी, यूनीवर्सिटी मैनस्क्रप्टस् लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम, तथा पाण्डुलिपि पुस्तकालय, मैसूर।

हिन्दी

उपाध्याय, बलदेव —भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रसादपरिषद्, काशी, २००५ संवत्।

ओम्प्रकाश —हिन्दी अलकारसाहित्य, भारतीय साहित्यमन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, १६५६।

---

१. अलंकारसर्वस्व तथा अलंकारविमर्शिनी के आदर्शग्रंथों की सूची लेखक द्वारा सम्पादित अलंकारसर्वस्व में देखिए।

दासगुप्त, श्रीशशिभूषण—उपमा कालिदासस्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२।

नगेन्द्र (सम्पादक) —भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

नगेन्द्र (सम्पादक) —हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली।

पोद्दार, कन्हैयालाल —संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम तथा द्वितीय भाग, नवलगढ, १९३८।

विश्वेश्वर (आचार्य) —हिन्दी ध्वन्यालोक, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२।

शर्मा, ब्रह्मानन्द —संस्कृत साहित्य मे सादृश्यमूलक अलकारो का विकास, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४।

शास्त्री, ओम्प्रकाश —रीतिकालीन अलकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, हिन्दी साहित्य ससार, दिल्ली-७, १९६५।

Bhandarkar, A S. —Is Arthāntaranyāsa based on Tark or not ?

Bhattacharya, S P. —Rasābhāsa in Alaṅkāra Literature, Calcutta Oriental Journal, Vol II. No 10, July, 1935

De, S.K —History of Sanskrit Poetics, Vol. I-II, London, 1923, 1925

Duncan M Derret —The Hoysalas, Oxford University Press, 1957

Gode, P K —The Problem of the Classification of Alaṅkāras, Annals of B O. R. I., Vol. II, 1921, pp. 69-72.

Gonda, J —Remarks on Similes in Sanskrit Literature.

Hiriyanna, M. —Art Experience, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1954.

Iyer, K.A.S —Prauḍhokti in Alaṅkāraśāstra, Journal of Oriental Research, Madras, Vol. 16, pp. 20-30.

Jacobi, H. —Über Begriff und wesen Der Poetischen Figuren in derindischen poetik, Nachri-cheten von der kgl, Gesell

	Schaft der wissenschaften, Gotingen, Philolog Histor Klasse 1908; and Die Poetik und Aesthetik der Inder in der Internat Wochenschhrift, 29th Okt, 1910.
Kane, P.V.	—History of Sanskrit Poetics, Bombay, 1951.
,,	—The Sāhityadarpana of Viśvanātha.
Keith, A B	—History of Sanskrit Literature, Oxford University Press, 1924.
Lahiri, P C.	—Concept of Rīti and Guṇa in Sanskrit Poetics, The University of Dacca, 1937
Nobel, J.	—Foundations of Indian Poetry, Calcutta, 1925.
Pandey, K C	—Comparative Aesthetics, Vol. I. ed. I. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Benaras.
Raghavan, V. (ed)	—New Catalogous Catalogorum.
,,	—Śṛṅgāraprakāśa, Karnataka Publishing House, Bombay, 1940.
,,	—Studies on some Concepts of the Alaṅkāraśāstra, Adyar Library, Madras, 1942.
Regnand, P.	—La Rhetorique Sanskrite, Paris. 1884.
Sankaran, A	—Some Aspects of Literary Criticism, University, Madras, 1929.
Shastri, Kuppuswami	—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit. Kuppuswāmī Śāstrī Research Institute, Madras.
Sowani, V.V S	—The History and Significance of Upamā, Annals, B. O. R. I. 1919-20, pp 87-98.
,,	—Pre-dhvani Schools of Alaṅkāra, Bhandarkar Commemoration Vol. I. p. 267.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	अन्तिम दो	विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपणक्रम	विकास तथा श्रेणीविभाग
१२	१८	में रुय्यक	रुय्यक
१६	२७	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
३२	२४	अनन्तशनम्	अनन्तशयनम्
४१	१२	प्रतन्यने	प्रतन्यते
४२	१९	परवती	परवर्ती
७२	२६	तरस	तरल
७५	१६	समुन्द्रबन्ध	समुद्रबन्ध
७७	१	समुन्द्रबन्द	समुद्रबन्ध
७९	४	अ० सा०	अ० स०
७९	२१	अनेकथा	अनेकधा
७९	२८	अ० अ०	अ० स०
८०	२	विच्छित	विच्छित्ति
८०	१४	गुर्जर	दक्षिण
१००	१५	भित्युक्तम्	मित्युक्तम्
१००	२१	खण्ड ३	खण्ड, १
"	२४	मामह	भामह
"	२४	ऋत्क	ऋक्थ
१०३	२६	Dandin	Daṇḍin
"	२७	Bhamaha	Bhāmaha
१०६	३	कल्पान्तस्थायि	कल्पान्तरस्थायि
११२	२२	गम्यमान मान	गम्यमान
११२	२३	वही	काव्यालकार
१२२	४	रूपकमुम्यते	रूपकमुच्यते
१२३	२२	...भर्वा	. र्भावि
१४४	अन्तिम	१.	४.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	२२	परवर्ती अलंकार	परवर्ती स्वतन्त्र अलंकार
१४६	२५	व्यतिरेक	अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक
१५१	५	हेतु०	हेतु ७
१५३	८	प्रेयस्वत्	प्रेयः, रसवत्
१६३	१६	सर ·	सार ·
१७५	१८	पद्यबन्ध	पद्मबन्ध
१७५	२४	ऐकात्यप्रतीति	ऐकात्म्य-प्रतीति
१७५	२७	मुरजवन्ध, पद्यवन्ध	मुरजबन्ध, पद्मबन्ध
१८५	११	उमेयोपमा	उपमेयोपमा
१८८	२५	सनभते	समभते
१८८	२६	निश्चत	निश्चित
१६३	१६	भावशवलता	भावशबलता
२०६	२८	भंसि	यंमि
२४२	२	कियारूप	क्रियारूप
२४५	१२	अतिशयिसु .	अतिशयितसु...
२७०	२	अन्नर्भाव	अन्तर्भाव
२७७	२१	. भ्रमेषु	..भ्रंमेषु
२८६	१८	ग्रहीतृभेद	गृहीतृभेद
३०६	१०	...वुत्प्रेक्षाया	...वुत्प्रेक्षायाः
३२२	२१	अप्रतुतो	अप्रस्तुतो